

भारतीय मुक्तक परम्परा

डॉ० रामसागर त्रिपाठी

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186336

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^{H 800-1} T 53 B Accession No. H-3684
Author त्रिपाठी, रामसागर
Title भारतीय मुक्तक परम्परा

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारतीय मुक्तक परम्परा

ऋग्वेद से बिहारी के समय तक की मुक्तक
परम्परा का व्यापक अध्ययन

लेखक

डा० रामसागर त्रिपाठी एम० ए०, पी०एच०डी०

साहित्याचार्य एवं व्याकरणाचार्य

प्राध्यापक एस०जी०टी०बी०के० कॉलेज

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली ।

प्रकाशक : अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली ।
 मूल्य : रु० ७.५०
 प्रथम संस्करण : १९६०
 पृष्ठ संख्या : १६० + ८ = १६८
 मुद्रक : पाईनियर काइन आई प्रेस तथा शिवजी प्रेस, दिल्ली ।

भूमिका

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार भारतीय उदात्त वृत्ति का अधिगम सर्वाधिक रूप में मुक्तक-काव्य परम्परा में ही होता है। चिर-अतीत में वैदिक-साहित्य में काव्य शब्द का प्रयोग अनेकशः आया है और सर्वत्र काव्य शब्द से मुक्तक-काव्य ही अभिप्रेत रहा है। प्रबन्ध और मुक्तक का विभाजन तो बहुत बाद की वस्तु है। राजशेखर ने लिखा है कि काव्याभिव्यक्ति का प्रथम प्रस्फुटन मुक्तक में ही होता है और मुक्तक में अनन्त कवि-रचना में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि राजशेखर ने प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक को गौण स्थान प्रदान किया है, किन्तु सफल मुक्तक-रचना प्रबन्ध से कम महत्वपूर्ण नहीं होती। इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने मुक्तक-रचना से ही उदाहरणों का उपादान किया है। प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की संख्या भी अधिक होती है और उसका संरक्षण भी अपेक्षाकृत दुस्साध्य होता है।

सर्वप्रथम मुक्तक संकलन ऋग्वेद ही है। इसमें अनेक ऋषियों की विभिन्न समय में लिखी हुई कृतियां संगृहीत हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि काव्य-प्रकाश इत्यादि महान् शास्त्रीय-ग्रन्थों में उच्चकोटि के काव्य के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे मिलते-जुलते उदाहरण ऋग्वेद में भी उपलब्ध होते हैं। यद्यपि ऋग्वेद में वे ही मन्त्र सुरक्षित रह सके हैं, जो धार्मिक मनोवृत्ति के अनुकूल थे। फिर भी इस वृहत् संकलन में कुछ ऐसे मन्त्र भी पाये जाते हैं, जो शुद्ध कलात्मक दृष्टि से लिखे गये प्रतीत होते हैं और उन्हें हम रसात्मक-मुक्तक की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। इन मन्त्रों में प्रकृति पर आरोपित रसमयता ही प्रधानतया आस्वादन में प्रयोज्य रही है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के अपवाद भी इतस्ततः दृष्टिगत होते हैं तथापि व्यपदेश में प्रयोजक रचना-बाहुल्य ही होता है। इसी आधार पर हम इसे प्रकृति-काव्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। यह प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही और बौद्ध तथा जैन-धर्म के आर्ष-ग्रन्थों में भी अपनाई गई, अतः इस समस्त काल को प्रकृति-काल की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के आस-पास आन्ध्र के समृद्ध राज्य में शातवाहन ने गाथा सप्तशती नामका एक दूसरा मुक्तक-संकलन प्रस्तुत किया। शातवाहन को ही हाल भी कहते हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—यह संकलन एक करोड़ गाथाओं से चुनकर किया गया है। इससे स्वभावतः सिद्ध होता है कि ये रचनाएँ एक काल की नहीं हैं। इन गाथाओं में हमें नई प्रवृत्ति के दर्शन होते

हैं। इनमें प्रकृति का स्थान मानव ने ले लिया है। मानव प्रेम-सम्बन्धी किसी विशेष परिस्थिति का उल्लेख कर दिया जाता है जो किसी भी व्यक्ति के विषय में लागू हो सकता है। ये गाथायें अधिकतर प्राकृत-जन-विषयक हैं, अतः इन्हें हम प्राकृत-काव्य की मंजा प्रदान कर सकते हैं। हाल का अनुकरण लगभग १ हजार वर्ष तक किया जाता रहा। अतएव इस समस्त काल को सुविधापूर्वक प्राकृत-काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति को नई दिशा जयदेव ने प्रदान की। इन्होंने कल्पित प्राकृत व्यक्तियों का स्थान राधा और कृष्ण को दे दिया। यद्यपि राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलायें ही इस काल का प्रधान विषय रहीं, किन्तु उनका भुकाव प्रधानतया भक्ति की ओर था। अतएव इस काल को भक्ति-काल कहा जा सकता है। यह प्रवृत्ति बिहारी के समय तक चलती रही। बिहारी से पुनः एक ओर हाल की प्रचलित प्राकृत-परम्परा को प्रत्युज्जीवित किया और दूसरी ओर जयदेव की भक्ति-पद्धति को भी अधुष्ण रक्खा। बिहारी के काव्य का जन-समाज में इतना अधिक सम्मान हुआ कि उन्हीं के आदर्श पर काव्य-धारा प्रवाहित हो चली। एक प्रकार समस्त रमात्मक-काव्य को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—प्राकृत-काल, प्राकृत-काल और भक्ति-काल।

ऋग्वेद के संकलन में दूसरे प्रकार के मुक्तक धार्मिक दृष्टि से लिखे हुए अधिगत होते हैं। यास्क ने धार्मिक सूक्तों को तीन प्रकारों में विभाजित किया है—प्रत्यक्ष-कृत, परोक्ष-कृत और आध्यात्मिक। वैदिक सूक्तों के समान ही पुराणों में भी इन्हीं आधारों पर लिखे हुये स्तोत्र पाये जाते हैं और यही प्रवृत्ति बौद्धों और जैनों द्वारा भी ग्रहणाई गई। भेद केवल आवलम्बन का ही था। अतः धार्मिक क्षेत्र में यास्क का विभाजन मान्य भी है और मंगत भी।

ऋग्वेद के सूक्तों की तीसरे प्रकार की प्रवृत्ति सूक्ति-सम्बन्धिनी है। सूक्तियों में रस के स्थान पर कलात्मकता ही अपेक्षित होती है। इनमें कलात्मक शैली पर जीवन को सुखमय तथा दोष रहित बनाने का उपदेश रहता है। सूक्तियों को भी तीन भागों में ही विभाजित किया जा सकता है। धार्मिक, आर्थिक और काम-सम्बन्धिनी सूक्तियाँ। धार्मिक-काव्य और धार्मिक-सूक्ति में भेद यह होता है कि धार्मिक-काव्य उपास्यो के लक्ष्य से प्रवृत्त होता है, जबकि धार्मिक-सूक्तियाँ सदाचार का उपदेशमात्र होती हैं। आर्थिक सूक्तियों में व्यावहारिक-सूक्तियाँ भी आ जाती हैं। अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में व्यावहारिक-सूक्तियाँ प्रायः पाई जाती हैं। अतः इस प्रकार की सूक्तियों को पृथक् न रख कर आर्थिक सूक्तियों में समाविष्ट कर देना ही उचित प्रतीत होता है। रसात्मक-मुक्तक तथा काम-सम्बन्धिनी सूक्तियों में अन्तर यह है कि रसात्मक-मुक्तकों में कल्पित अथवा निश्चित नायक-नायिकाओं की किसी कल्पित प्रणय लीला का उपाख्यान होता है, जबकि काम-सम्बन्धिनी सूक्तियों में स्त्री-पुरुषों के स्वभाव-सम्बन्धी किसी सत्य का उपाख्यानमात्र

होता है। ऋग्वेद में प्रशस्ति-काव्य भी पर्याप्त मात्रा में अधिगत होता है और चित्र-काव्य पर भी कुछ सूक्त लिखे हुए अधिगत होते हैं। जहां तक प्रशस्ति-काव्य का सम्बन्ध है, इसे काव्य की सीमा में ही सन्निविष्ट किया जाता है, किन्तु चित्र-काव्य को आचार्य लोग उक्ति-वैचित्र्य मात्र मानते हैं, वे उसे काव्य नहीं कहते।

ऋग्वेद के समय से लेकर बिहारी के समय तक की मुक्तक परम्परा का परिचय देना ही प्रस्तुत ग्रन्थ का लक्ष्य है। प्रथम अध्याय में मुक्तक-काव्य के प्रधान प्रवृत्ति-निमित्तों का अनुसन्धान किया गया है। दूसरा अध्याय रसात्मक-मुक्तकपरक है। इसमें रसात्मक मुक्तक के उक्त तीनों कालों के परिवर्तनों, उनके कारणों, सामान्य प्रवृत्तियों और प्रधान कलाकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तीसरा अध्याय रमंतर-मुक्तकपरक है। इसमें धार्मिक-सूक्ति-मुक्तक तथा प्रशस्ति-मुक्तक का यथाक्रम परिचय दिया गया है। यदि पाठक प्रस्तुत रचना से ऋग्वेद से लेकर बिहारी के समय तक की मुक्तक काव्य-परम्परा को ठीक रूप में हृदयंगम कर सकेंगे तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

विनीत
रामसागर त्रिपाठी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पृष्ठ १ से २६ तक

मुक्तक-काव्य और उसका प्रारम्भिक रूप । मुक्तक शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ । मुक्तक शब्द के कोष-गत विभिन्न अर्थ । मुक्त तथा मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ तथा उनके आधार पर मुक्तक-काव्य की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन । मुक्तक का प्रवृत्तिविषयक अनुसन्धान । मुक्तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद । मुक्तक-काव्य संकलन । प्रारम्भिक मुक्तक संग्रह—ऋग्वेद तथा अथर्ववेद । ऋग्वेद की प्रधानता तथा संक्षिप्त परिचय । ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व । ऋग्वेद का शाखा-भेद तथा प्राप्य मंहिता । ऋग्वेद का साहित्यिक अध्ययन । ऋग्वेद का साहित्यशास्त्रीय अध्ययन । ऋग्वेद का धार्मिक दृष्टि से एक अध्ययन । ऋग्वेद का सूक्ति-काव्य की दृष्टि से अध्ययन । ऋग्वेद में दान स्तुतियाँ । ऋग्वेद का चित्र काव्य । ऋग्वेद के साहित्यिक सूक्तों का वर्गीकरण, विभाजन तथा स्रवान्तर प्रकार । उपसंहार ।

द्वितीय अध्याय

पृष्ठ ३० से १२१ तक

रसामय मुक्तक । काल विभाजन । प्रथम चरण प्रकृति-काल—वैदिक काव्य, थेरी गाथा, थेर गाथा, नान्दी और अनुयोगदार । द्वितीय-चरण—प्राकृत काल । इस काल की राजनैतिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, कवि जावन, कवि सम्मेलन, निष्कर्ष । परिस्थिति का काव्य में सम्बन्ध । शृंगार रस की प्रधानता के मनोवैज्ञानिक कारण । शृंगार रस की प्रधानता के काव्य-शास्त्रीय कारण । द्वितीय-चरण की सामान्य विशेषतायें । प्रकृति-काव्य । नर-काव्य । निष्कर्ष । द्वितीय-चरण की प्रमुख रचनायें—गाथा सप्तशती, ऋतु-संहार, अमरकशतक, चौर पञ्चाशिका, मयूराष्टक, आर्यासप्तशती । संग्रह ग्रन्थों में उल्लिखित कवि । मेघदूत के आदर्श पर लिखे हुए मुक्तक । स्त्री कवयित्रियाँ । प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के मुक्तक । तृतीय-चरण—भक्ति-काल, सामाजिक स्थिति । धार्मिक स्थिति । भक्ति के विकास में बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रभाव, जैन-धर्म का प्रभाव, इस्लाम-धर्म का प्रभाव । दार्शनिक स्थिति । निष्कर्ष । भक्ति-काल की सामान्य विशेषतायें । इस काल के प्रमुख कवि । कृष्ण काव्य की बृहत्त्रयी—जयदेव, विद्यापति, सूरदास । कृष्ण काव्य के दूसरे कवि—परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्ददास, छीतस्वामी, मीरा, रसखान, हितहरिवंश । दूसरे कवियों की रचनाओं में कृष्ण-काव्य की छाप । आलम्बनेतर विषयक

काव्यकार—तुलसीदास, दूसरे कवि । पुरानी परम्परा के कवि—गंग, रहीम, सेनापति, केशव, अन्य कवि । निष्कर्ष ।

तृतीय अध्याय

पृष्ठ १२२ से १६० तक

रसेतर मुक्तक । धार्मिक मुक्तक सामान्य परिचय । पौराणिक स्तोत्र, बाणभट्ट, मयूर, शंकर, पञ्चस्तवी । कालिदास के नाम पर प्रसिद्ध स्तोत्र, आनन्द-वर्धन, अन्य स्तोत्रकार, जैन-स्तोत्र, बौद्ध-स्तोत्र, स्तोत्र-साहित्य का सिंहावलोकन । हिन्दी धार्मिक परम्परा, विद्यापति, सूरदास, तुलसी, निष्कर्ष । सूक्ति-काव्य, वैदिक सूक्तियां, ब्राह्मण-ग्रन्थों में सूक्तियां, उपनिषदों में सूक्तियां, पुराणों में सूक्तियां, बौद्ध-जैन-आगम साहित्य में सूक्तियां, नवीन शैली की सूक्तियां । भर्तृहरि, शंकराचार्य जी, जैन-धर्म सम्बन्धी सूक्ति-मुक्तक । दिगम्बर अमृतगति के मुक्तक-ग्रन्थ । हेमचन्द्र तथा उनके समय के कवि । सोमप्रभसूरि, संग्रह-ग्रन्थ । फुटकर मुक्तकों पर एक दृष्टि । बौद्ध-साहित्य में सूक्ति-मुक्तक । सिलहण, क्षेमेन्द्र, अप्पयदीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ । कथा-सूत्र के माध्यम से सूक्ति लिखने वाले कवि—दामोदर गुप्त, क्षेमेन्द्र, अमृतगति तथा हेमचन्द्र, अपभ्रंश के सूक्ति-मुक्तक, हिन्दी सूक्ति-मुक्तक । निष्कर्ष । प्रशस्ति मुक्तक, ऋग्वेद इत्यादि में प्रशस्तियां, भोज-प्रबन्ध, राजेन्द्र कर्णपुर । रुद्र कवि कृत भाव-विलास, पण्डितराज जगन्नाथ, हिन्दी प्रशस्ति मुक्तक । अपभ्रंश तथा डिगल में प्रशस्तियां । करणेश बन्दीजन तथा दूसरे कवि । निष्कर्ष । प्रथम-खण्ड का उपसंहार ।

प्रथम अध्याय

मुक्तक-काव्य और उसका प्रारम्भिक रूप

मुक्तक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ—मुक्त शब्द से संज्ञा में कन्^१ होकर मुक्तक शब्द निष्पन्न हुआ है। मुक्तक शब्द में निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय है जो भूतकाल में कर्म कारक में हुआ करता है^२ और फलाश्रय के समानाधिकरण^३ विशेषण का प्रत्यायन कराता है। अतएव विशेषण से संज्ञा की निष्पत्ति के लिए कन् जोड़ा गया है। इस निष्पत्ति के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति होगी—मुच्यते स्मेति मुक्तम्, मुक्तम् ह्रस्वं द्रव्यं मुक्तकम् अर्थात् मुक्तक उम द्रव्य का नाम है जो छोड़ा जा चुका हो और जिसका कलेवर छोटा हो।

मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ—मुक्तक शब्द के विभिन्न कोष-ग्रन्थों में निम्नलिखित अर्थ प्राप्त होते हैं :—

१. एक विशेष प्रकार का अस्त्र जो फेंककर मारा जाता हो^४।
२. फेंककर मारा जानेवाला कोई अस्त्र^५।
३. एक प्रकार का गद्य जिसमें समास का प्रयोग बिल्कुल न हो या अत्यल्प मात्रा में हो^६।
४. कविता का एक चरण।
५. छन्दों का एक विशेष प्रकार।
६. एक प्रकार का काव्य जो पूर्वापर-निरपेक्ष स्वतःपर्यवसित पद्य तक सीमित हो।

मुक्तक शब्द का काव्य के साथ समास करने पर प्रथम दो अर्थों का स्वतः निरास हो जाता है। चतुर्थ तथा पंचम अर्थ छन्दःशास्त्र सम्बद्ध हैं। अतः इन्हें हम काव्यों के प्रकारों में मन्त्रिविष्ट नहीं कर सकते। शेष दो अर्थ वृत्तगन्धोज्झित गद्य और स्वतःपर्यवसित एक पद्य-गत काव्य, काव्य से सम्बद्ध होते हैं। समास-विरहित गद्य, गद्य साहित्य का सर्वाधिक रमणीय प्रकार है और वैदभी रीति का प्रमुख लक्षण है। किन्तु यह शैली का ही एक विशेष प्रकार है। और काव्य-भेदों में इसकी गणना समीचीन नहीं कही जा सकती। दूसरी बात यह है कि इस भेद का

१. संज्ञायाम् कन् ५।३।८७

२. तथोरेव कृत्यकखनर्थाःपा.सू. ५।३।८७

३. निष्ठा पा. सू. ३।२।१०२

४. शब्द रत्नाकर

५. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी

६. साहित्य दर्पण उल्लास ६

साहित्य में न तो अधिक प्रचलन ही हुआ और न गद्य साहित्य के भेदोपभेदों में इसका परिगणन ही किया जाता है।

प्रधानतया मुक्तक काव्य का प्रयोग पूर्वापर-निरपेक्ष स्वतःपर्यवसित काव्य के लिये होता है। मुक्त शब्द से निष्पन्न होने के कारण यह शब्द इस अर्थ में सर्वथा उपयुक्त भी है।^१ केशव-कृत शब्द कल्पद्रुमकोश में मुक्त शब्द के निम्न-लिखित अर्थ दिये हुए हैं :—

विना कृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम् ।

भिन्नं स्यादथ निर्व्यूहं मुक्तं योवातिशोभनः ॥

यहां पर विनाकृत विरहित व्यवच्छिन्न विशेषित और भिन्न अर्थ लगभग एक ही हैं। इन अर्थों से आपाततः सिद्ध हो जाता है कि जो काव्य अर्थ-पर्यवसान के लिए परापेक्षी न हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य में अर्थ का पर्यवसान प्रबन्धगत होता है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य में प्रबन्ध की अपेक्षा नहीं होती। निर्व्यूह शब्द भी इसी अर्थ का परिचायक है। निर्व्यूह शब्द का अर्थ है पूरा किया हुआ। पूर्ण होने के कारण स्वतःपर्यवसित पद्य गत-काव्य में मुक्तक सजा संगत हो जाती है शेष दो अर्थ विशेषित और अतिशोभन विशेष ध्यान देने योग्य हैं। रसचर्वणा या चमत्कृति प्रबन्ध में केवल एक पद्य में अपेक्षित नहीं होती और न प्रबन्ध काव्य का प्रत्येक पद्य 'रसप्रवण तथा चमत्कृति-प्रधान' हुआ करता है। किन्तु मुक्तक काव्य में रस की समस्त विशेषताएँ और चमत्कृति के सारे उपकरण एक ही पद्य में अपेक्षित होते हैं। अनागव विशेषित अर्थ की संगति मुक्तक काव्य के साथ बैठ जाती है। इसी प्रकार रमणीयता काव्य का प्रधान धर्म और काव्यत्व का प्रमुख परिचायक है। अतिशोभन इस अर्थ से मुक्तक काव्य की इसी विशेषता का परिचय प्राप्त होता है। मुक्त शब्द के दो अर्थ और हैं—प्राप्त-मोक्ष तथा आनन्दित। इसी मुक्त की संज्ञा मुक्तक है। यदि इन समस्त अर्थों की संगति बिठाई जावे तो मुक्तक का अर्थ होगा—ऐसा पद्य जो परतः निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो, काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कृति इत्यादि विशेषताओं से युक्त हो, अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण जो आनन्द देने में समर्थ हो, जिसका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिसका परिशीलन ब्रह्मानन्द-सहोदर रसचर्वणा के प्रभाव से हृदय की मुक्तावस्था को प्रदान करनेवाला हो। निस्सन्देह ये सभी गुण प्रबन्ध काव्य तथा नाटकों में भी अपेक्षित होते हैं। किन्तु रसमयता तथा चमत्कृति उनमें प्रबन्ध-व्यापिनी होती है। प्रबन्ध काव्य में न तो सभी पद्य रसमय ही होते हैं और न सर्वत्र उनमें चमत्कृति ही उपलब्ध होती है। उनमें हृदय की मुक्तावस्था का अधिगम प्रबन्ध के द्वारा होता है। और प्रबन्ध में नीरस पद्य भी सरस पद्यों में सन्निविष्ट होकर सरसता सम्पादन के कारणीभूत हो जाते हैं। वस्तुतः प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक में रसोपनिबन्ध और चमत्कृति-सम्पादन अधिक दुष्कर होता है। प्रबन्ध में

पात्र परिचित होते हैं। उनके विषय में हमारी एक धारणा बन जाती है। उनका नाम तथा उनकी उपस्थिति ही हमारे किसी विशेष रसास्वादन में निमित्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यायिका, नाटक इत्यादि में यदि कथानक का निपुणतापूर्वक निर्वाह किया जावे तो पढ़नेवाले का मन कथा के रस में निलीन हो जाता है और गुण-दोष पर अधिक विचार नहीं करना। प्रबन्ध काव्य में कथानक वशीकरण होता है। हमारे अन्दर निरन्तर कौतूहल भावना जागृत रहने के कारण और परिणाम जानने के लिये उत्सुक होने से हमारी चितवृत्तियाँ सम्मुख आए हुए दोषों पर इतना ध्यान नहीं देती; यदि अनिच्छा से ही कोई दोष दृष्टिगत हो जावे तो परिणाम ज्ञान की आकुलता में हम एक दम आगे बढ़ जाते हैं और काव्यगत गुण-दोषों पर सामूहिक रूप में ही विचार करते हैं ऐसे काव्यों में यदि थोड़ा से भी पद्य अच्छे बन पड़े और उनमें ही रसपरिपाक पूर्णता को प्राप्त हो जाये तो हम समस्त प्रबन्ध की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगते हैं। ऐसे प्रबन्धान्तर्वर्ती सैकड़ों नीरस पद्यों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। इसके प्रतिकूल मुक्तक में प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है। पद्य के छोटे से 'कलेवर' में ही रस की सारी सामग्री जुटानी पड़ती है। पाठकों के मन पर पात्रों का कोई प्रभाव पहले से अंकित नहीं रहता। रसान्वेषण-लोभ मन केवल एक ही पद्य में व्याप्त हो जाता है। वहाँ कथा उपलब्ध नहीं होती। मुक्तक में हम किसी दोष की, उपेक्षा नहीं कर सकते जब कि प्रबन्ध में कथा के प्रवाह में पड़कर हम साधारण दोषों की ओर ध्यान भी नहीं देते। मुक्तक में प्रत्येक शब्द पर हमारा ध्यान जाता है जब कि प्रबन्ध में कतिपय पद्यों की गुन्दरना से ही प्रबन्ध चमचमा उठता है और अनेक शब्द क्या सैकड़ों पद्य भी हमारी उपेक्षा का विषय बन जाते हैं। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार का जो अनुसन्धान मुक्तक में किया जाता है वह प्रबन्ध में नहीं इस प्रकार अनिशोभन, गानन्दन, मोक्षप्रापण और निर्मुक्तता ये गुण मुक्तक में ही प्रधान होते हैं और इसी आधार पर इसका नामकरण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने मुक्तक के विषय में लिखा है : "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग में अपने को भुना हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के जैसे छीटे पड़ते हैं जिनसे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत चरस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिये सभा-समाजों के लिये वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय खंड दृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्वरूप कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में कल्पित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में अधिक सफल होगा।"

मुक्तक का प्रवृत्ति विषयक अनुसन्धान—वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से मन्त्र संहिता में काव्य शब्द का अनेक बार प्रयोग आया है किन्तु काव्य के उपभेदों का कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः वैदिककाल में प्रबन्ध काव्य का प्रचलन ही नहीं हुआ था और मुक्तक को ही काव्य की संज्ञा प्राप्त थी। वैदिककाल में सभी काव्य मुक्तक ही थे और उसके उपभेद करने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई थी। निरुक्त और व्याकरण की महत्त्वपूर्ण रचनाओं में काव्य के अनेक अंगों का उल्लेख पाया जाता है किन्तु कहीं भी प्रबन्ध और मुक्तक के विभाजन का संकेत नहीं मिलता।

अलंकार शास्त्र का कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अधिगत नहीं होता। अलंकार शास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ जो कि हमें इस समय उपलब्ध होते हैं केवल दो हैं—भामह का काव्यालंकार और दण्डी का काव्यादर्श। नाट्य शास्त्र कुछ पहले की रचना है। किन्तु इसे हम अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं कह सकते। यद्यपि नाट्य शास्त्र में भी अलंकारों का विवेचन हुआ है तथापि यह विवेचन इसी सिद्धान्त को मान कर किया गया है कि ऐसा कोई शास्त्र नहीं होता जिसका सम्बन्ध नाट्य शास्त्र से न हो। वस्तुतः अत्यन्त प्राचीन काल में काव्य शास्त्र और नाट्य शास्त्र ये दो पृथक्-पृथक् शास्त्र माने जाते थे। काव्य में अलंकारों को प्रमुखता प्राप्त थी और नाट्य में रस को। यद्यपि काव्य में रसों पर भी विचार किया जाता था और रसवत् इत्यादि अलंकारों को रस इत्यादि की सत्ता मात्र से ही स्वीकार कर लिया जाता था, इसी प्रकार नाट्य में वाणी के भूषण के रूप में अलंकारों को भी स्वीकार किया जाता था तथापि दोनों एक ही हैं, यह बात उस समय तक आचार्यों ने स्वीकृत नहीं की थी और न दोनों के एकीकरण की चेष्टा की गई थी। प्राचीन शास्त्रों और इन लक्षण ग्रन्थों में काव्य शास्त्र के अनेक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इन प्राचीन ग्रन्थों का पता अभी तक नहीं चलाया जा सका है। अतएव यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि अत्यन्त प्राचीन काल में प्रबन्ध और मुक्तक जैसा कोई विभाजन स्वीकृत था या यही।

भामह और दण्डी के ग्रन्थों में इस प्रकार का विभाजन पाया जाता है। किन्तु इन ग्रन्थों को देखने से अवगत होता है कि उस समय तक इन आचार्यों को काव्य-भेदों की कोई स्थिर तथा सर्वजन-सम्मत परम्परा नहीं प्राप्त हुई थी। दण्डी ने स्फुट काव्य को मुक्तक संज्ञा प्रदान की है जबकि भामह ने इसे अनिबद्ध काव्य कहा है। इसी प्रकार भामह जिसे महाकाव्य कहते हैं, दण्डी उसे सर्गबन्ध की संज्ञा प्रदान करते हैं।^१ इससे प्रकट होता है कि ये संज्ञाये उस समय तक स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकी थी। दण्डी स्वयं मुक्तक काव्य की वास्तविक सीमा और उसके वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ भ्रान्त से प्रतीत होते हैं। इन्होंने सर्वथा स्फुट असम्बद्ध काव्य को मुक्तक संज्ञा प्रदान न कर प्रबन्धान्तर्गत किंसा एक पद्य को मुक्तक कहा

है ।^१ इसीलिये उसकी पृथक् परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं समझी गई ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है काव्य में अलंकारों की प्रधानता थी और नाट्य में रस की । किन्तु अलंकार शब्द आभूषण का वाचक है और आभूषणों को कभी आत्मा नहीं माना जा सकता । अलंकार सर्वथा बाह्य होते हैं; हम उन्हें आभ्यन्तर कभी नहीं कह सकते । इसीलिये कुछ आचार्यों ने नाट्य के अनुकरण पर काव्य में भी रस का ही आत्मत्व अंगीकृत किया । इन आचार्यों के विचार से नाट्य रस के समान काव्य रस शब्द का प्रयोग भी असंगत नहीं कहा जा सकता । काव्य में भी नाट्य के समान ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रस-रूपता को धारण कर सकता है । नाट्य में अनुभाव अभिनेय होते हैं किन्तु काव्य में वे वर्ण्य हो जाते हैं । ज्ञात होता है कि काव्य की आत्मा के रूप में रस अथवा अलंकार को स्वीकार किये जाने के पक्ष और विपक्ष में बहुत समय तक विवाद चलता रहा होगा और दोनों ओर बहुत-सी युक्तियाँ दी जाती रही होंगी । मुनि ने अग्निपुराण में जो निष्कर्ष निकाला है और दोनों पक्षों में जो सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है उससे इस विवाद की व्यापकता ध्वनित होती है । मुनि ने महाकाव्य के विषय में लिखा है :—

वाग्वेदार्थप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् । (३३७-३३)

अर्थात् यह मानने में प्राप्ति नहीं हो सकती कि काव्य में वाग्वेदार्थ (अलंकार) ही प्रधान है । तथापि महाकाव्य का जीवन तो रस को ही मानना पड़ेगा । इसमें स्पष्ट है कि मुनि ने वेदार्थ भंगी भणिति को काव्य में प्रधान मान कर उन लोगों की ओर संकेत किया है जो काव्य की आत्मा अलंकार को ही मानते हैं । दूसरी ओर रस को काव्य का जीवन मान कर इस बात का परिचय दिया है कि उस समय तक काव्य में भी रस की अपरिहार्यता अंगीकृत की जा चुकी थी । उभी को उन्होंने काव्य-जीवन के रूप में सिद्धान्तित किया था । किन्तु मुक्तक में भी रसमयता हो सकती है इस ओर मुनि का ध्यान नहीं गया था और मुक्तक का वर्णन करते हुए उन्होंने उसमें चमत्कार को अपरिहार्य मान लिया :—

मुक्तकं श्लोक एकवैक्यचमत्कारक्षमः सताम् । (३३७—३६)

अर्थात् मुक्तक एक ही श्लोक को कहते हैं जो सहृदयों में चमत्कार का आधान करने में समर्थ हो । स्पष्ट ही है कि मुनि के सामने मुक्तक की रसमयता का प्रश्न ही नहीं था । हाँ, उनके ग्रंथ से इस बात का पता अवश्य चलता है कि इस समय तक मुक्तक की स्वतन्त्र सत्ता अवश्य मानी जा चुकी थी और मुक्तक केवल सर्ग बन्धांश के रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं था ।

मुक्तक की रसमयता की ओर सर्वप्रथम ध्वनिकार ने संकेत किया था । उन्होंने लिखा है —

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बहु विच्छ्रता ।

१. मुक्तकं कुलकं कोषः संवात इति यत्पुनः । सर्गबद्धां रूपत्वाद्भुक्तः पद्यविस्तरः ।

यहां पर मुक्तक का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक रूप में हुआ है और आलोक-कार आनन्दवर्धन ने मुक्तक के विषय में लिखा है—“तत्र मुक्तकेषु रसबन्धा-भिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्.....अन्यत्र कामचारः ॥” अर्थात् प्रबन्धों के समान मुक्तकों में भी कवि का अभिनिवेश रसबन्ध के विषय में हो तो उस रस के अनुकूल औचित्य का पालन कवि को वहां पर भी करना चाहिये । यदि कवि के अन्दर इस प्रकार का रसबन्धन का अभिनिवेश न हो तो स्वेच्छा से कवि किसी प्रकार के औचित्य का पालन कर सकता है । किन्तु इतने से ही आलोककार को संतोष नहीं हुआ । मुक्तक में भी रस हो सकते हैं उन्हें यह बात विशेष रूप से कहनी पड़ी—“मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।”^१ अर्थात् देखा जाता है कि जिस प्रकार काव्यों में सामग्री के संयोग से कवियों का अभिनिवेश रसबन्ध में होता है उसी प्रकार मुक्तकों में भी हुआ करता है । जैसे अमरक कवि के मुक्तक प्रबन्ध के समान रसप्रवण प्रसिद्ध ही हैं ।

साहित्य शास्त्र में ध्वनिकार, आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त का वही स्थान है जो व्याकरण में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि का है ।^२ इन आचार्यों के प्रतिपादन के बाद यह बात निश्चिन्त रूप में स्वीकृत कर ली गई कि नाट्य तथा प्रबन्ध के समान मुक्तक में भी रसाभिनिवेश सम्भव है इस प्रकार नाट्य और प्रबन्ध के बहुत बाद मुक्तक में रस की सत्ता अंगीकृत की गई । बाद के आचार्यों ने मुक्तक के लक्षण को एक पद्य में अर्थ की परिसमाप्ति तक ही सीमित कर दिया । परवर्ती लक्षण-ग्रन्थों में जहां कही मुक्तक की परिभाषा की गई है वहां केवल इतना ही कह दिया गया है कि जो पद्य अर्थ की समाप्ति में स्वतन्त्र हो, उसे मुक्तक कहते हैं ।

मुक्तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद—मुक्तक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । कविता का प्रथम परिस्फुरण मुक्तक से ही होता है । आचार्य वामन ने लिखा है कि अनिबद्ध रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद में ही निबद्ध रचना में सिद्धि मिलती है । कतिपय कवि मुक्तक रचना तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हैं, यह ठीक नहीं है । अग्नि के प्रथम परमाणु की भांति मुक्तक रचना कभी चमकती नहीं ।” वामन के मत में मुक्तक के स्फुट कलेवर में काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नहीं हो सकता । मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है । उसकी सार्थकता इसी में है कि उसकी रचना के द्वारा प्रबन्ध-रचना में नैपुण्य प्राप्त हो । राजशेखर ने भी मुक्तक को प्रबन्ध की अपेक्षा गौण स्थान दिया है । उनका कहना है—

१. ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत, पृ० ३६०

२. उभी पर लोचन टीका

३. P. V. Kane.

मुक्तके कवयोऽनन्ताः प्रबन्धे कवयः शतम् ।

महाकाव्ये तु कविरको द्वौ दुर्लभास्त्रयः । (का० मो० अ० १०)
अर्थात् मुक्तक रचनाकार असंख्य कवि होते हैं, प्रबन्धकार एक समय में केवल सौ ही मिल सकते हैं, महाकाव्यकार एक समय में केवल कोई एक या दो हो सकते हैं तीन का मिलना तो कठिन ही है। वामन और राजशेखर की इस स्थापना में इतना सत्य तो अवश्य है कि महाकाव्य में जीवन का पूरा चित्र रहता है और मुक्तक में किसी क्षणिक स्थिति या मनोदशा का। अतः प्रबन्ध का प्रभाव मुक्तक की अपेक्षा अधिक व्यापक और अधिक स्थायी होता है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से एक सीमा तक मान्य होते हुए भी यह मिद्धान्त तत्त्वतः निर्दुष्ट नहीं है। इसमें सदेह नहीं कि मुक्तक में विस्तार के अभाव में व्यापकता का समावेश सम्भव नहीं। परन्तु उसकी एकाग्रता शीघ्र ही तीव्रता की मृष्टि कर सकती है और काव्य में व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नहीं है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित जीवन की भव्यता भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं। यदि वनस्थली की अपनी शोभा है तो पुष्प-गुच्छ की अपनी शोभा भी पृथक् ही है।

सामान्यतया मुक्तक के क्षेत्र में स्वमात्र-विश्रान्त वे समस्त पद्य आ जाते हैं जो किसी प्रबन्ध का अंग न हो और रमणीयता का सम्पादन करने में समर्थ हों। रमणीयता का सम्पादन दो प्रकार से हो सकता है—१ विभावादिके संयोग से स्थायी भाव का स्वरूपता को धारण करना एक प्रकार है और (२) वैदग्ध्य-भंगी भंगिति के द्वारा लोकवृत्त का अभिधान दूसरा प्रकार है। प्रथम प्रकार रसात्मक मुक्तक के नाम से अभिहित किया जा सकता है और दूसरा प्रकार सूक्ति या सुभाषित मुक्तक के नाम से। रसात्मक शब्द उपलक्षण है, इसके अन्तर्गत हृद्गत भावनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रकार के मुक्तक आ जाते हैं। भावना का आलम्बन प्रकृति भी हो सकती है, परमात्मा की सत्ता भी हो सकती है और कोई दिव्य शक्ति भी हो सकती है। इस प्रकार जहाँ रसात्मक मुक्तकों में विभिन्न रसों से सम्बन्ध रखनेवाले स्वतंत्र पदों का समावेश हो जाता है वहाँ भगवद्भक्ति, स्तोत्र, प्रकृति काव्य तथा राज-विषयक रति का भी समावेश हो जाता है। किन्तु रसात्मक मुक्तक की मज्ञा केवल उन्हीं पद्यों को प्राप्त हो सकती है जिनमें किसी भाव की अभिव्यक्ति हो। मानव अथवा प्रकृति के प्रति जो रति भाव होता है उसका अभिव्यक्ति का मन्तव्य भावाभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ और नहीं होता। इसके प्रतिकूल स्तोत्र साहित्य में देवताओं को संतुष्ट कर उनसे कुछ प्राप्त करना ही मन्तव्य होता है। इसी प्रकार राजविषयक रति में भी झूठी प्रशंसा के द्वारा राजा लोगों का यशोगान कर उन्हें संतुष्ट करना ही लक्ष्य रहता है।

प्राचीन साहित्य में देवविषयक रति और राजविषयक रति में भावाभिव्यक्ति के स्थान पर चमत्कारपूर्ण उक्तियों का अधिक प्राधान्य था। ये पद्य एक ओर भावाभिव्यक्ति की ओर झुके हुए थे और दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण

उक्तियों की ओर। अतएव न तो इन्हें रसात्मक मुक्तकों में सन्निविष्ट कर सकते हैं और न सूक्तियों में। ये मुक्तक मध्यम मार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं। अतएव इनको दोनों से बाह्य पृथक् श्रेणी में रखना ही समीचीन होगा। इस प्रकार मुक्तकों को हम वस्तु की दृष्टि से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) **रसात्मक मुक्तक**—इनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसंधि भावोदय, भावशान्ति और भावशबलता इत्यादि भाव से संबन्ध रखनेवाले सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है। भाव मानव-विषयक भी हो सकता है और प्रकृति विषयक भी।

(२) **धार्मिक मुक्तक**—इनमें देवविषयक रति से सम्बन्ध रखनेवाले सभी मुक्तक सन्निविष्ट हो जाते हैं। वैदिक ऋचायें, पौराणिक स्तोत्र तथा बौद्ध और जैन स्तोत्र इन धार्मिक मुक्तकों में आ जाते हैं।

(३) **प्रशस्ति मुक्तक**—इनमें राजाओं तथा दूसरे आश्रयदानाओं की दान-शीलता, धीरता और सौन्दर्य-वर्णन के पद्य सन्निविष्ट हो जाते हैं।

(४) **सूचित मुक्तक**—इनमें भाव आस्वादन का विषय नहीं बनने अपितु चमत्कार ही उपास्य होता है। इनमें उक्ति वैचित्र्य के द्वारा मालकार अथवा निरलंकार वस्तु अभिव्यक्त की जाती है। इनमें कल्पना की उड़ान, जटोक्ति, वर्णन-वैचित्र्य या शब्दार्थ-वैचित्र्य प्रधान तत्त्व माने जाते हैं।

माध्यम की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं, पाठ्य मुक्तक और गीति मुक्तक। पाठ्य मुक्तक में कवि अपनी ही अनुभूति को सरस बनाकर सहृदय पाठक को रसमग्न कर देता है। स्वानुभूति निरूपिणी कविता में जब कवि अपनी भावनाओं की मधुरिमामयी व्यंजना करता है और उसकी अनुभूति तीव्रतर हो जाती है तब उसमें मगीतात्मकता फूट पड़ती है। सुख और दुःख के भावातिरेक के कारण कवि के अन्तःकरण के स्वतःप्रेरित उद्गार ही गीति का रूप धारण कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में कवि के हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का संगीतात्मक चित्र ही गीतिकाव्य है। राजशेखर के मुक्तक के उपभेद उक्त वर्गीकरण में ही गतार्थ हो जाते हैं।

मुक्तक काव्य संकलन—मुक्तक काव्य संकलन के दो भेद प्रसिद्ध हैं—कोप और संघात। कोप की परिभाषा करते हुए साहित्य दर्पण में लिखा है—

कोषः श्लोकसन्द्भस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।

व्रज्याक्रमेण रचितः स एवाति मनोरमः ॥^१

अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा न रखनेवाले पद्यों के समूह को कोप कहते हैं। यदि कोष की रचना व्रज्या क्रम में हो तो वह कोष बड़ा ही मनोरम बन जाता है। मुक्तक संकलन दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—कुछ संकलन तो अक्रम होते हैं और कुछ में किसी क्रम अथवा व्रज्या का सहारा ले लिया जाता है। साहित्यदर्पण के टीकाकारों ने व्रज्या दो प्रकार की बतलाई है एक तो जिसमें एक जाति के पद्यों का

एक संकलन किया जाता है चाहे वह वर्ण्य-विषय के आधार पर हो चाहे छन्द की दृष्टि से हो। दूसरे प्रकार की ब्रज्या वर्णानुक्रम से होती है। ब्रज्याक्रम से घटित कोष-ग्रन्थ अच्छा माना जाता है क्योंकि इसमें एक तो विषय तथा छन्द के निरन्तर परिवर्तन न होने से बुद्धि विच्छेद नहीं होता और एक ही स्थान पर एक विषय का पूर्ण आस्वादन हो जाता है। कोष के लिये यह अनिवार्य नियम नहीं है कि उसके अन्दर आने वाले सभी पद्य एक कवि के ही लिखे हुए हों। अनेक कवियों के लिखे हुए पद्यों का संकलन भी कोष की सजा प्राप्त कर सकता है। दूसरे प्रकार का मुक्तक संकलन सघात कहलाता है। इसके लिये यह अनिवार्य नियम है कि यह एक ही कवि का लिखा हुआ हो। सम्पूर्ण संकलन में केवल एक ही वृत्त हो और सम्पूर्ण संकलन उस दृष्टि से किया गया हो कि उसमें एक कथा समाप्त हो जावे। मेघदूत, वृन्दावन इत्यादि काव्य-संकलनों को विद्वानों ने सघात काव्य माना है—

यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये ।

सघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः ।

(काव्यादर्श की नृसिंहदेव कृत टीका)

काव्यादर्श के टीकाकार श्री रगाचार्य जी ने लिखा है कि सघात काव्य वही हो सकता है जिसमें कथावस्तु कल्पित हो। यदि कथावस्तु लोक-प्रसिद्ध हो तो उसे परिकथा की सजा प्राप्त होती है। हम मूर सागर इत्यादि संकलनों को परिकथा की सजा प्रदान कर सकते हैं।

प्रारम्भिक मुक्तक संग्रह^१

सभ्यता के अरुणोदय काल में हमें दो महान् मुक्तक संग्रह उपलब्ध होते हैं। एक है ऋग्वेद और दूसरा अथर्ववेद।^२ ऋग्वेद धनिकवर्ग, अधिकारियों, राजा-महाराजाओं और मुमंस्कृत सामाजिकों का प्रतिनिधि है तथा अथर्ववेद सर्वनाथारण्य जनता की तथा निम्न वर्ग की रीति-नीति और सामाजिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कराता है।^३ जोष दो वेद साम और यजुः ऋग्वेद से ही कुछ पद्यों को लेकर गीति तथा व्रत के आधार पर क्रमबद्ध

१. काव्य शास्त्र में काव्य के जो भेदोपभेद गिनाये गये हैं और उनमें जो प्रवृत्ति निमित्त दिखलाये गये हैं वह भी मुक्तक काव्य की ही एक परम्परा है। आलोककार ने लिखा है—‘लक्ष्ये पुनः पर्यायमाणे तदेव काव्यजातिम्’ अर्थात् लक्ष्य परीक्षण करने पर वही काव्य का जावन सिद्ध होता है। इससे प्रकट है कि आचार्यों का काव्यशास्त्रीय विवेचन काव्य-परम्परा का ही विवेचन है उसमें भी मुक्तक काव्य का ही वर्णक उदाहरणों का संकलन मुक्तक काव्य से ही किया गया है। किन्तु काव्य-शास्त्रीय परम्परा का विवेचन अनेक ग्रन्थों में किया जा चुका है। अतएव यहाँ पर केवल वस्तुमूलक परम्परा का विवेचन किया जावेगा। काव्यशास्त्रीय परम्परा का दिग्दर्शन यथास्थान कर दिया जावेगा।

२. संहिता का अर्थ है संकलन। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों के लिये संहिता शब्द का प्रयोग होता है, अतः ये दोनों ही संग्रह-ग्रन्थ हैं।

३. देखो वैदिक एज के ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रकरण।

कर दिये गये हैं, अतः स्वतन्त्र वेद नहीं कहे जा सकते। अथर्ववेद में भी ऋग्वेद को ही आधार तथा आदर्श मानकर मन्त्रों का संकलन किया गया है और स्वतन्त्रतापूर्वक ऋग्वेद के मन्त्रों का उपादान किया जाता है। इस प्रकार वैदिक काव्य का एक मात्र उपजीवक ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद केवल भारोपीय भाषा परिवार की ही नहीं अपितु समस्त विश्व की तथा मनुष्य मात्र की प्रथम पुस्तक है। यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि विश्व के पुस्तकालय में ऋग्वेद से अधिक प्राचीन कोई दूसरी पुस्तक नहीं। दूसरे देश भी अपनी सभ्यता की प्राचीनता का दावा करते हैं। जबकि ऋग्वेद का रचना-काल ई० पू० २५०० या ३००० वर्ष से अधिक पुराना नहीं माना जाता, तब ऐसीरिया के विद्वान् प्रथम सरागियों का समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मानते हैं और तूरानियन सभ्यता को इससे भी पूर्व ले जाते हैं। मिस्र के लोग अपनी सभ्यता को ईसा से ४००० वर्ष पूर्व बतलाते हैं और चीन के लोग अपनी सभ्यता को भी उतना ही प्राचीन सिद्ध करते हैं। किन्तु भारतीय साहित्य में उपर्युक्त साहित्यों से एक मौलिक अन्तर है। मिस्र के साहित्य में हम शामको की नामावली और युद्ध के उल्लेख के अनिश्चित और कुछ नहीं जान सकते। ऐसीरिया और बेबीलोन के लेख भी हममें कुछ ऐसी ही कहानी कहते हैं। प्राचीन चीन के लेख सभ्यता और संस्कृति के विकास और प्रसार पर कोई प्रकाश नहीं डालते। किन्तु भारतीय साहित्य का रूप कुछ और ही है। न तो इसमें राजाओं की वंशावली दी हुई है और न युद्धों और दूसरी घटनाओं का विवरण ही है। किन्तु इसमें हमें सभ्यता और संस्कृति के विकास और प्रसार का स्पष्ट और सुसम्बद्ध चित्र प्राप्त होता है जो कि हमें किसी दूसरे साहित्य में प्राप्त नहीं होता। जहाँ तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है उसकी प्राचीनता पर न तो मिस्र के स्मारक साहित्य अथवा भोजपत्र की नामावली के द्वारा विवाद किया जा सकता है और न वह ऐसीरिया के साहित्य के विवाद का ही विषय हो सकता है।^१ किन्तु ऋग्वेद की साहित्यिक प्रौढ़ता उसकी कलात्मकता और भावात्मकता तथा उनमें अभिव्यक्त होनेवाला संस्कृति का निखरा हुआ रूप—इन सब बातों को देखने में स्वभावतः सिद्ध हो जाता है कि वैदिक साहित्य के आविर्भाव के पहले साहित्य तथा संस्कृति की अनेक परम्परायें पतनी होगी। समाज ने अनेक उत्थान-पतन देखे होंगे। अनेक प्रकार के संघर्षों ने जाति की जीवनी शक्ति को अधिकाधिक दृढ़ और सक्षम बनाया होगा और उसमें अनेक प्रकार के साहसों का आधान किया होगा, जिससे कष्टों और कठिनाइयों को सहने हुए भी आर्यजाति ने विकास की दिशा में अधिकाधिक प्रगति करने की क्षमता प्राप्त की। निःसन्देह ऋग्वेद की रचना तथा संकलन ऐसे समय में हुआ होगा, जबकि अनेक युगों में व्यवहित होने के कारण प्राचीन काल के कवियों और आचार्यों के प्रति श्रद्धा और मान्यता की भावना

जागृत हो गई होगी ।^१ जिस प्रकार आज हम वैदिक साहित्य की प्रामाणिकता अंगीकार करते हैं, उसी प्रकार उस समय के कवियों ने भी अपने प्राचीन कवियों के प्रति आभार प्रदर्शित किया और श्रद्धा की भावना अभिव्यक्त की है । हमें ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्राचीनों और नवीनों का उल्लेख मिलता है ।^२ इसी प्रकार प्राचीन रचनाओं के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है^३ और नवीन मन्त्रों को स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है ।^४ अनेक स्थानों पर भूतकाल का प्रयोग किया गया है ।^५ ब्लूम फील्ड ने लिखा है कि ऋग्वेद में लगभग ५००० पंक्तियों में पुनरुक्ति पाई जाती है ।^६ इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार एक ही पवित्र को लेकर आजकल समस्या-पूर्ति की जाती है उसी प्रकार उस समय भी अनेक कवियों ने प्रचलित पवित्र को लेकर समस्या-पूर्ति की होगी । इन सब बातों से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद अनेक परम्पराओं के विकास का फल है ।^७ किन्तु आज उस पूर्ववर्ती रचना का कोई चिह्न अधिगत नहीं होता । अतएव हमें ऋग्वेद को ही विश्व का सबसे प्राचीन मुक्तक संकलन मानना पड़ता है ।

ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व—जिस प्रकार भारतीय रीति-नीति, आचार-विचार, धर्म-दर्शन इत्यादि सभी सांस्कृतिक विषयों का मूल उद्गम एकमात्र वेद ही है उसी प्रकार मुक्तक काव्य का भी मूल स्रोत हमें वेद और विशेष रूप से ऋग्वेद में ही अधिगत होता है ।^८ इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद की ये ऋचाये या कम-से-कम उनमें से कुछ ऐसी अवश्य हैं जिन पर कविता की

१. देखो Discovery of India.

२. यत्र पूर्वे साध्याः मंति देवाः, देवा भागम् यथा पूर्वे संजानाना उपासते, त्वेह यत् पितरिचिन् इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् (७।१८।१) ये च पूर्वं ऋषयः ये च नूतना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन् विप्राः (७।२२।१६) ते चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्तः (७।५३।१) पुरा देवा अन्नवशास आसन् (७।६१।४) त इदेवानाम् सधमाद आसन् ऋतावानः कवयः पुर्यासः (७।७६।६४)

३. भूरि चक्र मरुतः पित्र्याणि उक्थानि ।

४. प्र वाम् मन्मानि ऋचसे नवानि वृतानि इव जुजुषन्निमानि (७।६१।६) । शुचि नु स्तोमं नवजातमथ इन्द्राग्ना वृत्रहणा जुषेथाम् (७।६३।१) ।

५. ऋचः मामानि जज्ञिरे ऋक्षांसि जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाता अजावयः (पुरुष सूक्त) । ब्राह्मणोऽयं मुखमासीत् (पुरुष सूक्त) ।

६. विण्टरनिज—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर वाल्यूम १, अ० १ ।

७. किन्तु खुद ऋग्वेद के पाँछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे हैं, जिनमें सिंधु घाटी की मेसोपोटामिया की और दूसरी तहजीबें पनपी थी । इसलिये यह मुनासिब ही है कि ऋग्वेद में अपने पूर्वजों, ऋषियों और पहले के मार्ग दर्शकों के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है । (टिस्कवरी आफ इण्डिया)

८. सर जार्ज ग्रियर्सन ने मुक्तक काव्य का मूल उद्गम ऋग्वेद से ही माना है । (देखो लालचन्द्रिका की भूमिका) वस्तुतः ऋग्वेद अनेक शताब्दियों तक बिखरे हुए मुक्तक काव्य का संकलन मात्र ही है । (देखो वैदिक एज)

देवी गर्व कर सकती है। यद्यपि काव्य के रूप में ऋग्वेद में परवर्ती उच्चकोटि की रचनाओं की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर है, तथापि उसमें कुछ ऐसी अनिर्वचनीय मुन्दरता ओत-प्रोत है जिसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यद्यपि हमें उच्चकोटि की दार्शनिक विचारधारा के दर्शन ऋग्वेद में नहीं होते तथापि उसमें ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं जिनके सामने परवर्ती दर्शनकारों को भी नतमस्तक हो जाना पड़ता है। जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि न स्वीकार की जावे तब तक कालिदास की परिष्कृत रचना, कपिल की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की आनन्दमयी रहस्यात्मक प्रवृत्ति, व्यास तथा वाल्मीकि की प्रसाद गुण पूर्ण गैली ये सब जो कि अपने में इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, रेगिस्तान की हरी-भरी ढुकड़ियों के रूप में बिखर जायेंगे।^१ महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि ऋग्वेद की २० शाखाएँ हैं।^२ गौनकीय प्रातिशाख्य में ५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है—शाकल, वाष्कल, आश्वालायन, शाखायन और मंडूक। शाकल इत्यादि ऋग्वेद के रचयिता नहीं किन्तु संकलनकर्ता हैं। इसीलिये आश्वालायन गृह्य सूत्र में इनको ऋषि न मानकर आचार्य माना गया है। कहीं-कहीं ऐतरेयी और कौशीतकी इत्यादि दूसरी शाखाओं का भी उल्लेख पाया जाता है और विष्णुपुराण में भी कतिपय शाखा भेद प्रवर्तकों के नाम गिनाये गये हैं।^३ किन्तु इस समय केवल जाका संहिता ही उपलब्ध होती है। आज जब हम ऋग्वेद का नाम लेते हैं तो उसका अभिप्राय इसी शाकल संहिता से होता है। कहीं-कहीं दूसरी संहिताओं के कतिपय सूक्तों अथवा मन्त्रों को परिशिष्ट के रूप में शाकल संहिता में जोड़ दिया गया है। अष्टम मण्डल में वालखिल्य के ११ सूक्त तथा ८० मन्त्र परिशिष्ट रूप में जोड़े हुए हैं। ये और वाष्कल संहिता के लगभग ३६ सूक्त स्थान-स्थान पर बिखरे हुए हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि वालखिल्य के ये ८० मन्त्र और वाष्कल संहिता के ये छोटे-छोटे मन्त्र खण्ड जाकल संहिता में क्यों जुड़ गये? कारण स्पष्ट है। तब हम परवर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं और उसमें यज्ञ-विधि पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञान होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों में यज्ञ की भिन्न-भिन्न विधियाँ प्रचलित थी तथा उन वर्गों में भी परिवारों के अनुसार ही यज्ञों की व्यवस्था होती थी। बाद में जब एक सामान्य विधि के प्रवर्तित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब शाकल सम्प्रदाय में जो वृत्तियाँ ज्ञात होती थी उनको पूरा करने के लिये वालखिल्य तथा वाष्कल शाखाओं में कुछ मन्त्र ले लिये गये। जब हम इतना मान लेते हैं कि वालखिल्य तथा वाष्कल संहिताओं के वे ही मन्त्र शाकल संहिता में ननिविष्ट हो सके हैं जो शाकल शाखा में प्रतिष्ठित थे तथा यज्ञ के काम आते थे, तब यह बात भी स्वभावतः सिद्ध हो जाती है कि शाकल संहिता भी केवल इसीलिये जीवित रह सकी कि वह वर्ग-विशेष में

१. History of Indian Lit. vol I by Winternitze.

२. पर्यशास्त्रिक

३. विस्तृत विवेचन के लिये देखो आर्य विद्या मुशकर

सम्मानित थी दूसरे वर्गों की विधिया और तत्सम्बन्धी साहित्य लुप्त हो गया। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में ऋग्वेद के नाम पर जो साहित्य हमें उपलब्ध होना है, केवल उतना ही ऋग्वेद नहीं है किन्तु कालक्रम से अनेक संहितायें लुप्त हो गई हैं और विशाल साहित्य-राशि का हमें केवल एक अग्रमात्र ही अधिगत हो सका है। इसमें यह भी निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य के अतिरिक्त दूसरे विषयों से सम्बद्ध भी कुछ-न-कुछ साहित्य अवश्य विद्यमान था। धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य एक सम्प्रदाय के द्वारा सुरक्षित रखा जा सका और दूसरे प्रकार का साहित्य अकाल कवनिन हो गया।

यद्यपि ऋग्वेद के सकलन का मूल प्रवृत्ति-निमित्त यज्ञपरक मन्त्रों को सकलित करना ही था और अधिकतर इसी मन्तव्य से मन्त्रों का उपादान हुआ है तथापि इस मग्न में कुछ ऐसे मन्त्र अवश विद्यमान हैं जिनका यज्ञ-विधि तथा पौरोहित्य परम्परा से किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि प्रकृति के अनेक तत्त्व हमें देवत्व से आवृत ही समुपलब्ध होते हैं तथापि कुछ ऐसे भी चित्र विद्यमान हैं जो देवत्व से सर्वथा निर्मुक्त कहे जा सकते हैं। विण्टरनिट्ज ने लिखा है—“बहुत से सूक्त न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये हैं, न अग्निदेव को, न आकाशदेव को, न वायुदेवों तथा जलदेवों को न उषादेवी को ही ये सूक्त अर्पित किये गये हैं, किन्तु स्वयं प्रकाशमान सूर्य रात्रि के आकाश में चमकता हुआ चन्द्र, वेदी या चूहे में उठनी हुई अग्नि की लपटे अथवा मेघों के मध्य से फूटनेवाली बिजली की दीप्ति, दिन का निर्मल आकाश अथवा रात्रि का नक्षत्रों से भरा हुआ आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघों अथवा नदियों में प्रवाहित होनेवाला जल, प्रकाश-मयी उषा और विस्तीर्ण फलवती भूमि इन समस्त प्राकृतिक दृश्यों का कवित्वमय वर्णन किया गया है, पूजा की गई है और प्रार्थनायें की गयी हैं।” जिस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में ऋग्वेद एक बड़ी ही मनोरम और महत्वपूर्ण रचना है उसी प्रकार साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में भी इसका महत्व कम नहीं है। चाहे अवि-वक्षित वाच्य हो चाहे विवक्षितान्य—पर वाच्य के रसध्वनिभाव-ध्वनि अलंकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि में कोई भेद हो, चाहे शब्द शक्तिमूलक ध्वनि हो और चाहे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि हो हमें ऋग्वेद में प्रत्येक के उदाहरण बड़ी ही सुगमता से प्राप्त हो जायेंगे। ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियों का भण्डार है, इसमें कवित्वमय भाषा में अनेक हृदयहारिणी सूक्तियाँ पाई जाती हैं। अतएव परवर्ती काव्य जगत् का ठीक रूप में अध्ययन करने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि ऋग्वेद का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन कर लिया जावे और उसके मूल तत्वों का अनुसन्धान करके यह देखा जावे कि परवर्ती काव्य में उसका किस प्रकार विकास हुआ।

ऋग्वेद— एक अध्ययन

अनादिकाल से मनुष्य का प्रकृति के साथ अविच्छिन्न और अविच्छेद्य सम्पर्क चला आ रहा है। प्रकृति में एक ऐसी रमणीयता ओतप्रोत है, उसमें एक ऐसा आत्म-विभोर करनेवाला आकर्षण विद्यमान है कि मानव उसकी ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है और उसमें अपना हृत्तन्त्री मिलाने में अभूतपूर्व सुख-शान्ति का अनुभव करता है। दृष्टि के प्रसार पर्याप्त अनन्त विस्तृत नीलाकाश, सौन्दर्य-शालिनी सुकुमार उषा का अनुगमन करनेवाला आदित्य, असीम महासागर मनुष्य की अन्तरात्मा के सदा आकर्षण-केन्द्र रहे हैं और मनुष्य ने दुःख और दैन्य से पराजित अपने अन्तस्तल की शान्ति के लिये सदा हा इनका आश्रय लेने की चेष्टा की है। निःसन्देह तापतप्त जगतीतल की शान्ति के निमित्त ही ऋषि ने इस अनुपम रमणीयता को जन्म दिया है और उसका उपभोग भी सहृदय व्यक्ति ही कर सकते हैं। सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों ने इस जादू भरी प्रकृति की सुन्दरता का अनुभव किया था और उसके प्रभाव से उनके हृदय में जिस आनन्द-मरन्द का प्रवाह उमड़ा उससे उन्होंने समस्त भावुकवर्ग को आप्यायित और आप्लावित कर देने की चेष्टा की। उस समय तक नर काव्य का न तो इतना प्राधान्य ही हुआ था और न भौतिक कृत्रिमता की इतनी दृढ़ प्राचीर ही मानव को प्रकृति के सम्पर्क से व्यवहित करने में सक्षम हो सकी थी कि मनुष्य प्रकृति का उसके वास्तविक स्वरूप में निरीक्षण न कर सकता। उस समय प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के संकुचित प्रकोष्ठ में अवरुद्ध होने के लिये बाधित नहीं किया जा सका था। यही कारण है हमें कविता के उस आदिकाल में भी प्रकृति के ऐसे मनोरम और आकर्षक चित्र उपलब्ध होते हैं जो किसी देश-विशेष की नहीं किन्तु सारे विश्व की स्थायी सम्पत्ति है और जिनको काल की सर्वग्राहिणी शक्ति छू तक नहीं सकी है। इस वर्गन में एक शक्ति है, एक सौन्दर्य है, एक सजीवता है, एक सत्य है जो शिव से मेल करती है।

प्राकृतिक वर्णन में सबसे अधिक मनोहर और सबसे अधिक सुकुमार कल्पनायें हमें उषा के प्रवग में प्राप्त होती हैं। एक ओर तो इसकी कोमलकान्त पदावली स्तुत्य है और दूसरी ओर साधारण किन्तु हृदयस्पर्शिनी भावनायें अनोखा चमत्कार उत्पन्न करती हैं। चमचमानी हुई उषा बड़े गर्व के साथ आती है, उस समय वह ऐसी प्रवीण होती है मानो उसका रमणीय कलेवर उसकी माता के द्वारा आभूषित किया गया है, जिसको अपनी पुत्री के सौन्दर्य पर गर्व है, उसने एक नर्तकी के समान भडकीले वस्त्र धारण किये हैं और अपने सुन्दर अंग-प्रत्यंग दर्शकों को दिखलाती हुई आती है। प्रकाश का आभरण धारण किये हुए वह तरुणी पूर्व में दिखलाई देती है और वहीं से अपने सौन्दर्य का जादू दर्शकों के ऊपर प्रसारित करती है। प्राची के आकाश के फाटकों को खोलकर वैय्यात्य के साथ चरण न्यास करती हुई अपना उपमान नहीं रखती। “गौर वर्ण वाली

भलीभांति मजी हुई, अपने मौन्दर्य को समझनेवाली, स्नान करके ऊपर को उठी हुई रमणी की भांति यह आकाश की पृथ्वी उपा द्वेप्य अन्धकार को (अथवा कालुष्य और अन्धकार को) बाधित करती हुई तथा प्रकाश फैलानी हुई हमारे नेत्रों के सामने आकर खड़ी होती है। यह आकाश की पृथ्वी कल्याणरूपिणी मांगलिक वेष धारण करनेवाली किमी पतिव्रता रमणी की भांति सामने आने पर लज्जा से अपना मस्तक झुका लेती है। अपने पूजक को कृतार्थ करती हुई यह नित्ययीवना पूर्ववन् इम समय भी दिन के प्रकाश को लाई है।^१ इसी प्रकार उपा “जलतरंगो की भांति^२ आती हुई दिखलाई देती है।”^३ महान् प्रकाश से शोभित होती हुई अपनी छाती खोल देती है।^४ केवल सौभाग्यशालिनी विस्तीर्ण तथा प्रतिष्ठित उपा को कामल लाल किरणों ही नहीं धारण करतीं किन्तु वह वीर भी है और एक क्षिप्रगामी सैनिक की भांति तथा एक वीर धनुर्धर की भांति अन्धकार का अपसारण भी करती है।^५ उपा अन्नवती है धनवती है और मरण-धर्मरहित है, यह उपा सम्यक् सचरण करनेवाले सूर्य की पत्नी है और अन्धकार को इसी प्रकार समेटती है जैसे कोई तरुणी अपने वस्त्र को लपेट कर रखती है।^६ जिस प्रकार एक रूपवती रमणी सभी के आनन्दमय कौतूहल का कारण बनती है, उसी प्रकार उपा भी सभी को आनन्द देती हुई आती है।^७ इसी प्रकार और भी अनेक मनमोहक चित्र हमें उपा के प्रसंग में प्राप्त होते हैं। हमारे शुद्ध प्राकृतिक वर्णनों में सूर्य, पर्जन्य, मरुत् इत्यादि के वर्णन सम्मिलित है। सूर्य का देवताओं का प्रकाशमान चित्रवर्ण का मुख बतलाया गया है। जो कि मित्र वरुण, अग्नि इत्यादि देवताओं के नेत्र है। वह स्थावर और जगम सभी की आत्मा है और आकाश, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को आवृत करके प्रकाशित होता है।^८ वह प्रकाशित होनेवाली उपादेवी का अनुगमन उमी प्रकार करता है जैसे कोई रसिक किसी रमणी का अनुसरण करता हो।^९ यह सूर्य देव की ही महत्ता है कि फैले हुए कर्मतन्तुओं को शीघ्र ही मध्य ही में समेट लेता है और घोंटो को छोड़ते ही रात्रि अपना नीला आवरण सारे विश्व पर तानने लगती है।^{१०} वैसे ही सूर्य उपादेवी का अनुगमन करते हुए विश्व के समक्ष उपस्थित होते हैं उमी समय:—

यत्र नरो देवयन्तो युगानि,

वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥

मनुष्य कालक्रम से अपेक्षित विधि का सम्पादन करते हुए कल्याणकारक

१. ऋग्वेद V. 40 - 5, 6

३. ऋग्वेद VI—61—1

५. VI—62—3

७. I—48—5

८. I—115—2

२. अपा नोमयः

४. आविर्बद्धाः कृणुते VI—64—2

६. III—64—4

८. I—115—1

१०. III—115—4

कर्म फल के निमित्त मांगलिक स्तोत्रों का पाठ करने लगते हैं।^१ पर्जन्य विषयक सूक्त भी प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण है। 'यह राक्षसों और वृक्षों को तोड़ डालता है। उसकी बलशाली भुजाओं से सारा विश्व भयभीत रहता है।' इसी प्रकार उसके गर्जन की बेल की गर्जना से उपमा दी गई है और सिंहनाद को उत्पन्न करनेवाला बतलाया गया है। वायु का मन्द प्रवाह, बिजली की चमक, आकाश का मेघावरण, पृथ्वी की हरीतिमा इत्यादि का पर्जन्य के साथ विस्तार से वर्णन है। वायु के एक साथ बहते हुए प्रवाह की अज्येष्ठ एकनिष्ठ सगे भाई से तुलना की गई है। वायु के प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से दशम मंडल का १६-वा सूक्त बड़ा ही महत्वपूर्ण है :—

“वायु के रथ की महिमा का क्या वर्णन किया जावे यह सभी स्थावर-जगम समूह को तोड़ते-फोड़ते और वज्र के समान घोष करते हुए चला जाता है। आकाश को स्पर्श करते हुए यह लाल प्रकाश को उत्पन्न करता है और पृथ्वी पर वायु उछालते हुए चलता है। वायु के भोंके जब मिलकर आगे को बढ़ते हैं तब चराचर सभी उसके साथ उसी प्रकार चल देता है जैसे कोई स्त्री मनुष्य समूह के पीछे चल देती है। वायुदेव उसी के साथ एक रथ पर बैठ कर विश्व के सम्राट की भांति वेग से आगे बढ़ते हैं। अन्तर्ग्रिध में मार्ग से चलते हुए कभी एक भी दिन के लिये भी विश्राम नहीं करते। यह जल का मित्र है, प्रथम उत्पन्न हुआ है और सत्यवान नियम का पालन करनेवाला है। यह समस्त विश्व में व्याप्त है और कोई नहीं कह सकता कि कहाँ से उत्पन्न हुआ है और किस प्रकार विश्व में व्याप्त हो गया है। (प्राण रूप में संचरण करने के कारण) यह इन्द्रादि देवों की भी आत्मा है और ससार का गर्भ है तथा स्वच्छन्द विचरण करता है। इस वायु का शब्द ही मुनाई देता है रूप दिखाई नहीं देता.....”

इसी प्रकार के अनेक वर्णन प्रकृति को आलम्बन मानकर किये गये हैं और पारिभाषिक अर्थ में भाव-ध्वनि के क्षेत्र में आकर उत्तम काव्य की श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते हैं। उषा के प्रसंग में शृंगार रस के बड़े ही मनमोहक चित्र हैं और पर्जन्य तथा वायु के प्रसंग में वीर रस की स्थान-स्थान पर बड़ी सुन्दर व्यंजना होती है। किन्तु यहाँ पर शृंगार और वीर ये दोनों रस कवि की प्रकृति विषयक रति के अंग हो गये हैं। अतः ध्वनि काव्य न होकर अपराग गुणी भूत व्यंग्य अथवा प्रेय अनकार ही कहे जावेंगे।

शृंगार रस की प्रधानता हमें सवाद-सूक्तों में प्राप्त होती है। प्रथम प्रसिद्ध संवाद है पुरूरवा और उर्वशी का।^२ ऋग्वेद में सवाद मात्र दिया हुआ है कथा का उन्नयन हमें शतपथ^३ से करना पड़ता है। पुरूरवा मर्त्यथा और उर्वशी अमरा थी। उर्वशी ने पुरूरवा से इस शर्त पर विवाह किया था कि यदि पुरूरवा उसे शय्या के

अतिरिक्त अन्यत्र नग्न दिखलाई पड़ेगा तो वह पुरुरवा का साथ छोड़कर स्वर्गलोक को लौट जावेगी। देव-गण उर्वशी को लौटाना चाहते थे। अतः उन्होंने छलपूर्वक उर्वशा को पुरुरवा का नग्न साक्षात्कार शय्या से अन्यत्रकरा दिया और पूर्वं निश्चय के अनुसार चार वर्ष का आनन्दमय साहचर्य छोड़कर उर्वशी “प्रथम उषा की भाँति” पुरुरवा के पास से चली गई। पुरुरवा ने अन्वेषण करते हुए उर्वशीको एक सरोवर में ऋीडा करते हुए प्राप्त किया। प्रस्तुत सूक्त में पुरुरवा अपनी हृदय-वेदना का वर्णन कर और अपनी करुण दशाँ बतलाकर उर्वशी को लौटाना चाहता है और उर्वशी निरन्तर प्रत्याख्यान करती चली जाती है। इस सूक्त में शृंगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। यद्यपि यहाँ पर पुरुष-प्रवृत्ति रति है किन्तु फिर भी हम इसे रसाभास नहीं कह सकते, क्योंकि पुरुरवा और उर्वशी में दाम्पत्य-भाव है। उर्वशी में पुरुरवा के प्रति द्वेष अथवा औदासीन्य की भावना नहीं है। उसे पुरुरवा से पूर्ण सहानुभूति है किन्तु वह प्रतिज्ञा-बद्ध होने के कारण उसके अनुनय-विनय को स्वीकार नहीं कर सकती। यम-यमी सूक्त रसाभास का अच्छा उदाहरण है। यद्यपि यह रति स्त्री-प्रवृत्ति है तथापि यम-यमी का भाई-बहन का सम्बन्ध इस रति को रसाभास होने के लिये बाध्य कर देता है। यम-यमी भाई-बहन हैं। यमी निर्जन प्रदेश में समुद्र के मध्यवर्ती एक द्वीप में यम से गर्भाधान करने की प्रार्थना करती है और यम धर्म-व्यतिक्रम की बात कहकर उसे ठुकराने हैं। यमी अपनी व्याकुलता अपनी काम-परवशता और अपनी उत्तेजना की बात कहकर यम को द्रवित करने की चेष्टा करती है। पुत्र-प्राप्ति का भी प्रलोभन दिखलाती है, एकान्त स्थान बताकर आशंका का भी निवारण करती है और यह भी बतलाती है कि प्रजापति का भी अनुपेदन प्राप्त हो जावेगा। किन्तु यम अपनी शान्त, गम्भीर प्रवृत्ति के अनुसार निरन्तर निषेध करने जाते हैं। उन्हें भाई-बहन का यह सम्बन्ध उचित प्रतीत नहीं होता और एकान्त स्थान तथा अदृष्ट स्थान की बात को यह कहकर निषेध करते हैं कि ब्रह्मा जी के दून सदा और सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। जब यमी सब प्रकार से निराश हो जाती है और उसके इस कथन का भी यम के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि जिस भाई के होते हुए बहन कष्ट भोगती है वह भाई कुत्सित होता है तब वह यम को कायर, हृदयहीन कहकर पुकारती है किन्तु यम निरन्तर उसे किसी अन्य पुरुष से कामवासना शान्त कराने की सम्मति देते जाते हैं। इस सूक्त में प्रणय निवेदन और उसके प्रत्याख्यान का अच्छा चित्र अंकित किया गया है। ये दोनों विप्रलम्भ शृंगार के उदाहरण हैं। सम्भोग शृंगार के रूप में सूर्या सूक्त के दाम्पत्य प्रेम विषयक मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है। इस प्रकार शृंगार रस के अनेक रूप सुरक्षित हो गये हैं। किन्तु ऋग्वेद का सबसे प्रधान अंश युद्ध वीर से वेष्टित है। इन्द्र विषयक सूक्तों में इन्द्र के उत्साह का वर्णन करते हुए कवि नहीं थकता। आलम्बन के रूप में वृत्र, शम्बर, पणि, पिप्रु, चुमुनि और वचिन इत्यादि अनेक प्रति-द्वन्द्वियों का उल्लेख किया गया है। किन्तु आश्रय की वीरता को अधिकाधिक

प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से आलम्बन की वीरता का वर्णन नहीं किया गया है । युद्ध वीर के साथ ही साथ रौद्र, भयानक इत्यादि कठोर रसों का भी सन्निवेश हो गया है । दान-स्तुति में दम्य इत्यादि की वीरता का वर्णन किया गया है और दया तथा धर्म वीर का तो ऋग्वेद एक महान् संग्रहालय ही है । हास्य रस के प्रसंग में भी मण्डूक सूक्त और शिशुआंगिरस का सोम सूक्त उपस्थित किये जा सकते हैं ।

संलक्ष्य क्रम व्यंग्य की जैसी अनेकरूपता हमें परवर्ती साहित्य में समुपलब्ध होती है उसकी हम ऋग्वेद से आशा ही नहीं कर सकते । किन्तु कतिपय उदाहरण कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन ।

स्वसारंत्वा कृण्वे मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥^१

यहां पर यही व्यक्त होता है कि परिासरया को अपने पक्ष में करना चाहते हैं । इस प्रकार यहां पर स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि है । हिरण्यगर्भ सूक्त की प्रसिद्ध पंक्ति “कस्मै देवाय हविषा विषेम” से ध्वनि निकलती है—अन्य देवता तुच्छ हैं केवल हिरण्यगर्भ ही एक महान् देवता है जो हवि का अधिकारी है ।” यहां पर वस्तु से व्यतिरेकालंकार ध्वनि निकलती है । सरदास ने इसी बात को वाच्य-वृत्ति में कहा है—(और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे ।) विनयपत्रिका में अन्य देवताओं से वैषम्य व्यजना वृत्ति के आधार पर ही स्थापित किया गया है । अलंकार से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र में प्राप्त होता है :—

परा हि में विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये ।

वयो न वसती रूप ॥

यहां पर उपमालंकार से ध्वनित होता है कि कवि का एक मात्र शान्त सुरक्षित और आनन्ददायक आश्रय वरुण देव ही है । इसी प्रकार :—

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यतोरनु ।

इच्छन्तीरुचक्षसम् ॥

से भी वही ध्वनि निकलती है । इस वाक्य में “परिकरांकुर अलंकार भी है । अतः उपमा और परिकरांकुर का अंगंगिमाव संकर है ।” ‘उरुचक्षसम्’ में एक हेतु भी है । अतएव काव्य-लिंग और परिकरांकुर का संदेह भी हो सकता है । यदि यहां पर “वरुणम्” का अध्याहार कर लिया जावे तो यह परिकर अलंकार भी हो जावेगा । निम्नलिखित पद्य विरोधाभास का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है :—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते ।

दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥^२

(१) यह अक्ष नीचे चलते हैं और ऊपर स्फुरित होते हैं । यह विरोध है अक्षों के गिरते ही हृदय में एक घबराहट और उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है । यह

विरोध का परिहार है। (२) इनके हाथ नहीं हैं किन्तु यह हाथ वालों को जीत लेते हैं। यह विरोध है। द्यूतकार पराजित हो जाता है यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। (३) स्वयं शीतल होते हुए हृदय को जलाते हैं। यह विरोध है। हृदय में वेदना उत्पन्न करते हैं इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है। यहां पर अशों को अंगार कहा गया है और अशों से उनका अभ्यवसाय सिद्ध है। अतएव यहां पर रूपकातिशयाक्ति अलंकार है जो कि उक्त विरोधाभास का अंग हो गया है। इस प्रकार यहां पर अंगांगिभाव संकर है।

उपमा अलंकार ही सबसे प्राचीन अलंकार है। ऋग्वेद में उपमायें भरी पड़ी हैं। जिस समय यज्ञ में श्रेणीबद्ध यूप गाड़े जाते हैं और उन पर श्वेत वस्त्र फहराते हुए शोभित होते हैं तथा इतने उठ जाते हैं कि देवों के माग (अन्तरिक्ष) को भी घेर लेते हैं तब ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे श्रेणीबद्ध हंस उड़ रहे हों और उनका शब्द श्रुति-सुखद प्रतीत हो रहा हो। जिस प्रकार धनुष की दो कोटियां प्रत्यंचा से बांधी जाती हैं उसी प्रकार शत्रुओं के बांधने की बात कही गई है। इसी प्रकार 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठः' की उपमा भी सुन्दर है। कहीं-कहीं उपमा माला-रूप में भी पायी जाती है :—

बलवान् इन्द्र संग्रामों में तरणि है घोंड़े के समान है, आकाश और पृथ्वी में व्यापक होने वाले मेघ के समान है। यज्ञ के कार्य में पूषा देव के समान है और स्तोताओं के लिये पिता के समान है। यहां पर इन्द्र को अनेक उपमायें दी गई हैं तथा तरणि में रूपक भा है। यहां पर इन दोनों में एकाग्रयानुप्रवेश संकर है।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवाविषुः ॥^१

यहां पर वाचक लुप्तोपमा है। अथवा मण्डूक में व्रतधारी ब्राह्मण का आरोप किया गया है और उसमें दोनों का बोलना निमित्त है। अतएव श्लिष्ट शब्द निबन्धन रूपक भी कहा जा सकता है और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक धर्म में सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता हो सकती है। इस प्रकार इन अलंकारों का यहां पर सन्देह संकर है। इसी प्रकार :—

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।

अत्रा नो विप्रतिः पिता पुराणां अनु वेनति ॥ १०-१३५-१

यहां पर भी वाचक लुप्तोपमा और रूपक का संकर है। यदि 'यस्मिन्' को स्थान-वाचक न मान कर वृक्ष का विशेषण माना जावे तो रूपकातिशयोक्ति अलंकार भी हो सकता है।

वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं हहेम । ३-८-११

यहां पर दीपक अलंकार है। दान-महिमा-वर्णन में निम्नलिखित मन्त्र दीपक का एक अनूठा उदाहरण है :—

कृषन्ति फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमय वृद्धे क्ते चरित्रैः ।

वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृथन्नापिरपृणन्तमभिध्यात् ॥ १०-११७-७

“जोत कर के फाल कृषक को भोक्ता बनाता है, मार्ग में चलते हुए मनुष्य अपने कर्म के द्वारा स्वामी के लिये धन प्राप्त करता है, शास्त्रार्थ करते हुए ब्राह्मण शास्त्रार्थ न करने वालों को आनन्द देता है । परोपकारक दानी व्यक्ति दान न देने वालों का बन्धु हो जाता है ।” “कलात्मक सौन्दर्य के लिये श्लेष का प्रयोग भी यत्र-तत्र पाया जाता है । जैसे :—

याजामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन् ।

अच्छा पुत्रं धेनुवो वाचशानाः महश्चरन्ति बिभ्रतं वपुर्वि ॥

यहाँ पर कई शब्दों के तीन-तीन अर्थ हैं (१) जामयः—औषधियाँ, किरणें और पत्नी । (२) वृष्णः—जल बरसाने वाला इन्द्र, जल बरसाने वाला सूर्य और गर्भाधान की शक्ति रखने वाला पुरुष । इसी प्रकार शक्ति से भी विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ अभिप्रेत हैं । मन्त्र का विश्वेदेव देवता है । अतः सूर्य और इन्द्र परक अर्थ तो प्राकरणिक हो गये । दोनों अर्थों को एक साथ जोड़ने के लिए श्लेष मूलक तुल्य योगिता माननी पड़ेगी । इन दोनों अर्थों में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर एक तीसरा पत्नी परक अर्थ उसमें उपमा हो जायेगा । इस प्रकार यह उपमा अलंकार ध्वनि का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है और उसमें धेनु की वाच्योपमा उसका सौन्दर्य और भी बढ़ा देती है । दोनों (व्यंग्य और वाच्य) उपमाओं का अंगंगि भाव संकर हो जाता है । इस प्रकार इस पूरे वाक्य का यह अर्थ होगा—“जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पति में गर्भाधान की शक्ति को चाहती हैं और धेनुओं के समान सुन्दर पुत्र की कामना करती हुई उनके सामने नम्र हो जाती हैं तथा गर्भ को प्राप्त किया करती हैं । बाद में सुन्दर स्वरूप धारण करने वाले महत्वपूर्ण पुत्र को प्राप्त कर लेती हैं इसी प्रकार औषधियाँ इन्द्र में गर्भाधान (वर्षा द्वारा सेचन) की शक्ति को चाहती हैं और उनके सामने नम्र होकर गर्भ को धारण करती हैं तथा समय आने पर व्रीहि, यव, नीवार इत्यादि को प्राप्त कर लेती हैं अथवा उसी प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य में गर्भाधान (जल को खींचने) की शक्ति को चाहती हैं और नम्र होकर उससे गर्भ भी प्राप्त कर लेती हैं तथा समय आने पर मेघ-रूपी सुन्दर पुत्र को भी प्राप्त कर लेती हैं ।” इसी सूक्त का दूसरा उदाहरण है :—

प्रमे विविक्वां अविदन्मनीषां धेनुं चरन्तीं प्रयुतामगोपाम् ।

सद्यश्चिच्छा दुदुहे भूरि धासेरिन्द्रस्तदग्निः पनितारो अस्याः ॥ ३-५७-१

यहाँ पर भी इन्द्र और अग्नि की एक साथ प्रार्थना में गाय और बाणी का श्लेष है और उसमें रूपकातिशयोक्ति का अंगंगि भाव संकर है ।

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मधोनि ।

पुराणो देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥ ३-६१-१

यहां पर उषा के लिये “वाजेन वाजिनि” (अन्न के कारण अन्नवाली) और मघोनि (धनवाली) तथा “विश्ववारे” (सबके द्वारा वरण करने योग्य) यह विशेषण दिये गये हैं जो स्तुति के औचित्य का समर्थन करते हैं। अतएव साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है। “पुराणी” और “युवतिः” में विरोधाभास भी है। इनका यहां पर एकाश्रयानुप्रवेश संकर है। इस प्रकार भावात्मक और कलात्मक दृष्टि से ऋग्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

किन्तु ऋग्वेद का बड़ा महत्त्व इस बात में है कि हमें इसमें विश्व के धर्म-दर्शन और पौराणिक उपाख्यानों का मूल उद्गम प्राप्त होता है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से यास्क ने वर्ण्य विषय को तीन भागों में विभक्त किया है—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक। प्रत्यक्षकृत उन ऋचाओं को कहते हैं जिनमें सुबन्त विभक्तियों का प्रयोग किया गया हो और प्रथम पुरुष के द्वारा उनका आख्यान किया जावे। इस प्रकार के मन्त्रों में देवताओं की लोकोत्तर शक्ति का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के वर्णन में इन्द्र विषयक सूक्तों का प्राधान्य है। इन्द्र के श्वास लेने से ही उनकी महत्ता और पौरुष के कारण पृथ्वी और आकाश दोनों कांप उठे, इन्द्र ने पृथ्वी को दृढ़ किया और घूमने वाले पर्वतों को स्थिर किया, उत्तम अन्तरिक्ष को चारों ओर फैलाया उसने आकाश को स्थिर किया। (२-१२-१.२) इन्द्र के लोकोत्तर कर्मों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, सात नदियों को प्रवाहित करना, अहि का वध इत्यादि अनेक लोकोत्तर कर्मों का वर्णन मिलता है। “हे मनुष्यो तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसका लोकोत्तर प्रभाव शत्रुओं के तेज को नष्ट कर देता है और पृथ्वी को चारों ओर अभिभूत करता है, जो इन्द्र मनुष्यों को धारण करने वाला है, समुद्र से भी अधिक विशाल है और अन्धकार को वारण करने वाले अपने तेज से पृथ्वी और आकाश को परिपूरित कर रहा है। (१०-८६-१) जब इन्द्र रक्षा करता है तभी विजय-लाभ होता है और इन्द्र के कुपित होने पर पराजय निश्चित है। त्रित्सुओं की जब इन्द्र ने रक्षा की तब वे विजयी हुए और जब इन्द्र ने कोप किया तब वे पराजित हो गये। (७-१८-१५) इस प्रकार वीरता और पराक्रम का अतिरंजित कवित्वमय वर्णन इन्द्र तथा दूसरे देवताओं के प्रसंगों में किया गया है। यही परोक्षकृत मन्त्रों के नाम से निरुक्त में अभिहित किये गये हैं।

यास्क ने दूसरे प्रकार के मन्त्र प्रत्यक्षकृत मन्त्रों के नाम से अभिहित किये हैं। इन मन्त्रों में मध्यम पुरुष तथा त्वम् इस सर्वनाम का प्रयोग हुआ करता है। इन मन्त्रों के द्वारा ऋषि देवता से लौकिक सुख-समृद्धि देने की प्रार्थना करता है। “हे इन्द्र हम से युद्ध करने वाले शत्रुओं का नाश कर दो, जो सेना की इच्छा करते हैं या हम से युद्ध करना चाहते हैं उन्हें नीचे गिराओ। (१०-१५२-४) जो शत्रु हमें क्षीण कर रहा हो उसे निकृष्ट अन्धकार में ले जाओ। हे अग्नि देव ! यह समिधा तुम्हारा ईंधन है तुम इससे बढ़ो और प्रदीप्त होओ तथा हमें भी बढ़ाओ और प्रदीप्त करो। सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न इत्यादि के द्वारा हमारी वृद्धि

करो।" इस प्रकार के मन्त्रों की प्रधान ध्वनि लौकिक सुख की प्राप्ति ही है और अधिकतर निरपेक्ष स्वार्थमयी कामनायें भी प्रधान हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के मन्त्रों में उदात्त भावनायें दृष्टिगत होती ही नहीं। अनेक स्थानों पर विश्वमंगल की कामनायें की गयी हैं, राष्ट्रोन्नति के गीत गाये गये हैं और सर्वसाधारण के लिये अपेक्षणीय सद्गुणों को प्राप्त करने और दुर्गुणों का बहिष्कार करने की प्रार्थनायें समुपलब्ध हाती हैं। लोक-मर्यादा के पालन करने के लिये देवताओं को भी पराधीन बतलाया गया है और इस प्रसंग में ऋत की प्रशंसा तथा अनृत की निन्दा अनेक बार की गई है। समस्त प्राणियों के प्रति सद्भावना वैदिक सम्प्रदाय का मुख्य धर्म है। किन्तु जो लोग ऋत मार्ग का उल्लंघन करते हैं उनको कठोर-से-कठोर दण्ड देने की प्रार्थना की गई है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक ऋषि में न तो समर्पण बुद्धि है और न आत्मगर्हणा की भावना ही है जिसका हमें परवर्ती साहित्य में प्राधान्य प्राप्त होता है। यहां एक हाथ देने और दूसरे हाथ लेने का सिद्धान्त अपनाया गया है। गीता के "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः" वाले सिद्धान्त के पूर्ण दर्शन हमें इस महान् संकलन में होते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वेद में प्रायः सख्य-भाव की भक्ति ही समुपलब्ध होती है। वैदिक ऋषि जब अपने यज्ञ का समुचित पुरस्कार प्राप्त नहीं कर पाता तब स्पष्ट शब्दों में कह सकता है कि "हे शक्ति के पुत्र और घृत से हवन किये हुए अग्निदेव ! यदि तुम मनुष्य होते और मैं मित्र के समान देव होता तो हे वसो न तो मेरा स्तोता शाप का पात्र ही बनता न वह बुद्धिहीन होता, न शत्रु होता और न अशोभन बुद्धि से ही बाधित होता।" (३-१६-२५, २६) उसी प्रकार—“हे इन्द्र जैसे तुम अकेले ही समस्त सम्पत्ति के अधिकारी हो उस प्रकार यदि मैं होता तो मेरा स्तोता सदा गायों का स्वामी बना रहता। हे शचीपते ! यदि मैं तुम्हारी ही भांति गोपति होता तो अपने मनीषी स्तोता को धन प्रदान करने की इच्छा करता और यथेष्ट धन देता भी। हिन्दी के भक्ति युग में इस प्रकार की सख्य-भाव की भक्ति की प्रधानता रही है। सूरदास और बिहारी ने भगवान् के विरुद्ध को ललकारा ही है। तुलसीदास तो सबसे आगे बढ़कर भगवान् का पुतला ही निकालने लगे।

यास्क ने तीसरे प्रकार के मन्त्रों को आध्यात्मिक कहा है। परन्तु आध्यात्मिक शब्द का प्रचलित अर्थ यास्क को अभिप्रेत नहीं है। इस श्रेणी में यास्क ने शपथ और अभिशप के मन्त्रों को रखा है तथा किसी भाव-विशेष का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों को भी इसी श्रेणी में सन्निविष्ट किया है जैसे “उस समय न तो मृत्यु ही थी न अमरता ही।” (१०-१२६-२) अथवा “पहिले अन्धकार अन्धकार से ही आवृत था।” (१०-१२६-३) इसा श्रेणी में परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा को भी सन्निविष्ट किया गया है। ज्ञात होता है यहां पर यास्क का मन्तव्य उन मन्त्रों से है जिन पर व्यक्तिगत छाप पड़ी हो। इस प्रकार के मन्त्र ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आते

हैं। विश्वामित्र का नदी विषयक सूक्त तथा वशिष्ठ द्वारा मुदास के दस राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के मन्त्र इस श्रेणी में आ सकते हैं। इसी श्रेणी में वशिष्ठ द्वारा रोगनिर्मुक्त के लिये की हुई वरुण की प्रार्थना भी आ सकती है। हमें ज्ञात है कि बाहु पीड़ा के अवसर पर तुलसीदास जी ने हनुमद्वाहुक बनाया था और “बीसी विश्वनाथ की” के अवसर पर विनयपत्रिका की रचना की थी। सम्भवतः इस प्रकार के मन्त्र विशेष अवसरों पर लिखे गये थे। इस विषय में वैदिक ऋषि की दृढ़ता भी प्रशंसनीय है—“आपकी प्रशंसा करने के कारण लोग चाहे मेरी निन्दा करें या प्रशंसा, चाहे मुझे निकल जाने को कहें किन्तु मैं तुम्हारी ही शरण पड़ा रहूँगा।” (१-४-५, ६) सूर में भी कुछ ऐसी ही दृढ़ता पाई जाती है—“सूर तबहु न द्वार छोड़े डारिहो कढराय” बिहारी तो भक्ति के उद्देश्य से कुटिलता भी छोड़ने को उद्यत नहीं हैं।

करो कुबनु जगु कुटिलता तजौ न दीनदयाल।

दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल॥

लोकोत्तर चमत्कार और आनन्दानुभूति के साथ प्रशस्त जीवन का उपदेश देना भी कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अनादि काल से कवि अपने विश्व को अधिक संस्कृत, अधिक सुव्यवस्थित और अधिक कर्तव्यपरायण बनाने की चेष्टा करते आये हैं और इस कार्य के लिये एक ओर तो कलात्मक और भावात्मक चमत्कार का आस्वादन कराते हुए मधुमती भूमिका में पहुंचाने की चेष्टा की गई है और दूसरी ओर वाच्य-वृत्ति के द्वारा भी सदाचार का प्रतिपादन किया गया है। कहीं-कहीं कवि देवताओं में अपेक्षित गुणों का आधान कर और सदाचार के लिये देवताओं को भी पराधीन बता कर सदाचार का महत्त्व स्थापित करता है दूसरी ओर अपने दोषों का उल्लेख कर उनके दूर करने की प्रार्थना करता है। इस प्रकार की सूक्तियों का मन्तव्य सर्वसाधारण में सद्गुणों का प्रचार करना ही होता है। कहीं-कहीं कवि आदेशात्मक भाषा में भी उपदेश देने की चेष्टा करता है। ऋग्वेद में इस प्रकार की सूक्तियां अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं। विश्व-मंगल की भावना और राष्ट्रोन्नति के गीतों के साथ अनेक स्थानों पर सर्वसाधारण के लिये अपेक्षणीय सद्गुणों का वर्णन किया गया है और दुर्गुणों के निराकरण की प्रार्थनायें की गई हैं। इस प्रसंग में ऋत की प्रशंसा और अनृत की निन्दा अनेक बार आई है। “हे मरुत पवित्र आपके लिये हमारी आहुतियां भी पवित्र हों। पवित्र आपके लिये हम पवित्र यज्ञ प्रेरित करते हैं। पवित्र से जन्म लेने वाले स्वयं पवित्र और दूसरों को भी पवित्र करने वाले मरुत सत्य जल का स्पर्श करते हुए सत्य से ही सत्य को प्राप्त होते हैं।” (४-५६-१२) “पापियों की वही दशा होती है जो अभातृका स्त्रियों की होती है। जिस प्रकार उन्हें पति का घर छोड़कर पिता के घर जाना पड़ता है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी यज्ञादि के सत्य मार्ग को छोड़कर असत्य मार्ग पर चलते हैं। जिस प्रकार पति से द्वेष करने वाली स्त्रियां दुष्ट दुराचारिणी हो जाती हैं उसी प्रकार वे पापी भी मानसिक और वाचिक

सभी प्रकार के सत्य से रहित होकर पापियों द्वारा अनुभव किये हुए गम्भीर और अगाध नरक में पड़ते हैं।” (४-५-५) यज्ञ भी सत्य रूप है इसीलिये यज्ञ करना भी परम धर्म माना गया है। हमें ज्ञात है कि भारतीय मनीषियों ने विश्व को यज्ञ-मय देखा था :—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ (गीता)

इस प्रकार की सूक्तियों की दृष्टि से द्यूतकार सूक्त (१०-३४) अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस सूक्त में द्यूत के दोषों पर अत्यन्त सबल भाषा में प्रकाश डाला गया है। “मेरी पत्नी मुझ पर कभी क्रोध नहीं करती थी और न मुझे कभी लज्जित ही करती थी। मेरे मित्रों के प्रति और मेरे प्रति वह कितनी उदार और कल्याणकारिणी थी। केवल द्यूत के लिये ही मैंने अपनी प्रियतमा सती साध्वी पत्नी का तिरस्कार कर दिया। मेरी सास मुझसे घृणा करती है। प्रियतमा तिरस्कार करती है, प्रार्थना करने पर भी मुझ दुःखी से सहानुभूति दिखलाने वाला कोई नहीं मिलता। जिस प्रकार वृद्ध अश्व का मूल्य बाजार में नहीं मिलता उसी प्रकार मुझे कितवपन का उपभोग प्राप्त नहीं होता। जिसके धन को अश्वदेव ने ले लेने की इच्छा की उसकी पत्नी का साथ कोई और ही करता है। पिता-माता और भाई कहते हैं इसे ले जाओ, हम इसे नहीं जानते।” इसके बाद कलात्मक शैली में द्यूत के दोष दिखलाये गये हैं—“यह अश्व नीचे को चलते हैं, किन्तु ऊपर को स्फुरित होते हैं (द्यूतकार के हृदय पर रेंगते हैं) बिना हाथ के भी हाथ वालों को पराजित कर देते हैं। जब यह ईधन रहित प्रदेश में अंगारों के समान फेंके जाते हैं तब शीतल होते हुए भी हृदय को जलाकर राख कर देते हैं।” फिर द्यूतकार की दुर्दशा का वर्णन है—“द्यूतकार की पत्नी उसके द्वारा परित्यक्त होकर संताप करती है। माता उसके स्वच्छन्दचारी होने के कारण खिन्न रहती है। वह ऋणी रहता है, भय करता है, पैसों की खोज में रहता है और रात में उसे दूसरों के घर जाना पड़ता है। जब वह किसी स्त्री को देखता है तब दुखी होता है, जब दूसरे की पत्नी तथा उसके भरे-पूरे परिवार को देखता है तब उसे संताप होता है, प्रातः होते ही उन लाल घोंडों को जाँत देता है और शाम होते-होते एक भिखारी बनकर सो जाता है।” अन्त में—“हे द्यूतकारी, अब तुम द्यूत मत खेलना अब तुम खेत ही जोतो और अपने धन को ही बहुत समझकर उससे प्रेम करो। हे धूर्तों। खेती से ही गायें मिलती हैं, उसी से स्त्री मिलती है यह बात मुझसे सबके प्रेरक सूर्य देव ने कही है।”

हृदय में रहने वाली पशुताओं के निराकरण की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है :—

उलूकयातुं शुश्रूलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।

स्रपणयातुमुत गृध्रयातुं दूषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥

(ऋ० ७-१०४-२२)

“हे इन्द्र देव ! हम लोगों में उलूक के समान मोह, भेड़िये के समान क्रोध, कुत्ते के समान पारस्परिक द्वेष, कोक पक्षी के समान काम वासना, मोर के समान मद और पशु के समान लोभ—ये छः पशुतायें निरन्तर बनी रहती हैं। आप इन्हें इसी प्रकार नष्ट कर दीजिये जिस प्रकार पत्थर से (कच्चा घड़ा) नष्ट कर दिया जाता है।” सारे विश्व की मंगल-कामना का एक उदाहरण :—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतायै ॥

(अ० १६—६२—१)

“केवल देवताओं का प्रिय मत करो और न केवल राजाओं का प्रिय करने की चेष्टा करो। अपितु सभी की मंगल-कामना करो फिर चाहे वह शूद्र हो चाहे आर्य हो।” इसी प्रकार—“हमारे जीवन में मधुरता का पूर्ण संचार हो, हमारा मिलन मधुरतामय हो, हमारा वियोग मधुरतामय हो, हम वाणी से मधुर भाषण करें और हमारी दृष्टि भी मधुरिमाययी हो जावे।”

अनेक स्थानों पर लौकिक जीवन की सफलता के उपदेश दिये गये हैं और इसके लिये संगठन अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। ऋग्वेद का अंतिम सूक्त इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। “तुम्हारा सकल्प और अध्यवसाय समान हो, तुम्हारे हृदय समान हो और तुम्हारा मन समान हो, जिससे तुम्हारा सौहित्य शोभनीय हो जावे।” “हे मनुष्यो ! तुम मिलकर चलो, मिलकर बातचीत करो, मिलकर दूसरे के विचार प्राप्त करो ! जिस प्रकार पहिले के देव एक साथ मिलकर ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने-अपने भागों को प्राप्त करते हैं। इसा प्रकार परिण और सरमा का सवाद सूक्त भी भौतिक स्वार्थ-साधन की दिशा में अच्छा उदाहरण है। कही-कही स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के विषय में भी अच्छी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। जैसे उर्वशी का पुरूरवा से कथन—“हे पुरूरवा ! तुम आत्महत्या न करना, न नष्ट ही हो जाना और न हानिकारक भेड़िये ही तुम्हें खा जायें। याद रखो स्त्रियों की मंत्री कभी स्थायी नहीं होती। स्त्रियों का हृदय उतना ही कठोर और निर्मम होता है जैसा कि बछड़े इत्यादि को छलपूर्वक मारने वाले अन्य पशुओं का हुआ करता है।

धर्मोत्तर काव्य में दूसरे प्रकार के सूक्त दान-स्तुति के हैं। इन सूक्तों में परवर्ती राजघरानों के कवियों के समान ही यजमानों के दान का अतिरंजित वर्णन किया गया है। कक्षीवान् ऋषि का सिन्धु प्रदेश के शासक भाव्य के दान की प्रशंसा का सूक्त इसी बात को प्रकट करता है। (३—१२६) राजा के सहस्र सामेयागों में पुरोहित बनाने की मी मुद्रा, सौ अश्व, सौ गायें इत्यादि देने की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार इसी सूक्त में स्वनय के द्वारा श्याम अश्व और वधुओं (सम्भवतः दासियों) सहित दस रथ और साठ हजार गायों के प्राप्त करने की बात कही गई है। अष्टम मंडल में कुरंगक राजा की दानशीलता की प्रशंसा की

गई है। (८—४—१६) इसी प्रकार और भी अनेक दानों का वर्णन किया गया है। यह मन्त्र साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं कहे जा सकते। किन्तु दान-स्तुतियों में भिक्षु नामक आंगिरस ऋषि का सामान्य दान की प्रशंसापरक सूक्त निस्सन्देह उच्चकोटि का है। “देवताओं ने भूख को मनुष्य को मारने के लिये नहीं बनाया, क्योंकि परिपूर्ण भोजन किये हुए व्यक्ति को प्रायः मृत्यु प्राप्त हो जाती है। दाता का धन सर्वदा समाप्त ही नहीं हो जाता किन्तु कृपण को कभी कोई सुखदायक नहीं मिलता।” सूक्त के अग्रिम भाग में भी इस बात पर बल दिया गया है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उदार बनना चाहिये। इसी प्रसंग में धन की अस्थिरता भी बतलाई गई है और जो एकाकी भोग करता है उसको पापी तथा मूर्ख कहा गया है। “उसका धन प्राप्त करना व्यर्थ है.....वह उसके लिये बध ही है। ऐसा व्यक्ति अपने धन से न तो किसी मित्र को और उससे देवों को ही प्राप्त कर पाता है।” इस प्रकार दान सूक्तों में एक ओर दानियों की प्रशंसा और दूसरी ओर दान की महिमा इन दोनों का वर्णन प्राप्त होता है।

जिस प्रकार कबीर की उलटवांसियां और सूर के दृष्टिकूट प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद में कतिपय पहेलियां मिल जाती हैं। इस दृष्टि से सूक्त १—१६४ ध्यान देने योग्य है। उदाहरण के लिये—“यह जो चमक रहा है। आरोग्य के लिये जिसकी उपासना करना आवश्यक है, जो पालक है, जिसका आह्वान करना उचित है, इसका मध्यम भ्राता सर्वत्र व्याप्त है, इसके तीसरे भाई की पीठ पर घी रहता है, इस सात पुत्रों वाले प्रजा के स्वामी को हम जानते हैं।” सम्भवतः यहां पर सूर्य से अभिप्राय है, जिसकी किरणें स्वास्थ्यवर्धक होती हैं और जो मेघ इत्यादि के द्वारा जगतीतल का पालक है। इसका मंभला भाई वायु बतलाया गया है, क्योंकि वह बीच में रहता है और अपहरण किये हुए जल का सांभोदार होता है। तीसरा भाई अग्नि है, क्योंकि वह भी सूर्य के प्रकाश का भाग लिया करता है। सूर्य के सात पुत्र उसकी सात रंगों की किरणें हैं।

“एक चक्र वाले रथ में सात घोड़े जुते हुए हैं, इसे सात नामों वाला एक घोड़ा खींचता है, इस अजर, अमर और सदा गतिशील पहिये में तीन नाभि हैं जिसके ऊपर सारा विश्व विद्यमान रहता है ”

सम्भवतः यहाँ पर भी सूर्य के रथ का ही अभिप्राय है। सात वर्णों वाली किरणों को घोड़ा माना गया है। अथवा यज्ञ का रथ है और उस के सात पुरोहित घोड़े हैं। इस रथ की तीन नाभि तीन ऋतुयें हैं, सभी के इस रथ पर आरूढ़ होने का आशय यह है कि सभी इस सूर्य के कारण जीवन निर्वाह करते हैं। इसी प्रकार “जिसने उसकी रचना की वह उसको बिल्कुल नहीं जानता। जिसने उसे देखा है उसी से वह छिपा हुआ है, वह माता के गर्भ में छिपा हुआ पड़ा है, उसके अनेक पुत्र हैं फिर भी उसका समूल नाश हो गया है।”

“दा पक्षी एक साथ मिले हुए मैत्री के साथ रहने वाले, एक ही वृक्ष पर

बैठे हैं उनमें से एक पके हुए स्वादिष्ट फलों को खा रहा है और दूसरा न खाते हुए भी उस को देख रहा है ।”

“एक रथ में बारह घुमाव हैं, एक चक्र है, तीन नाभि हैं, और तीन सौ साठ घूमने वाले तार हैं ।” यहाँ पर स्पष्ट ही बारह महीने, एक वर्ष, तीन ऋतु और तीन सौ साठ दिनों का उल्लेख है ।

“आकाश मेरा पिता है और मुझे जन्म देने वाला है, यहाँ पर नाभि है माता महता पृथ्वी है, ऊपर को उठी हुई दो चमुओं (सेनाओं अथवा सोम पात्रों) के बीच में पिता ने पुत्री के गर्भ धारण किया ।” यहाँ पर पर्जन्य का पृथ्वी में गर्भ धारण करने का वर्णन है । इसी प्रकार की अनेक पहेलियाँ इस ग्रंथ में मिलती हैं । यही वैदिक मुक्तक काव्य के वर्ण्य विषय का संक्षिप्त परिचय है ।

उपयुक्त विवेचन और विश्लेषण के आधार पर सिद्ध होता है कि ऋग्वेद की रचना और संकलन की आधारभूत निम्नलिखित ५ प्रवृत्ति—निमित्त विद्यमान हैं :—

(१) रसात्मक काव्य—यद्यपि ऋग्वेद के संकलन का मूलाधार धार्मिक तथा पीरोहित्य परम्परा में प्रतिष्ठित सूक्तों का संकलन करना ही था तथापि इसके विशाल कलेवर में शुद्ध भावात्मक और कलात्मक सूक्त भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं । इस प्रकार के सूक्तों का प्रवृत्ति-निमित्त एकमात्र रसात्मक आस्वादन ही है । अतः हम इस प्रकार के काव्य को रसात्मक काव्य कह सकते हैं । यहाँ पर रसात्मक शब्द उपलक्षण मात्र है जिससे सब प्रकार के भावात्मक और कलात्मक काव्य का संकलन हो जाता है ।

(२) धार्मिक काव्य—धार्मिक साहित्य में प्रचुरता ऐसे ही सूक्तों की है जो यज्ञ-विधि के लिये उपयुक्त हैं । ऐसे सूक्त काव्यात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते । किन्तु कुछ ऐसे भी सूक्त विद्यमान हैं जिनमें धार्मिक भावना को काव्यात्मक रूप दिया गया है । इस प्रकार के सूक्तों को हम धार्मिक मुक्तक कह सकते हैं । इस प्रकार के सूक्तों को, यास्क ने प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक—इन तीन वर्गों में विभाजित किया है । यह विभाजन युक्ति-युक्त और समीचीन है तथा इसमें समस्त धार्मिक काव्य का समाहार हो जाता है ।

(३) सूक्ति-काव्य—उपदेशात्मक सूक्तों को सूक्ति या सुभाषित काव्य के नाम से अभिहित किया जा सकता है । इस में लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षा का अभिधान काव्य की अनुरञ्जनकारिणी भाषा में किया जाता है और इसमें गुड़मिश्रित औषधि का भाँति चमत्कार उत्पन्न करते हुए सदुपदेश दिया जाता है । विद्वानों ने इस प्रकार के सूक्ति-काव्य को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है :—

(प्र) धार्मिक सूक्ति—इसमें सत्य, त्याग, उदारता, अहिंसा इत्यादि धर्म

के मूल तत्वों का उपदेश रहता है। धार्मिक सूक्ति और धार्मिक काव्य इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। धार्मिक सूक्ति में सदाचार सम्बन्धी सर्वजनीन मूल सिद्धान्तों का उपादान होता है और धार्मिक काव्य में विशिष्ट धर्म से सम्बन्ध रखने वाले उपास्यों की महत्ता, उनसे समीहित प्राप्ति की आशंसा और व्यक्तिगत निवेदन, तत्व निरूपण इत्यादि का कथन किया जाता है। यही दोनों का भेदक तत्व है।

(आ) आर्थिक सूक्तियाँ—भारतीय साहित्य में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल वित्त सम्बन्धी विषय ही नहीं आते। किन्तु उनमें लोक-वृत्तानुकूल उपदेश भी रहते हैं और यह भी प्रतिपादन रहता है कि एक व्यक्ति अपने भौतिक जीवन में सफलता किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। कहीं-कहीं लोक की सामान्य स्वार्थमयी प्रवृत्ति का उल्लेख करके पाठक को उसके प्रति जागरूक किया जाता है और कहीं-कहीं स्वार्थ-साधन के उपायों का भी विवेचन किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की सूक्तियाँ सर्वदा धर्मानुकूल ही हों किन्तु यदि ये धर्मानुकूल भी होती हैं तो भी इनमें स्वार्थ-वृत्ति ही काम्य होती हैं, धर्म-भावना गौण होती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इन सभी प्रकार की सूक्तियों का समावेश होने के कारण इनको आर्थिक सूक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। किन्तु इनको व्यावहारिक सूक्ति कहना अधिक समीचीन हो सकता है।

(इ) कामपरक सूक्तियाँ—इस प्रकार की सूक्तियों में स्त्री पुरुष सम्बन्ध के विषय में कुछ मौलिक तथ्यों का प्रस्फुटन किया जाता है। यह तथ्य स्वभाव सम्बन्धी भी हो सकते हैं और प्रभाव सम्बन्धी भी। रमात्मक काव्य (शृंगार रस) से इनमें यह भेद होता है कि रमात्मक काव्य में विभाव-अनुभाव इत्यादि का आश्रय लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है और या तो प्रसिद्ध प्रतीकों द्वारा या काल्पनिक अनुमेय प्रतीकों के आधार पर रसचर्चणा की जाती है तथा व्यक्तिगत क्षेत्र से सर्वसाधारण परिस्थिति में पहुँचाया जाता है जब कि कामपरक सूक्तियों में प्रतीक की आकांक्षा नहीं होती और न व्यक्तिगत उद्भावना ही अभीष्ट होती है। केवल स्वभाव या प्रभाव सम्बन्धी तथ्यों का उद्घाटन ही कर दिया जाता है।

(४) प्रशस्ति काव्य—भारतीय साहित्य और समाज में दानशीलता सर्वदा महत्त्वपूर्ण रही है। सम्पत्ति के उपार्जन और सचय का भार यद्यपि सर्वदा वर्ग-विशेष का ही दायित्व रहा है तथापि सम्पत्ति पर किसी वर्ग का एकाधिकार कभी नहीं माना गया। किन्तु धार्मिक वृत्ति के आधार पर दानशीलता को प्रोत्साहन देकर इस भावना का निर्वाह किया जाता रहा है, इसके लिये वैधानिक आश्रय की आवश्यकता का कभी अनुभव नहीं किया गया। केवल दानशीलता ही नहीं, सामाजिक सुव्यवस्था के लिये जो वीर वृत्ति अपेक्षित होती है उसका संरक्षण, प्रवर्धन और प्रत्यभिनन्दन भी कवि-कर्म का एक प्रधान अंग रहा है। इसी प्रकार

दान-वृत्ति और वीर-वृत्ति में प्रवृत्त महानुभावों का अनुरञ्जन भी अपेक्षित होता है। अतएव राजा लोगों के सौन्दर्य की प्रशंसा और उनके प्रति अंगनाओं का आकर्षण भी दिखलाया गया है। इस प्रकार के वर्णन में अधिकतर अत्युक्ति ही प्रयुक्त होती रही है। इस प्रकार इस वर्णन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : (१) दानशीलता का वर्णन, (२) वीरता का वर्णन, और (३) सौंदर्य का वर्णन। तीनों को मिलाकर प्रशस्ति काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु ऋग्वेद में आश्रयदाताओं की दानशालता का ही वर्णन किया गया है। उनकी विजय इत्यादि को देवताओं का प्रसाद मानकर देवताओं के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है और सौन्दर्य वर्णन प्रकृति के प्रसंग में ही किया गया है इस प्रकार एक ओर तो राजा लोग अवलिप्त होने से बच जाते हैं और दूसरी ओर उनकी काम-वृत्ति भी तीव्र नहीं होती। बाद के कवियों ने आश्रयदाताओं के वर्णन में शेष दो प्रकार के वर्णन भी सन्निविष्ट कर दिये। अतएव इस प्रकार के काव्य को दान-विषयक काव्य न कहकर प्रशस्ति-काव्य कहना ही अधिक समीचीन होगा।

(५) चित्र काव्य—पहेलिकाओं को इसी वर्ग में सन्निविष्ट किया जा सकता है। बाद में सर्वतोभद्र, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध इत्यादि वर्ण-विन्यास सम्बन्धी भेद और प्रहेलिका इत्यादि अर्थानुगत भेद इसी वर्ग में सम्मिलित हो गये।

जहाँ तक चित्रकाव्य का सम्बन्ध है इसे साहित्य शास्त्राचार्यों ने काव्य-सीमा से बाह्य कर दिया। कारण यह था कि चित्रकाव्य के द्वारा न तो रसास्वादन में सहायता प्राप्त होती है, न चमत्कार-वृत्ति की ही तृप्ति होती है और न कोतूहल वृत्ति की ही शान्ति होती है। केवल वर्ण शब्द और अर्थ की विशेषता से मनोरञ्जन मात्र होता है। केवल तनेसे ही चित्रकाव्य काव्यत्व का अधिकारी नहीं हो सकता। सबसे बड़ी बात यह है कि काव्य का जीवन रस इससे उपहत हो जाता है। इसीलिये काव्य-शास्त्रज्ञों ने इसे उक्ति-वैचित्र्य मात्र माना है। यही कारण है कि बिहारी ने चित्रकाव्य का परित्याग कर दिया। अतएव यहाँ पर हम रसात्मक मुक्तक, धार्मिक मुक्तक, सूक्ति मुक्तक और प्रशस्ति मुक्तक—इन चार प्रकार के मुक्तकों की परम्परा का संक्षिप्त परिचय देते हुए बिहारी में उन चारों प्रकारों के प्रतिफलन का विवेचन करने की चेष्टा करेंगे। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि मुक्तक के क्षेत्र में चारों प्रकार अपनी पृथक् सत्ता सर्वथा स्थापित किये हुए हैं। किन्तु कहीं-कहीं पर विभिन्न प्रकारों का संकर इस प्रकार हो गया है कि उनको किसी एक वर्ग में सन्निविष्ट करना कठिन हो जाता है। यह कठिनता उस समय अधिक बढ़ जाती है जबकि भक्ति के विकास के साथ-साथ धार्मिकता और भावात्मकता के एकीकरण की चेष्टा दृष्टिगत होती है। ऐसे अवसरों पर प्रवृत्ति-निमित्त विषयक प्रधानता को आधार मान कर ही उन रचनाओं को किसी वर्ग में सन्निविष्ट किया गया है।

अध्याय २

रसात्मक मुक्तक

काल विभाजन

पिछले अध्याय में वैदिक मुक्तक काव्य का भावात्मकता और कलात्मकता की दृष्टि से विश्लेषण किया जा चुका है। इस प्रकार की कलात्मक प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता के अरुणोदय काल में अनेक शताब्दियों तक प्रतिष्ठित रही। वस्तुतः ऋग्वेद किसी एक काल की रचना नहीं है अपितु अनेक शताब्दियों में बिखरी हुई एक विस्तृत साहित्य-राशि का संकलन मात्र है। “ऋग्वेद का अभिप्राय एक पुस्तक से नहीं है जैसा कि उदाहरण के लिये पुराण एक पुस्तक है और न किसी एक समय में संगृहीत कतिपय पुस्तकों का एक परिपूर्ण संग्रह ही है। जिस प्रकार बाइबिल या त्रिपिटक एक समय के संग्रह हैं अपितु अनेक शताब्दियों में लिखा हुआ सम्पूर्ण महान साहित्य है जो कि परम्परागत रूप में अनेक शताब्दियों तक चला आया और अन्त में नवीन पीढ़ी ने इसको पवित्र ज्ञान अथवा ईश्वरीय ज्ञान घोषित कर दिया। इस घोषणा में केवल प्रचीनता ही कारण नहीं थी किन्तु इसका महत्त्वपूर्ण विषय भी कारण था।”^१ इसे हम मुक्तक परम्परा का प्रथम उत्थान कह सकते हैं जो कि बहुत समय तक अप्रतिहत गति से प्रवाहित होता रहा और अन्त में अपने भक्तों के हृदयों में श्रद्धा की भावना को प्रश्रय देकर सर्वदा के लिये तिरोहित हो गया। वैदिक संहिता काल के उपरान्त लिखे हुए समस्त साहित्य में संहिताओं की व्याख्या और उनके विनियोग की चेष्टा ही दृष्टिगत होती है। यदि नवीन रचनाओं में किसी प्रकार का अभिनिवेश रहा भी होगा तो भी आज हमें उसका कोई भी ज्ञान नहीं। वैदिक काल के अन्तिम चरण (उपनिषत्काल) में भी हमें स्वतन्त्र मुक्तक के रूप में लिखा हुआ कोई भी काव्य-ग्रन्थ समुपलब्ध नहीं होता। सम्भव है उपनिषदों के आध्यात्मिक निबन्धों में यत्र-तत्र बिखरी हुई सूक्तियों का कुछ अंश मुक्तक के रूप में ही लिखा गया हो और बाद में यथा-स्थान उसे सन्निविष्ट कर दिया गया हो किन्तु उसके आधार पर हम मुक्तक काव्य का कोई स्वरूप स्थिर नहीं कर सकते और न हम उसे मुक्तक परम्परा में सन्निविष्ट ही कर सकते हैं। आनन्दः वर्धन और अभिनव गुप्त के अनुसार प्रबन्धान्तःपाती मुक्तक भी प्रबन्धांग के रूप

में ही स्वीकृत किये जा सकते हैं वे स्वतन्त्र मुक्तक की सामा में नहीं आते ।^१

बौद्ध-साहित्य में भी रसात्मक मुक्तक की दृष्टि से लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नहीं होता । केवल थेरगाथा और थेरी गाथा में हमें उसका प्रभाव दिखाई पड़ता है और यह बात स्वीकार करने के अनेक कारण हैं कि उस समय भी रसात्मकता और भावात्मकता की दृष्टि से कुछ-न-कुछ रचना अवश्य हुई होगी । किन्तु उस समय का वही साहित्य सुरक्षित रह सका जो कि किसी सम्प्रदाय के द्वारा अपनाया गया अथवा जिसका उपयोग धार्मिक प्रचार के लिये भी किया जाता था । आश्रयदाताओं की कमी से अथवा दीर्घकाल के व्यवधान से दूसरे प्रकार का काव्य सुरक्षित नहीं रह सका । फिर भी थेर गाथा और थेरी गाथा भारतीय मुक्तक साहित्य की उच्चकोटि की रचनाओं में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं जिनकी तुलना ऋग्वेद से कालिदास तक की जा सकती है । इसका प्रभाव परवर्ती काव्य पर भी यथेष्ट रूप में पड़ा है ।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मुक्तक ग्रन्थ हाल की गाथासप्तशती है । इस सप्तशती के प्रारम्भ में निम्नलिखित गाथा दी हुई है :—

सत्तसताइं कइवच्छलेन कोडीय मज्ज आरम्भ ।

हालेन विरइ आइं साल कारणं गाहाणम् ॥ (१—३)

(कवियों के प्यारे हाल ने एक करोड़ में से अलंकारों से युक्त सात सौ गाथायें बनाईं) इससे ज्ञात होता है कि हाल के सामने एक करोड़ गाथाओं का संकलन विद्यमान था और हाल ने उनमें से सात सौ उत्तम गाथाओं का संकलन कर दिया । यहाँ पर विरचित का अर्थ रचना करना नहीं है अपितु संकलन करना है । इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भी ऋग्वेद के समान ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु एक विस्तृत समय में लिखे हुए मुक्तक पद्यों का संकलन मात्र है ।^२ ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनों आधारों पर सिद्ध होता है कि इसका संकलन आन्ध्र के सुसम्बद्ध राज्य में शातवाहन के दरबार में हुआ था । इस ग्रन्थ से हमें उस समय की मुक्तक परम्परा का सुसम्बद्ध और स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है । यहीं से एक परम्परा भी चलती हुई प्रतीत होती है जो गुप्त काल और उसके बाद में भी प्रतिष्ठित रही । इस परम्परा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वैदिक काल की बहुमुखी प्रवृत्ति के स्थान पर एक निश्चित संकुचित धारा में कविकर्म प्रवृत्त होता हुआ दिखलाई देता है । प्रकृति काव्य-रचना विषयक अभिनिवेश तो जाता ही रहा साथ ही वीरभावों की अभिव्यक्ति का युग भी समाप्त हो गया । मुक्तक काव्य जगत् में सर्वत्र रसराज शृंगार का एक छत्र राज्य स्थापित हो गया और उसकी वेगवती मनोरम धारा प्रवाहित हो चली । इस

१. ध्वन्यालोक लोचन उद्योत ३

२. देखो—History of Indian Sanskrit Literature by Kalt तथा गा. १ सप्तशती की भूमिका ।

परम्परा की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विभावों का निर्देश नहीं है । शृंगार रस की अभिव्यक्ति किन्हीं विशेष प्रकार के नायक और नायिकाओं को लक्षित करके नहीं की गई है । काव्य से केवल इतना ही प्रतीत होता है कि कवि ने किसी विशेष नायक-नायिका की एक विशेष दशा का चित्रण किया है जो कि किसी के विषय में भी संभव हो सकता है । नायक-नायिका के व्यक्तित्व के उन्नयन का भार पाठक पर छोड़ दिया गया है । यद्यपि इसके अपवाद भी प्राप्त होते हैं जैसे हाल की सप्तशती में दो गाथायें राधा-कृष्ण से सम्बद्ध हैं, एक गाथा में गोपियों के प्रेम का वर्णन किया गया है । इसी प्रकार दो-एक गाथाओं में शिव-पार्वती के प्रेम का भी वर्णन है, इसी प्रकार विशेष परिस्थिति में चौर कवि ने अपने प्रेम का आलम्बन राजकुमारी को बनाया है । तथापि ये रचनायें परिमाण में इतनी न्यून हैं कि इनको हम काल की सामान्य प्रवृत्ति नहीं मान सकते ।

रसात्मक मुक्तक परम्परा की उक्त परिस्थिति में परिवर्तन जयदेव के समय में उपस्थित होता है । अब शृंगार रस के आलम्बन के रूप में राधा और कृष्ण पूर्ण रूप से आसनासीन हो गये । कहीं-कहीं भगवान् राम को भी आलम्बन या आश्रय मानकर रसाभिव्यक्ति की गई । इस प्रकार की रचनाओं को हम धार्मिक मुक्तकों में सन्निविष्ट नहीं कर सकते । इन रचनाओं का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त रसाभिव्यक्ति और कलात्मकता ही है । दूसरी बात यह है कि इस समय तक आते-आते काव्य-शास्त्र भी अपने प्रौढ़ प्रकर्ष को प्राप्त हो चुका था और रसात्मक काव्य-धारा एक रुढ़िबद्ध प्रणाली पर प्रवाहित हो चली थी । मुक्तक के क्षेत्र में शृंगार रस का प्राधान्य था ही । अतएव इस काल में राम-भक्ति के स्थान पर कृष्ण-भक्ति को मुक्तक के क्षेत्र में विशेषता दी गई । यह समस्त काव्य रसात्मक कृतियों में ही सन्निविष्ट किया जा सकता है क्योंकि इसका मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त रसात्मकता ही है । धार्मिक मुक्तकों में हम उसी काव्य को सन्निविष्ट कर सकते हैं जिसमें वैदिक परम्परा के अनुसार या तो अपने आराध्य की लोकोत्तर महत्ता की अभिव्यञ्जना की गई हो या किसी प्रकार की आशंसा की गई हो अथवा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन, आत्म-निवेदन, भक्ति की ओर प्रेरणा और सांसारिकता की गहंणा में से कोई बात हो । इसके अतिरिक्त जो काव्य राधा-कृष्ण इत्यादि को विभाव के रूप में स्वीकृत कर रसचर्चणा के मन्तव्य से लिखे गये हैं उन्हें हम रसात्मक मुक्तक ही कहेंगे । यह बात दूसरी है कि इन आलम्बनों को आराध्य के रूप में स्वीकृत कर लेने के कारण ही कवियों में इनके रसात्मक वर्णन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है । जहाँ भक्ति के आलम्बन और रसात्मक कविता के आलम्बन में भेद है वहाँ यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है । उदाहरण के लिए विद्यापति के आराध्य के रूप में भगवान् शंकर जी प्रतिष्ठित हुए हैं और रसात्मक कविता का आधार राधा-कृष्ण माने गये हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में सर्वत्र रसात्मक रचना किसी विशेष विभाव को मानकर ही चलती है । यह परम्परा बिहारी के समय तक चलती

है। इस प्रकार हम इस समस्त रसात्मक मुक्तक परम्परा को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—प्रारम्भिक काल अथवा हाल से पूर्ववर्ती काल—इसमें वैदिक काल तथा बौद्ध, जैन काल सम्मिलित हैं। इस काल की रचनाओं में प्रकृति को प्रधानता प्राप्त थी। अतएव इसे हम प्रकृति काल कह सकते हैं।

२—हाल से जयदेव तक—इस काल में प्राकृत जन विषयक रचनाओं का बाहुल्य था। अतएव इसे हम प्राकृत काल के नाम से अभिहित कर सकते हैं।^१

३—जयदेव से बिहारी तक—इसे हम भक्ति काल के नाम से अभिहित कर सकते हैं क्योंकि इस काल की रचनाओं में भक्ति काव्य का बाहुल्य है। अगले पृष्ठों में इसी विभाजन के आधार पर मुक्तक काव्य-परम्परा का परिचय दिया जावेगा।^२

(१) प्रथम चरण—प्रकृति काल

(अ) वैदिक काव्य—भावात्मकता की दृष्टि से वैदिक काव्य की समीक्षा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है। संक्षेप में रसात्मकता के विषय में हमें ऋग्वेद में निम्नलिखित तत्व अधिगत होते हैं :—

कठोर रस—जातीय संघर्ष का प्रतिफलन होने के कारण वेद में वीर रस की ही प्रधानता है। अन्य रसों की अपेक्षाकृत न्यूनता है। वीर रस का आश्रय इन्द्र हैं और आलम्बन अनेक असुर जो इन्द्र पर असफल बल प्रयोग की चेष्टा करते हैं और इन्द्र अनायास ही उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। स्पष्ट ही है कि हमारे ऋषियों ने आर्यों की विजय का श्रेय योद्धा सम्राटों को देना उचित नहीं समझा किन्तु इस विजय को इन्द्र देवता का प्रसाद ही माना है। इस प्रकार एक ओर वे योद्धाओं के अवलेप की शांति करते हैं और दूसरी ओर उन्हें आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। वीर रस के परिपाक के लिये विरोधियों की वीरता को अधिक प्रसार नहीं दिया गया है किन्तु अनायास ही विजय लाभ दिखलाया गया है। युद्ध वीर के साथ ही रौद्र, वीभत्स और भयानक का भी समावेश हो जाता है। दान वीरता और धर्म वीरता भी स्थान-स्थान पर अधिगत होती हैं किन्तु अपेक्षाकृत उनका प्रसार कम ही है।

शृंगार रस—शृंगार रस के क्षेत्र में मानव-भावनाओं का आरोप प्राकृतिक दृश्यों और विशेषकर उषा के प्रसंग में किया गया है। इस दिशा में आलम्बन का महत्व परवर्ती काव्य जैसा दिखलाई नहीं देता। नख, शिख तथा अंग-प्रत्यंग का, पृथक्-पृथक् वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु सामूहिक प्रभाव कोमलता, सुकुमारता, कामुकता इत्यादि का ही चित्रण दिखलाई देता है। कहीं-कहीं विशेष अवस्था का

१. यदि अधिक स्पष्ट करना चाहें तो इसे हम अनिर्दिष्ट विभाव काल कह सकते हैं।

२. इस काल को हम निर्दिष्ट विभाव काल भी कह सकते हैं।

भी चित्रण किया गया है, जैसे सद्यःस्नाता के प्रसंग में । अभिसार के दोनों रूप इसमें विद्यमान हैं । एक ओर तो नायिका नायक को अभिसार कराती है दूसरी ओर नायिका स्वयं भी अभिसार करती है । वासकसज्जा का भी चित्रण उषा के प्रसंग में दिखलाई देता है । संचारी भावों में लज्जा, अवहित्था इत्यादि प्रमुख संचारियों का ही चित्रण है । अन्य भावों की उपेक्षा की गई है । प्रेम के प्रत्याख्यान का भी अच्छा चित्रण है । एक ओर स्त्री के प्रणय की अवहेलना पुरुष की ओर से दिखलाई गई है और दूसरी ओर पुरुष के प्रणय की अवहेलना स्त्री की ओर से दिखलाई गई है । इस दिशा में मानसिक संताप और भावना की तीव्रता का वर्णन प्रशंसनीय है । शृंगार रस में स्वकीया और परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं का चित्रण है । रस और रसाभास दोनों के उदाहरण विद्यमान हैं । ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य दोनों रूपों में शृंगार रस का उपादान हुआ है । इस प्रकार शृंगार रस बहुमुखी है और उसमें माधुर्य गुण का सर्वथा बाहुल्य है ।

हास्य रस—कहीं-कहीं अश्लील शब्दों का प्रयोग किया गया है जो कि भरत के अनुसार हास्य रस की सीमा में आता है । मण्डूक सूक्त में हास्य रस का अच्छा परिपाक हुआ है ।

करुण रस—मृत व्यक्तियों और आहत सैनिकों के प्रसंग में करुण रस की हल्की-सी छाया मिलती है ।

शांत रस—यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में जो कि ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, शांत रस अधिगत होता है ।

ऋग्वेद में उपमाओं की भरमार है । ये उपमायें अधिकतर अनायास ही आयी हैं और रस की परिपोषक हैं । औपम्य मूलक दूसरे भी अलंकार यथास्थान आ गये हैं, जिनमें मालोपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति इत्यादि प्रमुख हैं । कहीं-कहीं कार्य-कारण भाव मूलक अलंकार भी विद्यमान हैं और विरोध मूलक अलंकार अधिक चमत्कार कारक हैं । शब्दालंकार भी अपना पृथक् महत्त्व रखते हैं । अनुप्रास तो एक साधारण सी वस्तु है, यमक और पुनरुक्तवदाभास^१ जैसे प्रौढ कलात्मक अलंकार भी उपस्थित हैं ।^२ संकर और संसृष्टि की कमी नहीं है । जहां अर्थ शक्ति मूलक ध्वनियों में वस्तु और अलंकार दोनों की ध्वनि पाई जाती है वहां शब्द शक्ति मूलक ध्वनि के भी भेद यत्र-तत्र विद्यमान हैं । इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेद का संकलन मुक्तक काव्य के दृष्टिकोण से कम तथा धार्मिक और याज्ञिक दृष्टिकोण से अधिक हुआ है तथापि मुक्तक काव्य के कलात्मक और भावात्मक उदाहरण भी इसमें बड़े ही सुन्दर ढंग से आ गये हैं । इनका क्षेत्र उतना अधिक व्यापक नहीं है

१. यत्र बाणाः सम्यन्ति कुमारो विशिखा इव ।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये अध्याय प्रथम ।

जितना कि बाद के साहित्य में उपलब्ध होता है तथापि बाद के काव्य जगत् जैसी एकदेशीयता भी इस संकलन में नहीं है। इसमें अनेक रसों और भावों का उचित समावेश है और अलंकारों का भी उचित मात्रा में उपादान हुआ है। यही वैदिक काव्य के भावात्मक अंशों का संक्षिप्त परिचय है।

(आ) थेरी गाथा—ऋग्वेद के बाद हाल के समय तक प्रथम चरण की सबसे अधिक महत्वपूर्ण भावात्मक मुक्तक रचना है। यह खुदक निकाय के १५ भागों में एक है। इसका नाम सर्वदा थेर गाथा के साथ लिया जाता है। इन दोनों पुस्तकों में बौद्ध संन्यासियों के आंतरिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। थेरी गाथा में ७३ खण्ड और ५१८ पद्य हैं। प्रत्येक खण्ड में एक थेरी का नाम लिखा हुआ है। थेरी गाथा पर धम्मपाल नामक एक कवि ने पांचवीं शती के आस-पास एक टीका लिखी। इस टीका में थेरियों की जीवन-गाथा लिखी है जो कि या तो पद्यों के आधार पर उन्नीत कर ली गई है या गढ़ ली गई है और सर्वथा विश्वसनीय नहीं हो सकती। श्रीमती रायस डेविड ने अपने “सांस्क्राफ सिस्टर्स” में लिखा है कि गौतम बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध संन्यासियों ने गंगा की घाटी में जैसा जीवन बिताया है उसका ठीक उपदेशात्मक चित्र हमें इन गाथाओं में प्राप्त होता है। धम्मपाल ने प्रायः सभी गाथाओं के विषय में लिखा है :—

अर्हत्तं पन पत्त्वा परिपत्ति पंचवेक्खित्वा । उदानवसेन इमा गाथा अभसि ।” अर्थात् अर्हत्त पद को प्राप्त होकर भावनावश ये गाथायें कही गई हैं। रायस डेविड ने इन गाथाओं के विषय में लिखा है, “इन पद्यों में हम भावना या शक्ति की अभिव्यक्ति देखते हैं जो या तो नवीन रूप में उद्भूत हुई है अथवा नवीन धाराओं में विभक्त कर दी गई हैं, जब इन गाथाओं में शान्ति की प्रतिध्वनि श्रवण गोचर होती है उस समय भी इनमें भावना तथा आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।”

ये गाथायें स्त्रियों के विषय में लिखी हुई हैं और नारी हृदय का ठीक रूप में प्रतिनिधित्व करती हैं। श्रीमती रायस ने थेर गाथा और थेरी गाथा की तुलना करते हुए शब्द प्रयोग, भावना और शब्द-शक्ति पर ध्यान दिया है। उन्होंने लिखा है कि भिक्षुणियों की गाथा में हृदय तत्व तथा भावना का प्राधान्य है और थेर गाथा में प्रकृति चित्रण किया गया है। भिक्षुणियों की गाथा में वास्तविक जीवन के चित्र अधिक उच्चकोटि के उतरे हैं। इस प्रकार इन गाथाओं में कवित्व की सच्ची भावना अन्तर्निहित है। यदि कविता में भावना की प्राथमिक मत्ता स्वीकार कर ली जावे और उसका उद्बोधन घटना के आधार पर माना जावे तो ऐसी दशा में परिस्थिति-वश भावनाओं के उद्दीपन होने के कारण गाथायें उच्चकोटि की कविता में आयेंगी।

इस संग्रह में विभिन्न भिक्षुणियों के नाम पर अलग-अलग गाथाओं का संकलन किया गया है। अनेक गाथाएं ऐसी भी हैं जो किसी एक भिक्षुणी के नाम

पर संकलित तो कर दी गई हैं किन्तु वे सर्वथा परस्पर असम्बद्ध हैं। इस संकलन की अनेक गाथाओं में उच्चकोटि का कवित्व प्राप्त होता है और गीति काव्य या नाटक का आनन्द आता है।

ये गाथाएं स्वयं भिक्षुणियों ने बनाई हैं या उनसे सुनकर किसी दूसरे ने इन्हें कविता का रूप दे दिया है, यह कहना कठिन है। यदि ये गाथाएं स्वयं भिक्षुणियों द्वारा न लिखी गई होतीं तो इनमें हमें वह हृदय तत्व अधिगत नहीं होता जो इनमें प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये अम्बपाली की कविता में जो उसकी युवावस्था और वृद्धावस्था की तुलना की गई है वह वास्तव में बहुत ही उच्चकोटि की कविता का नमूना है, इसमें सन्देह नहीं। इन गाथाओं में कुछ बहुत ही पुरानी हैं। डॉ॰ पिशेल ने चाया और सुन्दरी की गाथाओं को बहुत ही प्राचीन बतलाया है। श्रीमती रायस ने ऋषिदासी की कविता में अनेक शैलियों के दर्शन किये हैं और सुमेधा की रचनाओं को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है।

इन गाथाओं का सामाजिक चित्रण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमें हमें वर्ग-व्यवस्था का भेदभाव राजकुमारी, रानी, सेठानी, सुशिक्षित तथा सुसम्पन्न ब्राह्मणी, दासी, वेश्या, नाचने-गाने और सुन्दरता तथा कटाक्षों के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाली भिखारी, पहाड़िन, व्याध की स्त्री तथा और भी कई प्रकार की स्त्रियों के दर्शन होते हैं। जीवन के विभिन्न तत्वों के प्रभाव से वे आर्हत जीवन की ओर आकृष्ट होती हैं और गृहस्थ जीवन का परित्याग करती हैं। कहीं बुद्ध का जीवन तथा व्यक्तित्व, कहीं किसी शिष्य की उच्चकोटि की शिक्षा, कहीं संवेग, कहीं प्राचीन जीवन के संस्कार उनको बौद्ध धर्म की ओर भुकाते हैं। दूसरी गाथाओं में जीवन के कटु अनुभव जैसे पुत्र मरण, वैधव्य, निराशा, पति या पुत्रों का दुर्व्यवहार, खेद, अपमान, दुराचार, दुर्गत पिता के प्रति कर्तव्य बुद्धि इत्यादि के कारण उनका आकर्षण संघ की ओर हो जाता है। इस नयी अवस्था में आकर उन्हें स्वतन्त्रता, आशा, अवसर, उन्नति का पर्याप्त साधन इत्यादि के दर्शन होते हैं। यही उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है। भिक्षुणियां संघ में प्रविष्ट होकर किसी भिक्षुणी से शिक्षा प्राप्त कर इतनी दृढ़ता से अपने सन्मार्ग का पालन करती हैं कि अन्त में निर्वाण की अधिकारिणी बन जाती हैं। मोक्ष में दोनों तत्व हैं नकरात्मक भी और स्वीकारात्मक भी। भावना और माया का परित्याग, प्रवृत्तियों का पूर्ण दमन और सत्ता का परित्याग एक ओर हैं और दूसरी ओर अन्तर्दृष्टि, आनन्द, शांति, सुरक्षा इत्यादि विद्यमान हैं साथ ही नैतिकता का भी पर्याप्त विकास है। कहीं-कहीं ऐश्वर्य तथा वैभव के उच्चकोटि के चित्र भी खींचे गये हैं। सुजाता, अनोपमा, इत्यादि धेरियों ने अपने सौन्दर्य, शृंगार और ऐश्वर्य का अच्छा वर्णन किया है। बाद में ये वैराग्य से प्रव्रज्या लेती हैं। चाला, सुचाला, और उपचाला तीन सगी बहनें हैं; तीनों के साथ कामदेव का संवाद बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

अम्ब्रपाली के प्रसंग में अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया गया है जिसमें आभूषणों की सुन्दरता भी सन्निविष्ट की गई है। इनकी उपमाओं द्वारा जीवन तथा वृद्धावस्था की तुलना बहुत अधिक प्रसिद्ध है।

(इ) थेर गाथा में ३६ भाग और १२७६ पद्य हैं। इनमें प्रस्तावना की तीन गाथायें सम्मिलित नहीं हैं। ये गाथायें २६४ थेरों की कही हुई हैं। पद्यों की संख्या के आधार पर इनका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु यह क्रम सर्वथा ठीक नहीं है। गाथा के अन्त में जो संख्या दी हुई है उससे यह संख्या मेल नहीं खाती। जान होता है बहुत-सी गाथाओं का लोप हो गया है। इन गाथाओं पर भी धम्मपाल की परमत्थ दीपनी टीका है। संघ के जीवन में आने से पहले यह थेर गृहस्थ थे। किसी घटना से प्रभावित होकर संसार का परित्याग कर दिया। इन्होंने नवीन जीवन में आकर जो अनुभव प्राप्त किये उनका इन गाथाओं में वर्णन है। रायस डेविड ने लिखा है कि ११४ थेरों ने बाह्य अनुभव लिखे हैं, १४१ ने आन्तरिक अनुभव लिखे हैं और ९ ने सम्मिलित अनुभव लिखे हैं। एक ओर इन गाथाओं में नैतिकता छलकती है, दूसरी ओर प्रकृति-प्रेम तथा मनोमोहक जीवन के चित्र विद्यमान हैं। यह समझ में नहीं आता कि भिक्षुओं को एकान्त-साधना के निमित्त संसार त्याग देने पर भी इतना प्रकृति से प्रेम क्यों हो गया। प्रकृति की महत्ता, उच्चता और ऐश्वर्य के कोमल चित्रों को सामने रखकर उनकी गम्भीरता और दुःखवाद के सिद्धान्त को आघात पहुँचता है। विण्टर नित्ज ने लिखा है—“इसमें मदेह नहीं कि इन धार्मिक कविताओं में प्रकृति के मनोमोहक चित्र भारतीय मुक्तक-परम्परा के बहुमूल्य रत्न हैं। जंगल और पर्वतों के दृश्यों के बीच में बैठकर भिक्षुगण साधना करते थे जब गम्भीर दृष्टि होती थी तथा बिजली कड़कती थी तब भी इन्हें आनन्द आता था।” ये महात्मा भी जो जीवन के मुख-दुःख के प्रति सर्वथा उदासीन हैं अपने को वसन्त के सौन्दर्य वर्णन से पृथक् नहीं रख सके। श्रीमती रायस ने लिखा है—“थेर गाथा की इन पंक्तियों को हम निस्संकोच शैली और कीट्स की किसी भी उच्चकोटि की रचना की तुलना में रख सकते हैं। थेरी गाथा के समान इनमें भी सभी वर्गों का सामाजिक चित्रण किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शिल्प-कार, कारीगर, मजदूर, अभिनेता, राजा के अवैध पुत्र, सामान्य व्यक्ति इत्यादि सभी प्रकार के व्यक्तियों को इन गाथाओं में स्थान मिला है।”^१

(ई) नान्दी और (उ) अनुयोगदार जैन धर्म के दो महान् ग्रंथ हैं। परम्परा के अनुसार इनकी रचना देवर्धि ने की थी। विण्टरनित्ज ने लिखा है कि जैन धर्म की जितनी भी ज्ञातव्य बातें हैं, उन सबका इन ग्रंथों में समावेश पाया जाता है। इनमें काव्य रस पर पूरे-पूरे प्रकरण हैं और उदाहरण के रूप में शृंगार रस सम्बन्धी पद्य लिखे गये हैं।

१. देखो हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, द्वारा विण्टरनित्ज।

२. देखो रायल डेविड लिखित पाग्स आफ ब्रदर्स।

रसात्मक मुक्तक-परम्परा के प्रथम चरण का यही संक्षिप्त परिचय है। चिर व्यवहित होने के कारण इस काल की अधिक सामग्री अधिगत नहीं होती। साम्प्रदायिक साहित्य के सुरक्षित करने में जो कुछ थोड़े-बहुत मुक्तक पद्य इधर-उधर बिखरे हुए दिखाई पड़ते हैं वे ही इस काल के रसात्मक मुक्तकों की सम्पत्ति हैं। कुछ स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे गये होंगे किन्तु साम्प्रदायिक आश्रय प्राप्त न हो सकने के कारण वे सुरक्षित नहीं रखे जा सके। अतः धार्मिक संकलनों में घुणाक्षर-न्याय से आये हुए इन कतिपय पद्यों पर ही संतोष करना पड़ता है।

(२) द्वितीय चरण—प्राकृत काल

विक्रम की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में भारतीय रसात्मक मुक्तक काव्य-जगत् का सबसे महान् और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कोष-ग्रंथ हाल की गाथा सप्तशती हमारे सामने आती है। यहां से मुक्तक-काव्य के क्षेत्र में हमें नई गति-विधि, नई शैली, नये विषय और नई परम्परा के दर्शन होते हैं। कविता उन्मुक्त प्रकृतिविचरण का परित्याग कर राजघरानों और सामाजिक क्षेत्रों में बन्दिनी बन जाती है और इसका विषय प्रधान रूप से मानव हो जाता है। प्रकृति-सौंदर्य के स्थान पर स्त्री-सौन्दर्य अपना अधिकार जमा लेता है और वीर भावों की अभिव्यक्ति के स्थान पर शृंगार रसाभिव्यक्ति प्रधान हो जाती है। कविता में एक नया लचकौलापन, शब्द-प्रयोग में एक नया ढंग और व्यंजना का नया स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है। इस परिवर्तित परम्परा के स्वरूप को ठीक रूप में समझने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि उसके कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जावे जिससे उसकी पृष्ठभूमि को ठीक रूप में समझकर हम उसके वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम कर सकें। इसके लिये हमें उस समय की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का सिंहावलोकन करना होगा और साथ ही मानव मनोवृत्ति की उन सामान्य प्रवृत्तियों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना होगा जिन्होंने कवि तथा कथाकारों को एक ही दिशा में चलने की प्रेरणा प्रदान की।

राजनीतिक स्थिति—भारत एक महान् देश है जो कि चिर अतीत से छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहा है। इन राज्यों का परस्पर संघर्ष और महत्ता तथा एकछत्र राज्य स्थापित करने का प्रयास ही भारत के इतिहास का मूलसूत्र है। दूसरी ओर भारत जैसे सम्पन्न तथा उपजाऊ प्रदेश पर अधिकार करने की विदेशियों की लालसा भी भारत में जन-जीवन को व्यस्त रखने में कारण रही है। इस प्रकार एक ओर तो अन्तःक्रान्ति और दूसरी ओर सीमान्त प्रदेशों के आक्रमणों के कारण भारत में प्रायः संघर्ष ही चलता रहा है। किन्तु प्रस्तुत समय के अन्तर्गत (विक्रम की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में) इस प्रकार का कोई भी महत्वपूर्ण संघर्ष दिखाई नहीं पड़ता। शक, कुशाण और यूनान के लोगों का आक्रमण एक अतीत

की कथा बन गई थी और हूण लोगों का आक्रमण लगभग ४०० वर्ष बाद होने को था। शक, कुशाण और यूनान के लोगों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे और उन्हीं में ये लोग पूर्णतया सन्तुष्ट थे। हूण लोग भी भारत की सीमा तक आ गये थे किन्तु अभी तक उन्होंने भारत-प्रवेश नहीं किया था।^१

ये आक्रामक जातियाँ अपने साथ कोई विशेष उद्देश्य या किसी विशेष प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति को लेकर भारत में नहीं आई थीं जैसा कि बाद के आक्रांता मुसलमानों के विषय में कहा जा सकता है। इन जातियों का विदेशियों से सम्बन्ध भी नहीं था और मूल देश के निवासी इन्हें जानते भी नहीं थे। ये लोग पूर्ण रूप से भारत के निवासी बन गये थे और भारत को ही स्वदेश समझने लगे थे। भारतीय रीति-नीति और आचार-विचार अपनाने में ये लोग गौरव का अनुभव करते थे और भारतीय कला तथा विज्ञान के विकास में योगदान देना अपना कर्तव्य समझते थे। इन लोगों की भारतीय मनोवृत्ति का सबसे बड़ा परिचय इस बात से मिलता है कि इन लोगों के नाम विदेशी थे किन्तु ये लोग अपने पुत्रों का नाम भारतीय ढंग पर ही रखते थे। उस समय का सबसे बड़ा कवि अश्वघोष और आयुर्वेद के सबसे अधिक महान् ग्रंथ का निर्माता चरक—ये दोनों कुशाण सम्राट् कनिष्क के दरबार में ही थे। यूनानी शासक मिनेण्डर बौद्ध हो गया था और उसने मिनेण्डर से मिलिन्द का रूप धारण कर लिया था। शकों के महाक्षत्रप रुद्रामन की पुत्री का विवाह आंध्र नरेश वाशिष्ठी पुत्र शातकर्णी से हुआ था। इन सब तथ्यों के आधार पर सिद्ध होता है कि ये विदेशी आक्रांता अपने विदेशीपन को छोड़कर पूर्ण रूप से भारतीय बनते जा रहे थे और न तो भारतीय ही इनसे उद्भिन्न होते थे और न ये ही अपने को भारत में किसी प्रकार विदेशी समझते थे। न भारत को इनसे किसी प्रकार का भय था और न ये ही भारत को विदेश की दृष्टि से देखते थे।

यह तो हुई विदेशियों के भारत पर आक्रमण और शासन की बात। देशी नरेशों में भी उस समय किसी प्रकार का महत्वपूर्ण संघर्ष दृष्टिगत नहीं होता। बड़े राज्यों में शातवाहन शक, कुशाण और कलिंग के ही राज्य थे। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित थे। इस समय आंध्र का राज्य सर्वाधिक महत्व-शाली था। यहां पर शातवाहन या शालिवाहन परिवार के लोग राज्य करते थे। आंध्र की पूर्वी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) थी और पश्चिम में कृष्णा नदी के तट पर स्थित धान्यकंटक में एक दूसरी राजधानी थी। इन लोगों का राज्य समस्त दक्षिण पथ पर था और इनकी शक्ति की कल्पना इसी वास्तविकता से की जा सकती है कि दिग्विजयी सम्राटों को भी कभी आंध्र में प्रवेश करने का

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये Ancient India by Majumdar तथा प्राचीनकाल के इतिहास पर दूसरी पुस्तकें।

साहस नहीं हुआ । इस काल में कोई ऐसा संघर्ष दिखाई नहीं देता जिसने व्यापक रूप में जन-जीवन को आक्रान्त किया हो, केवल शातवाहन और शक राजाओं में कभी-कभी छोटे-मोटे संघर्ष होते रहते थे जिनमें कभी शातवाहन वंश वालों की विजय हो जाती थी और कभी शक लोगों की । एक बात और थी—जिस प्रकार उस समय के विदेशी आक्रान्ताओं ने अपने विजित भू-भाग पर आधिपत्य जमा कर भारत से आत्मीयता का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था, उसी प्रकार देशी नरेशों में भी राजपूत युग की भांति मिथ्याभिमान को लेकर व्यर्थ की बातों में लड़ बैठने की प्रवृत्ति नहीं थी । इस समय के इतिहास की विशेषता यह है कि यदि कोई महत्वाकांक्षी नृपति दिग्विजय के लिये यात्रा करता था तो उसे अधिक प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ता था । कारण यह था कि एक ओर तो उसका मन्तव्य छोटे-छोटे राज्यों का अन्त करना नहीं होता था किन्तु केवल अश्वमेध के लिये पृष्ठभूमि तैयार करना ही होता था और दूसरी ओर उनका आदान भी विसर्ग के लिये ही होता था ।^१ इस प्रकार यह समय राजनीतिक शान्ति और सुव्यवस्था का युग था जबकि काव्य और कला पूर्ण विकास की ओर अग्रसर हो सकते थे ।

आर्थिक स्थिति—जस प्रकार उस समय की राजनीतिक स्थिति कला, साहित्य और विज्ञान के विकास के लिये सर्वथा उपयुक्त थी, उभी प्रकार आर्थिक स्थिति भी सर्वथा सन्तोषजनक थी । व्यवसाय और उद्योग का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और जन-जीवन आर्थिक चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त था । व्यापार-पद्धति और उद्योग-धन्धों के बल पर भारत विश्व का सबसे अधिक समृद्ध तथा सम्पन्न राष्ट्र बन गया था ।^२ भारत की सम्पत्ति विदेशों में एक साधारण लोकोक्ति का रूप धारण कर चुका थी । अनेक प्राचीन कथानकों के आधार पर प्राचीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है । ईसा की दूसरी शताब्दी में कौशल के अनाथ-पिण्डक नामक एक व्यापारी ने श्रावस्ती का जैत्र वन नामक एक उद्यान बुद्ध को भेंट करना चाहा और उस उद्यान के स्वामी से यह शर्त निश्चित हुई कि जैत्र वन में समस्त भूमि पर जितनी स्वर्ण-मुद्रायें बिछ जावें उतना मूल्य उस जैत्र वन का होगा । दूसरी शताब्दी के भरहूत के स्तूप पर इस घटना का विस्तार से उल्लेख किया गया है तथा इस बात का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार स्वर्ण से भरी हुई अनेक गाड़ियां जैत्र वन को गई थीं । जैन सिद्धान्त साहित्य के कथानकों में लिखा है कि आनन्द नामक एक व्यक्ति ने जैन धर्म स्वीकार करने के अवसर पर चार करोड़ स्वर्ण भार एक सुरक्षित स्थान पर, चार करोड़ स्वर्ण भार व्याज

१. आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।—कालिदास

२. कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजसत्ता के जिन विभागों का वर्णन किया है; उससे सात होता है कि भारत उद्योग धन्धों के क्षेत्र में एक सुसम्पन्न राज्य था ।

पर, चार करोड़ मूल्य की एक समृद्ध सम्पत्ति और पशुओं के चार समूह छोड़े थे जिनमें एक-एक में दस-दस हजार पशु विद्यमान थे। सम्भव है इन कथानकों में कुछ अत्युक्ति हो किन्तु इनसे उस समय की भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो आर्थिक मुख्यवस्था और दूसरी ओर राजनीतिक निश्चिन्तता इन समस्त तथ्यों ने मिलकर जीवन में एक विचित्र प्रकार की चमक-दमक, एक अद्वितीय विलास और एक अभूतपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न कर दिया था।

सामाजिक स्थिति—उक्त स्थितियों का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था। मेगस्थनीज ने अपने भारतीय विवरण में लिखा है कि भारतीय व्यक्ति सौन्दर्य तथा आभूषण के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों में सोने का काम तथा रत्न जड़े रहते हैं। ये लोग भड़कीले रेशमी वस्त्र पहनते हैं। यहां के निवासियों के पास जीवन-यापन के साधन आवश्यकता से अधिक हैं जिसके परिणाम-स्वरूप ये लोग जीवन-यापन की सर्वसाधारण सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं और उनके व्यवहार में स्वाभिमान की एक झलक दिखलाई देती है। ये कलाओं में भी भव्नी-भांति निपुण हैं जैसा कि गुग्गु वायु तथा सर्वोत्तम जल का सेवन करने वाले इन व्यक्तियों से आशा ही की जा सकती है। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में सैकड़ों आभूषणों का वर्णन किया है जिनमें सुवर्ण तथा रत्नों का ही प्राधान्य होता था। नटों के नेपथ्य विधान में स्वाभाविकता लाने के लिये उनके आभूषण इत्यादि में सर्वसाधारण का अनुकरण मन्निहित रहता था। इस प्रकार नटों के आभूषणों के उल्लेख से उस समय के सर्वसाधारण के जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। हमें इस समय के साहित्य में ईंट, पत्थर तथा लकड़ी के बने हुए विशाल भवनों का वर्णन मिलता है। यह भवन कई-कई मंजिल ऊंचे होते थे जिनमें प्रकोष्ठों की भित्ति या विभिन्न प्रकार के चित्रों से चित्रित होती थीं। इन भवनों में आमोद-प्रमोद की मारी सामग्री मन्निहित रहती थी।

वास्तव्ययन के काम-सूत्रों में इस समय के जन-जीवन का बड़ा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है। प्रायः प्रत्येक भवन से लगी हुई एक छोटी वाटिका अवश्य होती थी जिसमें काम-क्रीडार्थ लता-कुंज तथा शीत-गृह यथा-स्थान होते थे। प्रत्येक कार्य के लिए भवन में पृथक्-पृथक् विभाग होते थे यहां तक कि रत्याचरण और सोने के विभाग भी पृथक् ही होते थे। काम-क्रीड़ा भवन में शय्या के शिरोभाग की ओर काष्ठ वेदिका पर एक इष्ट देवता की मूर्ति रहती थी और दूसरी ओर पलंग के बराबर की ऊंचाई में एक दूसरी चौकी पर सहवास के आवश्यक उपकरण जैसे सुगन्धित लेप, पुष्पमाला, मोम के छोटे पात्र, अंगराग के पात्र इत्यादि रहते थे। प्रत्येक गृह में शयनागार में खूंदी पर वीणा रहती थी। बाहर वाटिका में सीता, मैना, बुलबुल इत्यादि क्रीड़ा-पक्षियों के पंजरे टंगे रहते थे। शयनागार के

पड़ोस में एक छोटा-सा प्रकोष्ठ होता था जिसमें बड़ईगीरी के साधारण उपकरण रहते थे जिसका प्रयोजन यह होता था कि यदि संयोगवश बीणा इत्यादि में को कमी आ जावे तो तत्काल उसे ठीक कर लिया जावे। सघन वृक्षों के भुरमुट कुञ्ज होते थे जिनके पास ही वृक्ष पर झूला पड़ा होता था। मनोरंजन के अने उपकरण सर्वदा विद्यमान रहते थे जिनमें चित्रकला के उपकरणों की प्रधानता थी वतिका पात्र, रंग इत्यादि यथा स्थान सन्निहित रहते थे। सुभाषित की चुनी हुई पुस्तकों भी कमरों में विद्यमान रहती थीं।^१

कन्याओं और बालकों की शिक्षा की पृथक्-पृथक् विधियां प्रचलित थीं लड़कियों को विशेष रूप से कुमार-अवस्था में ही काम-शास्त्र की शिक्षा देने का व्यवस्था की जाती थी। कन्याओं की शिक्षा में कलाओं का सर्वाधिक महत्त्व था उन्हें अनिवार्य रूप से गायन, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, गृहगार विधि इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करना होता था। इसके अतिरिक्त रत्नों का ज्ञान, जल-क्रीड़ा, ऋतु के अनुसंधानों के धारण करने का ज्ञान, जादूगरी, बहुरूपियापन, सौन्दर्य-वर्धक योग, पात्र-शास्त्र तथा आसव इत्यादि तैयार करने की निपुणता इत्यादि बातें सीखनी पड़ती थीं। काव्य-कला, अन्त्याक्षरी इत्यादि में भी निपुणता प्राप्त करनी पड़ती थी अं बड़ईगीरी की छोटी-मोटी बातें, चटाई बुनना, कढ़ाई का काम, वास्तु-विद्या, पक्षियों के स्वभाव और उनसे मनोरंजन सम्पादन करने की दक्षता भी उन्हें प्राप्त करनी होती थी। नाना प्रकार के जूए का खेल, ताश का खेल इत्यादि में निपुणता उनमें अपेक्षित थी। प्रायः सभी स्त्री-पुरुष चित्रकला में निपुण थे जैसा कि उस समय के नाटकों को देखने से ज्ञात होता है। स्त्रियां ओठ रंगने तथा अंगर इत्यादि बनाने में निपुण होती थीं और शरीर के विभिन्न अंगों को व्यवस्थित करने से सजाती थीं। मृच्छकटिक में वसंतसेना के भवन का वर्णन बड़े ही विस्तार किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वेश्यायें अत्यन्त सम्पन्न जीवित करती थीं। इस समय के साहित्य में वेश्याओं का उल्लेख बड़े गौरव साथ किया गया है। राजकुमारियों और ऊँचे घराने की स्त्रियों के साथ उन गणना होती है तथा राजशेखर ने लिखा है कि प्राचीन काल में वेश्याओं का प्रमुख स्थान था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वेश्यायें समाज में कलापूज्य तथा अग्रहित जीवन व्यतीत करती थीं।^२

स्त्री-पुरुषों का सारा समय आमोद-प्रमोद में व्यतीत होता था। दैनिक चर्या, सामयिक चर्या और उत्सव इत्यादि की चर्या में सर्वत्र आमोद-प्रमोद प्रधानता थी। सायंकाल में मंगीन गोष्ठी नित्य-प्रति होती थी। अभिसारिका और काम-क्रीड़ा में प्रवृत्त पुरुषों की प्रेम-लीला दैनिक कृत्य में सम्मिलित थी। मदिरा-पान नित्य-प्रति किया जाता था, किन्तु कभी-कभी मदिरा-पान का विशेष आयोजन

१. वात्स्यायन सूत्र के द्वितीय अधिकरण में यह सब विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

२. राजशेखर की काव्य-मीमांसा।

भी होता था जिसमें मित्रमंडली के लोग तथा अम्यागत व्यक्ति भाग लेते थे। इस काल की जितनी भी स्त्री-मूर्तियां प्राप्त हुई हैं वे सब प्रायः नग्न ही हैं और अनेक स्थानों पर मदिरा-पान-प्रवृत्त स्त्री-पुरुष युग्म दिखलाये गये हैं। उद्यान-गमन, समस्या, क्रीड़ा-गोष्ठी, समवाय इत्यादि प्रमुख आमोद-प्रमोद के साधन थे। अनेकानेक प्रसिद्ध मंगीतज्ञ, गायक, कवि तथा काम-कला निपुण व्यक्ति आमंत्रित किये जाते थे और उनको पुरस्कार भी दिया जाता था। कभी-कभी इस प्रकार की गोष्ठी कई दिनों तक चला करती थी। ऋतुओं के अनुसार वनविहार का आयोजन होता था। इस प्रकार की क्रीड़ाओं का मुख्य लक्ष्य प्रकृति-प्रेम नहीं किन्तु प्रकृति-सम्पर्क में काम-क्रीड़ा तथा प्रेम-लीला ही प्रधान थी। सम्भवतः यही कारण था कि आगे चलकर प्रकृति का आलम्बन रूप तिरोहित हो गया और प्रकृति उद्दीपन के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गई। जीवन को रसमय बनाने में रसिकवर्ग इतना अधिक प्रवृत्त हुआ था कि देव-मन्दिरों की यात्रा और धार्मिक समारोहों में कामियों के सम्मिलन का ढंग निकाला जाता था। इस प्रकार सारा समाज विलासिता और कामुकता से पूर्णरूप से आक्रान्त था। स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। संक्षेप में इस काल में स्त्री-पुरुषों का जीवन कला, विलास और आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण था। चरक में मित्र-मंडली के गुणों में उनका हर समय विलास-वासनामय होना एक विशेष गुण माना गया है। बौद्ध धर्म ने जिस त्याग, तपस्या और उदारता का प्रचार किया था वह भावना धीरे-धीरे लुप्तप्राय होती जा रही थी और भौतिकता प्रसार पाती जाती थी।

कवि-जीवन—ऊपर जिस रहन-सहन का वर्णन किया गया है वह सर्व-साधारण के विषय में है। कवियों तथा कलाकारों का जीवन इसकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और अधिक सम्पन्न था। उनके जीवन में सुख-समृद्धि का विशेष स्थान था। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने कवियों की जिस जीवनचर्या का वर्णन किया है वह केवल उनके समय से ही सम्बद्ध नहीं है, किन्तु चिर अतीत में भी कवियों का जीवन कुछ उसी प्रकार का होता था। कवियों का निवास-स्थान अधिकतर नदी या सरोवर के तट पर सुरम्य प्रदेश में होता था। जहां नदी या सरोवर का तट सम्भव नहीं होता था वहां कृत्रिम तड़ाग बनाये जाते थे और इस बात का ध्यान रखा जाता था कि ये भवन सब ऋतुओं में सुखकर हों। यद्यपि छोटा-सा उद्यान प्रत्येक घर के समीप विद्यमान रहता था किन्तु कवियों के भवनों के उद्यानों में एक वाटिका विशेष सुसज्जित और सुसमृद्ध रहती थी। इस वाटिका में अनेक प्रकार के वृक्ष लगाये जाते थे और लता-मंडप विशेष मनोहर होते थे। भवन से कुछ दूरी पर एक क्रीड़ा-पर्वत बनाया जाता था जहां कवियों के खेल तथा आमोद-प्रमोद इत्यादि की व्यवस्था रहती थी। भवन के पास एक वापी तथा एक छोटा सरोवर होता था जिसमें कमल लगाये जाते थे। नदियों अथवा समुद्र के आवर्तन की शोभा भी इन भवनों में विद्यमान होती थी। कुल्यायें इधर-उधर जल को प्रवाहित करती थी। वाटिका में अनेक

प्रकार के पशु-पक्षी निवास करते थे। वाटिका में इस प्रकार की कुंज बने होते थे जिनमें आतप का संताप सरलता से नष्ट हो सके। एक झूला विद्यमान रहता था। भवन में धारागृह यन्त्र भी होते थे और लतामंडप भी विद्यमान रहते थे। कक्ष या तो सर्वथा निर्जन होता था या ऐसा परिचारक वर्ग रहता था जो कि काव्याभिनवेश से उत्पन्न हुए निर्वेद को शान्त करने के लिये मौन होकर सभा प्रकार के आदेशों का पालन करने के लिये तत्पर रहे। अन्तःपुर शिक्षित होता था और मित्र-मण्डल सभी भाषाओं में निपुण होते थे।

राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने उस समय के कवियों का दैनिकचर्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। दिनचर्या में काव्य-गोष्ठी का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय इस प्रकार की गोष्ठियाँ प्रतिदिन होती रहती होंगी। केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी इस प्रकार का कवियों जैसा जीवन-यापन करने की अधिकारिणी थीं। राजशेखर के समय तक स्त्री-शिक्षा पर प्रतिबन्ध लग चुका था और स्त्रियों का कवयित्री हो सकना एक अतीत की घटना बन गई थी। किन्तु राजशेखर के समय में यह परम्परागत प्रसिद्धि अवश्य विद्यमान थी कि चिरअतीत में राजकुमारियाँ, महामात्य इत्यादि की पुत्रियाँ, गरिकाये और नटों की भार्यायें कविता करने में निपुण होती थीं। प्रतिभा कभी भी प्रतिबन्ध को सहन नहीं कर सकती। अनेक प्रतिबन्धों में भी उसका प्रस्फुटन अनिवार्य होता है। यही कारण है कि अनेक प्रतिबन्धों के होने पर भी प्रत्येक काल में कवयित्रियाँ होती रही हैं। इसी लिए राजशेखर ने “मुनी जाती है और देखी भी जानी है”—इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि राजशेखर के समय तक स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियों की काव्य-रचना गृहित दृष्टि में देखी जाने लगी थी। इसीलिए राजशेखर ने स्त्रियों के कवयित्री होने का सबल भाषा में समर्थन किया है।

कवि-सम्मेलन—इस काल में कवि-सम्मेलनों की भी भरमार थी। कवि-सम्मेलन प्रायः राजा लोगों की अध्यक्षता में हुआ करते थे। इन सम्मेलनों के लिये विशेष प्रकार के भवन बनवाये जाते थे जो अत्यन्त विशाल और विस्तृत होते थे। राजशेखर की काव्य-मीमांसा से ज्ञात होता है कि कवि-सम्मेलनों का आयोजन कई कई दिन तक चलता था। कवि-सम्मेलन भवन में यथा-स्थान बैठने का नियम था। बीच-बीच में आलोचना भी चलती थी। इन भवनों से संयुक्त क्रीड़ा-प्रांगण भी होते थे जिनमें समयानुसार क्रीड़ा का आयोजन किया जाता था। अन्त में बाहर से आये हुए कवि तथा कलाकारों का दान-मान आदि द्वारा संतोष किया जाता था। इस विषय में राजशेखर ने वासुदेव, शातवाहन, शूद्रक और साहसांक का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि बहुत समय तक राजा लोगों के दान के आदर्श यही लोग बने रहे। इससे एक तो यह लाभ होता था कि विभिन्न प्रदेशों के निवासी कवि तथा कलाकारों का परस्पर परिचय हो जाता था, शास्त्रीय विषयों का मन्थन भली-भाँति

हो जाता था, कवि तथा कलाकारों का सर्वसाधारण में सम्मान बढ़ जाता था और राजोपजीवी धनवानों को कवियों का सम्मान करने की प्रेरणा प्राप्त हो जाती थी । क्योंकि जैसा आचरण राजा का होता था उसी का अनुसरण करने की प्रवृत्ति सर्व-साधारण में हो जाती थी ।

राजशेखर ने जिन कवि-सम्मेलन सम्बन्धी भवनों का वर्णन किया है ठीक उन्हीं से मिलते-जुलते दो भवन अब भी कन्नौज में पुराने किले के ध्वंसावशेष पर विद्यमान हैं । एक कन्नौज के पूर्व में है और दूसरा पश्चिम में । इन भवनों में अनेक स्तम्भ हैं, जिनके मध्य में एक वेदी के उपयुक्त स्थान बना हुआ है । सम्भवतः यही स्थान कवियों के बैठने के लिये प्रयुक्त किया जाता होगा । इसके अतिरिक्त मत्तवारणी और बहिर्द्वार की गलना भी राजशेखर के वर्णन से मेल खा जाती है । मध्य भाग में चारों ओर से घिरा हुआ एक विशाल केन्द्रीय स्थान है । किन्तु अब ये भवन मुसलमानों के हाथ में हैं । इसीलिये केन्द्रीय स्थान को तोड़कर मुसलमानी शैली पर उनको धार्मिक स्थान के रूप में परिणत कर दिया गया है और दोनों में ही पश्चिमी भाग को तोड़कर एक लम्बी दीवाल उठा दी गई है । उन भवनों को देखने से ही इस परिवर्तन का पता चल जाता है । सम्भवतः ये भवन प्रारम्भ में कवि-सम्मेलनों को आयोजित करने के लिये बनाये गये होंगे और बाद में जब मुसलमानों के आक्रमण के अवसर पर कन्नौज का विशाल दुर्ग धराशायी किया गया, उस समय ये स्थान मुसलमानों के संरक्षण में आ गये होंगे । अब भी हिन्दू पश्चिमी भवन को सीता-रसोई के नाम से पुकारते हैं और इस प्रकार उनके हिन्दू काल से सम्बन्ध की स्मृति परम्परागत रूप में सुरक्षित बनी हुई है ।

उपयुक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष सुविधापूर्वक निकाले जा सकते हैं :—

१. ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास भारत में राजनीतिक दृष्टि से सुख-शान्ति थी । न तो किसी प्रकार का बाह्य आतक ही था और न आन्तरिक उपद्रव ही जन-जीवन को किसी प्रकार विक्षुब्ध करने का कारण बन रहा था ।
२. इस समय में सर्वाधिक समृद्ध साम्राज्य आन्ध्र के शातवाहनों का था और उनका आधिपत्य मगध पर भी स्थापित हो चुका था ।
३. आन्ध्र राज्य ऐश्वर्य, विलासिता और आमोद-प्रमोद का एक प्रधान केन्द्र बना हुआ था और यहां के राजा लोग कला, कविता तथा सांस्कृतिक चेतना को आश्रय देने में उदाहरण बन गये थे ।^१
४. देश धनधान्य से परिपूर्ण था । कुछ तो विदेशी व्यापार के कारण, कुछ आन्तरिक सुविधाओं से देश में चारों ओर सुख-समृद्धि की एक लहर दौड़ी हुई थी ।

१. राजशेखर ने क.व्य-मीमांसा में दान में शातवाहन का अनुकरण करने का प्रतिपादन किया है ।

५. सम्पत्ति के साथ विलासिता तथा आमोद-प्रमोद का आधिक्य अनिवार्य होता है। यही बात उस समय सर्वसाधारण के जीवन में दृष्टिगत हो रही थी। चारों ओर विलासप्रियता तथा मनोरंजन इत्यादि का प्राधान्य था और लोगों की दिनचर्या विलासितामय थी।
६. रमणियां कलापूर्ण जीवनयापन करती थीं और उनको कलाओं की शिक्षा देना अनिवार्य था।
७. कलाओं के साथ काम-शास्त्र की शिक्षा भी कन्याओं को देना आवश्यक समझा जाता था।
८. समाज में इस प्रकार का वातावरण विद्यमान था जिससे बला, माहित्य और विज्ञान की ओर सर्वसाधारण की तथा कलाकारों की प्रवृत्ति हो सकती थी।
९. कवियों का जीवन आमोद-प्रमोदमय और अधिकतर कृत्रिम ही था। प्रकृति के सम्पर्क से व्यवहित होकर वे एकान्त-साधना में जीवन व्यतीत करते थे और कवित्व के लिये उपयुक्त वस्तुओं का संकलन अपने निवास-स्थानों पर ही करने की चेष्टा किया करते थे।
१०. उन दिनों कवि-सम्मेलनों और कवि-गोष्ठियों की भरमार थी। कवि लोग दूर-दूर तक इन सम्मेलनों में सम्मिलित होने के लिये यात्रा किया करते थे। इससे इन्हें देश-विदेश का ज्ञान प्राप्त होता था।

उपर्युक्त परिस्थिति का काव्य को प्रभावान्वित करना अवश्यंभावी था। यह बात स्वाभाविक ही थी कि काव्य-जगत् में प्रकृति का तिरोधान हो जाता और उसका स्थान नरकाव्य को अधिगत हो जाता। जब सारा समाज और विशेष रूप से कविवर्ग प्रकृति से व्यवहित होकर भौतिक चकाचौंध में जीवनयापन करने लगा था, जबकि प्रकृति का सम्पर्क भी पारस्परिक प्रेमास्वादन के निमित्त ही स्थापित किया जाता था और जब दिनचर्या, नैमित्तिकचर्या तथा वार्षिकचर्या में सर्वत्र कला का आस्वादन ही प्रधान हो गया था तब उस समय के काव्य से शुद्ध प्राकृतिक चित्रों को प्राप्त करने की सम्भावना हो ही कैसे सकती थी? दूसरी बात यह भी थी कि उस समय जन-जीवन किसी प्रकार के संघर्ष में व्यस्त नहीं था। अतएव वैदिककाल की सच्ची वीर भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर भी नहीं था। कविता में शृंगार रस का शासन पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और दूसरे रस एक तो सामने आने का साहस ही बहुत कम करते थे अथवा यदि आते भी थे तो भी उन्हें जन-समाज का सम्मान प्राप्त करने में निराश ही होना पड़ता था। मुक्तक काव्य के क्षेत्र में तो कवि अपने काव्याभिनिवेश के अनुसार विषय का उपादान करने के लिये स्वाधीन हुआ करता है। अतएव उस क्षेत्र में शृंगार रस का साम्राज्य हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। प्रबन्ध काव्यों तथा नाट्य

काव्यों में भी हमें शृंगार रस की प्रधानता ही दृष्टिगत होती है। कहीं-कहीं कवि प्रबन्ध-निर्वाह के लिये भी सपने शृंगार रस के व्यामोह का संवरण नहीं कर सकते थे। इसके बहुत ही सुन्दर उदाहरण हमें बृहत्त्रयी के काव्यों में उपलब्ध हो जाते हैं। शिशुपाल वध में भगवान् कृष्ण की इन्द्रप्रस्थ की यात्रा के प्रसंग में केवल रति-क्रीड़ा के वर्णन करने में ही आधे से अधिक महाकाव्य व्यय कर दिया गया है जो कि प्राकरणिक कभी नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार किराताजुनीय में अर्जुन की तपस्या को भंग करने के लिए गन्धर्व और किन्नरी भेजी गई हैं। मार्ग में उनके शृंगार को विस्तार देने के लिए लगभग उतनाही भाग व्यय किया गया है। बेणी संहार में वीर रस के बीच में भी शृंगार रस की प्रधानता का यही कारण है जैसा कि कालिदास ने ताटका वध में और माघ ने युद्ध वर्णन में यत्र-तत्र किया है। कहीं-कहीं युद्ध-वर्णन में भी शृंगार रस के समावेश करने की चेष्टा की गई है। आशय यह है कि शृंगार रस की प्रधानता उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल थी। जन साधारण के अनुरञ्जन के लिये कवियों को अप्रासंगिक भी शृंगार रस का उपादान करना पड़ता था।

शृंगार रस की प्रधानता के मनोवैज्ञानिक कारण—उपर्युक्त सामयिक परिस्थितियों के अतिरिक्त शृंगार रस की प्रधानता के और भी अनेक कारण हैं। सबसे पहली बात यह है कि कवि-कर्म का मुख्य व्यापार सौन्दर्य-चित्रण करना और रस का आस्वादन कराना है। यह सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य भी हो सकता है और नाद-सौन्दर्य भी तथा करणोत्तर सम्बद्ध भी हो सकता है। इस सौन्दर्य का पर्यवसान स्त्री-रूप में होता है। चरक में कहा गया है :—

दृष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः ।

किं पुनः स्त्री-शरीरे ये संघातेन व्यवस्थिताः ॥

सघातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते । चिकि० अ० २

(इन्द्रियों का एक-एक भी विषय अभीष्ट तथा अत्यन्त आनन्द देने वाला होता है, फिर स्त्री के शरीर का तो कहना ही क्या जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये सभी इन्द्रियों के अर्थ सामूहिक रूप में स्थित होते तथा आनन्द देते हैं। इन्द्रियों के अर्थों की समूहावलम्बनात्मक स्थिति केवल स्त्री शरीर में ही होती है। कहीं दूसरे स्थान पर नहीं होती। अतएव सर्वाधिक सौन्दर्य-पूर्ण स्त्री शरीर के चित्रण में कवि-कर्म का प्रधानतया प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि भारतीय मनीषियों ने धर्म, अर्थ और काम को सर्वदा समान महत्व दिया है। तीनों का संतुलन और अवरोध ही वैयक्तिक साधना की सफलता का मूल मंत्र है और सामूहिक गति-विधि की पूर्णता का परिचायक है। धर्म और अर्थ साधन हैं तो काम साध्य है। यदि धर्म और अर्थ साधना रूप वृक्ष के मूल तथा स्कन्ध हैं तो काम फल है। बिना काम प्राप्ति के धर्म और अर्थ निरर्थक हो जाते हैं। धर्म और अर्थ साधना प्रधान होते हैं और काम उपभोग प्रधान। इसलिये भी उपभोग रूप

काव्य रसास्वारन में काम की प्रधानता होना संगत ही है।

ध्वनिकार ने माधुर्य गुण का परिचय देते हुए कहा है—“शृंगार रस ही परम आह्लादजनक होता है, अतः वही मधुर कहा जाता है। शृंगार रस का आश्रय लेकर माधुर्य गुण का अवस्थिति होती है।” इस कारिका की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि शृंगार रस की भावना ही ऐसा है जो देव, तिर्यक्, पशु और मनुष्य प्रत्येक स्थान पर पाई जाती है। जिस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी, स्वस्थ कोई भी व्यक्ति जैसे ही शक्कर को अपनी जिह्वा पर डालता है वैसे ही उसे मधुरता का अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, शृंगार रस से उसकी आत्मा वासित अवश्य होती है। अतः सबके लिये सर्वाधिक आह्लाद-जनक होने कारण शृंगार रस ही मधुर रस होता है। भरत मुनि ने शृंगार रस की परिभाषा करते हुए लिखा है कि संसार में जो कुछ भी पवित्र, उज्ज्वल, मेघ्य अथवा दर्शनीय हो, उस सबका अनुमान शृंगार के द्वारा हो जाता है तथा जो भी व्यक्ति उज्ज्वल वेश वाला हो वह शृंगारमय कहा जाता है।

अनेक साहित्याचार्यों ने विभिन्न तर्कों के आधार पर कई रसों को रस-राज सिद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ समालोचक भरत मुनि के निम्नलिखित श्लोक को लेकर शान्त रस को रसराज सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं :—

स्वं स्वं निमित्तमाश्रित्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

(चित्त की प्रशमावस्था या शान्तावस्था से ही अपने-अपने निमित्त का आश्रय लेकर कोई भी भाव उद्भूत होता है और निमित्त के अभग्न में पुनः वह भाव शान्त अवस्था में हो जाता है।) इसी प्रकार दूसरे लोगों ने रस में चमत्कार की प्रधानता का आधार लेकर उद्भूत रस को रसराज सिद्ध करने की चेष्टा की तथा कुछ और आलोचकों ने सभी रसों का उद्भव दुःख की भावना से ही मान कर, कहण रस को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। किन्तु इन आलोचकों की सम्मति अधिक सम्मानित नहीं हो सकी। कारण यही है कि भावना के दो छोर माने जाते हैं—सुख और दुःख। शृंगार रस ही केवल ऐसा रस है जिसका विरोध किसी पक्ष से नहीं होता। इस रस में दोनों पक्ष विद्यमान रहते हैं। दूसरी बात यह है कि संचारियों का जितना बाहुल्य शृंगार रस में होता है, इतना दूसरे रसों में नहीं होता। रस-विरोध परिहार के प्रकरण में ध्वनिकार ने लिखा है कि विरोध-परिहार का विशेष विचार शृंगार रस में ही होना चाहिए। कारण यह है कि शृंगार रस की आत्मा रति का परिपोष ही है और रति स्वल्पतम विरोध के कारण के उपस्थित होते ही भंग हो जाती है इसीलिये रति सर्वाधिक सुकुमार मानी जाती है। कहा जाता है कि यों तो रसत्व जाति ही सुकुमार होती है। दूसरे रस तो कुछ-न-कुछ विरोधी रसों को सहन कर लेते हैं, किन्तु शृंगार रस थोड़े से भी विरोध को सहन नहीं कर सकता। निःसंदेह शृंगार रस मभा

सांसारिक व्यक्तियों के लिये नियमपूर्वक अनुभव का विषय होता है। इसीलिये सभी रसों की अपेक्षा अधिक कमनीय होता है और सभी की अपेक्षा अधिक प्रधान माना जाता है। यह तो हुई शृंगार रस में दूसरे विरोधी रस के समावेश की बात। इसके प्रतिकूल दूसरे रसों में शृंगार रस का उपादान दूषित नहीं माना जाता। आशय यह है कि विनेय व्यक्तियों को उन्मुख करने के लिये यदि काव्य-शोभा का आधान करना हो तो शृंगार रस अथवा उसके अंगों का स्पर्श दूषित नहीं माना जाता। उदाहरण के लिये शान्त रस शृंगार का सर्वथा विरोधी है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि—“जिस प्रकार कोई तरुणी अपने प्रियतम के वियोग में सांसारिक संतापों का अनुभव करती है और फिर जब संयोगवश उसे अपने प्रियतम का स्पर्श प्राप्त हो जाता है, तब वह आनन्दातिरेक से अपने को भूल-सी जाती है, उसी प्रकार हे भगवन् ! मेरी चेतना आप से वियुक्त होकर संसार के विभिन्न संतापों का अनुभव करती है और जब कभी थोड़ा सा भी आपका संस्पर्श प्राप्त कर लेती है तब आनन्दातिरेक से अपने को भूल सी जाती और सर्वथा अपने को आप में ही लीन कर देती है।” यहाँ पर शान्त रस के विभावों और अनुभावों का शृंगार रस की भगिमा के साथ निरूपण किया गया है। आशय यह है कि काव्य का सबसे बड़ा प्रयोजन विनेय व्यक्तियों को विनय के उपदेश ग्रहण कराना है। यह कार्य तब तक भली-भाँति नहीं हो सकता, जब तक विनेय व्यक्ति उन्मुख न हो जावे और तब तक काव्य-शोभा का ठीक रूप में सम्पादन भी नहीं माना जा सकता। अधिकतर व्यक्तियों का अन्तःकरण शृंगार रस की वासना से वासित होता है। अतः शृंगार रस के द्वारा वे व्यक्ति सरलतापूर्वक आनन्द का अनुभव करते हुए विनय के उपदेशों की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इस प्रकार सभी रसों का अधिकारी होने के कारण शृंगार रस ही सबसे अधिक प्रधान माना जाता है।

काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस के प्रधान रूप से प्रतिष्ठित हो जाने का एक और बहुत बड़ा कारण था। धीरे-धीरे कवि-कर्म ध्वनिकार की वेदगध्य-भंगी-भरिणिति और कुन्तक की वक्रोक्ति की पृष्ठभूमि तैयार करने में प्रवृत्त हो रहा था। यों तो काव्य का सबसे बड़े लक्ष्य लोकोत्तर आनन्द का अनुभव कभी स्वशब्द वाच्य हो ही नहीं सकता और उसकी निष्पत्ति विभाव और अनुभाव द्वारा ही साध्य होती है किन्तु इस काल तक आते-आते वस्तु-व्यंजना और अलंकार-व्यंजना ने पूर्ण रूप से काव्य के क्षेत्र में अपना अधिकार जमा लिया था। किसी बात को इस रूप में कहना कि वह केवल सहृदय-हृदय-सम्बन्ध ही हो सके और वाच्य-व्यतिरिक्त नवीन अर्थ की उद्भावना के साथ-साथ सहृदय के हृदय में एक तड़प उत्पन्न कर सके यह कवि-व्यापार का प्रधान क्षेत्र बन गया था। वही भाव कवि-कर्म का प्रधान विषय हो सकता था जिसमें अधिक-से-अधिक किसी बात को छिपाकर कहने का अवसर हो कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दिशा में सर्वाधिक प्रशस्त पद पर आसीन होने का एकमात्र अधिकारी शृंगार रस ही हो सकता था। इस रस में उक्ति-वैचित्र्य का जितना अवसर है

उतना और किसी दूसरे रस में हो ही नहीं सकता। स्वाभाविक बात है कि अंतस्तल में जितनी प्रेम-पीड़ा उद्भूत होती है उतना ही संकोच बढ़ता है। जब तक अभीष्ट वस्तु का उपभोग प्राप्त न हो जावे तब तक हृदय में शान्ति स्थापित नहीं होती और वह अभीष्ट प्राप्ति जिस व्यक्ति के हाथ में होती है उस व्यक्ति के सामने ही उसको प्रकट करने में सबसे अधिक संकोच होता है। प्रियतम पर अपनी भावना व्यक्त करने की जितनी उत्कण्ठा होती है उतना ही उससे अपना भाव छिपाया जाता है। यही नहीं जब वही प्रियतम अपनी भावना स्वयं व्यक्त करने आता है तब भी उसके सामने निष्ठुरता धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि भावना प्रकट हो जाती है तो अवधीरणा का भय रहता है। इसी बात को अमर कलाकार कालिदास ने इस प्रकार कहा है :—“महती उत्कण्ठा के होते हुए भी प्रियतम की प्रार्थना पर कुटिलता धारण कर ली जाती है। बालायें प्रायः सम्भोग-सुख की कामना करते हुए भी स्वांगदान में कातर हो जाती हैं। इस प्रकार कुमारियों को केवल कामदेव ही पीड़ित नहीं करता अपितु समय का अतिक्रमण कर कुमारियां भी कामदेव को पीड़ित करती हैं।” बिहारी के शब्दों में:—

सरस सुमिल चित तुरंग की करि करि अमित उठान ।

गोइ निवाहें जोतियं खेलि प्रेम चोगान ॥

उपयुक्त परिस्थिति के अतिरिक्त लोक का भय भी सबसे बड़ा प्रतिबन्धक होता है। एक ओर अपने प्रियतम पर अपनी भावना को इस रूप में व्यक्त करने की आकांक्षा होती है कि प्रियतम कहीं उपेक्षा न कर दे और दूसरी ओर इस बात का भी भय होता है कि कहीं लोक-निन्दा न होने लगे। दूसरी ओर प्रियतम की छोटी-छोटी बातें, उसका चलना-फिरना, उठना-बैठना—सभी कुछ मधुर प्रतीत होता है जिसको अपने निकटवर्ती सहचर पर प्रकाशित करने में एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। साथ ही केवल अपनी ही नहीं दूसरे की रति का अवलोकन भी आनन्दमय कौतूहल का कारण बन जाता है। प्रेम की अनेक दिशाएँ होती हैं। सम्भोग के अनन्त रूप होते हैं। प्रेम की योजना के लिये मध्यस्थ अपेक्षित होता है जिसको स्वयं ही इतनी अधिक निपुणता से चलना पड़ता है कि प्रेम की संयोजना भी सुविधापूर्वक हो जावे और किसी प्रकार का दोष भी न उत्पन्न हो। इन सब कारणों से रति-भाव में वैदग्ध्य-भंगी-भणिति और वक्रोक्ति का अनन्त क्षेत्र है और यही कारण है कि काव्य के क्षेत्र में शृंगार ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी बात को भरत मुनि ने इस प्रकार कहा है:—“जो कि कामना होते हुए भी स्त्रियों की अभिलाषा विपरीत व्यवहार में होती है, जो कि स्त्रियां सम्भोग बचा जाने की इच्छा किया करती हैं, जो कि समाज में उनके स्वच्छन्द रत्याचरण का निषेध किया जाता है और जो कि स्वतन्त्रतापूर्वक स्त्रियों की प्राप्ति कठिन होती है

बस ये, ही बातें रति के एक बहुत बड़े आनन्द का हेतु हैं। अर्थात् स्त्रियों का विध्वित सम्भोग ही मनुष्य को बहुत बड़ा आनन्द देनेवाला होता है।”

संक्षेप में उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थिति शृंगार-भावना के अनुकूल थी। कवियों की व्यक्तिगत परिस्थिति भी कवियों को इस दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान कर रही थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शृंगाररस ही समस्त जीव-जन्तुओं और सभी प्रकार की परिस्थितिवाले व्यक्तियों की भावना के अनुकूल होता है। अन्य रसों का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं होता। शृंगार रस में मुख तथा दुःख दोनों का समान प्राधान्य होता है। संचारीभावों की पर्याप्त अधिकता होती है। शृंगार रस सबसे अधिक कोमल होता है। इसमें किसी भी विरोधी रस का समावेश उसे मलिन बना देता है किन्तु शृंगार रस के माध्यम से व्यक्त किया हुआ कोई भी भाव अधिक शोभा धारण कर लेता है। उक्ति-त्रैचिध्य जो कि काव्य का जीवन है इस रस में सबसे अधिक सम्भावित हो सकता है। वस्तु-व्यंजनाओं तथा अलंकार-व्यंजनाओं का सबसे अधिक अवसर शृंगार रस में ही है। इन्हीं कारणों से काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस ही सबसे अधिक महनीय पद का अधिकारी हुआ और उसी का अखण्ड साम्राज्य समस्त काव्य-जगत् पर अबाध रूप से स्थापित हो गया। यही उस समय के परिवर्तन के मूल प्रवृत्ति-निमित्त थे।

सामान्य विशेषतायें

इस काल की समस्त काव्य-वस्तु को हम दो भागों में बाट सकते हैं— प्रकृति-काव्य और नर-काव्य। पहले बतलाया जा चुका है कि इस काल में प्रारम्भ से ही प्रकृति-वर्णन का स्थान नर-काव्य ने ले लिया। काव्य-जगत् में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काव्य की ही प्रधानता हो गई और प्रकृति-सौन्दर्य के स्थान पर स्त्री-सौन्दर्य-चित्रण में ही कवि-कर्म प्रवृत्त रहा। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि उस समय प्रकृति-काव्य का सर्वथा अभाव ही बना रहा। समय-समय पर प्रकृति-काव्य भी लिखा गया और कतिपय बड़ी ही महत्त्वपूर्ण रचनायें सामने आयी। किन्तु इस काल के प्रकृति-काव्य में एक व्यवस्थित पद्धति पर ही रचना करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। कालिदास इत्यादि दो-एक कवियों को छोड़कर शेष कवि न तो प्रकृति के सम्पर्क में ही आना चाहते थे और न उनका प्राकृतिक ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता था। अधिकतर निश्चित प्रणाली का अनुसरण किया जाता था और उसके लिये उस समय ग्रंथ भी तैयार थे। इस कार्य के लिये देश और काल का विभाजन कर लिया गया था तथा उसी के अनुसार वर्णन किया जाता था। राजशेखर ने इस प्रकार के विभाजन का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। प्राकृतिक चित्रण की दिशा में षड्ऋतु वर्णन की ही प्रधानता थी, प्रत्येक ऋतु के लिये वृक्ष-पृथक् पशु, पक्षी तथा वृक्ष और दूसरे प्रकार की विशेषताओं की कल्पना कर

ली गई थी और उसी आधार पर उन ऋतुओं के वर्णन करने की परम्परा चल दी थी। कहीं-कहीं ऋतुओं की गणना वर्षा से की जाती थी और कहीं-कहीं बसन्त से। वर्षा, शरद्, बसन्त और ग्रीष्म में वृक्षों और पशु-पक्षियों का बहुतायत से वर्णन किया जाता था। किन्तु हेमन्त और शिशिर में एक-दो को छोड़कर पुष्पों का सर्वथा अभाव ही बतलाया जाता था। प्रस्तुत समय में प्रकृति-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं-कहीं प्रकृति पर मानव-भावनाओं और अनुभावों का आरोप किया गया है तथा दूसरे स्थानों पर प्राकृतिक-सौन्दर्य का तादात्म्य मानव-सौन्दर्य से दिखलाया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति को मानव मनोवृत्ति के प्रकाश में देखने की चेष्टा की गई है तो अन्यत्र इन भावनाओं का बिना स्पर्श किये हुए प्रकृति अपने स्वच्छन्द तथा निर्मुक्त अवस्था में दिखलाई गई है। कहीं-कहीं प्रकृति भाव विशेष की उद्दीपक होकर भी आई है। प्रकृति से सादृश्य-विधान भी इस युग की एक विशेषता रही है। अतएव अनेक अलंकार प्रकृति से ही अनुप्राणित हुए हैं। कहीं-कहीं कोई प्रेमी या प्रेमिका प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन के द्वारा संकेत स्थान की व्यञ्जना करते हुए दिखलाये गये हैं और कहीं-कहीं उन स्थानों के द्वारा स्मृति जागृत करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार प्रकृति-काव्य को हम निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) मानव-वृत्त का प्रकृति पर आरोप—इस प्रकार के वर्णन में प्रकृति मानव की भावनाओं अथवा अनुभावों से ओत-प्रोत दिखलाई गई है।

(२) प्रकृति-वृत्त का मानव पर आरोप—इसमें प्राकृतिक वर्णन स्त्रियों के सौन्दर्य-वर्णन के मन्तव्य से किया जाता है और मानव-सौन्दर्य के उपक्रान्त होने के कारण गौण स्थान का अधिकारी होता है। कवियों ने कहीं-कहीं नायिकाओं के शरद् के रूप में दर्शन किये हैं और कहीं निशा के रूप में तथा कहीं संध्या के रूप में। इन सब वर्णनों में मानव पर प्राकृतिक सौन्दर्य का आरोप मिलता है।

(३) चेतन वृत्त का प्रकृति पर आरोप—इस वर्णन में मानव वृत्त का नहीं अपितु चेतन वृत्त का प्रकृति पर आरोप किया जाता है। अनन्त विस्तृत नीलाकाश रूपी गहन वन में चन्द्रमा का सिंह के रूप में वर्णन करना एक सामान्य विषय रहा है, इसी प्रकार अन्य वर्णन भी पाये जाते हैं।

(४) स्वतन्त्र प्रकृति का वर्णन—आनन्दवर्धन ने लिखा है कि स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन ही नहीं सकता। प्रकृति वर्णन में किसी-न-किसी रूप में चेतन वृत्त का आरोप रहता अवश्य है। यह कथन इसी अर्थ में सही माना जा सकता है कि अधिकतर आरोपित प्रकृति का ही वर्णन इस काल में हुआ है। दूसरी बात यह है कि कवि और सहृदय की भावनाओं से निरपेक्ष प्रकृति का वर्णन सम्भव ही नहीं है। यही आनन्दवर्धन का मन्तव्य हो सकता है। अन्यथा काव्य में स्वतन्त्र प्रकृति का वर्णन उपलब्ध हो ही जाता है। यह वर्णन दो रूपों में

मिलता है—या तो प्राकृतिक वस्तुओं का इस रूप में तथा ऐसे संयोग के साथ परिगणन करा दिया गया है जो कि चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्राकृतिक वस्तुओं की तत्समकक्ष दूसरी वस्तुओं से तुलना कर दी गई है।

(५) मानव भावनाओं के प्रकाश में प्रकृति के दर्शन—मानव की मनोवृत्ति जिस समय जैसी होती है उसे प्रकृति का भी वैसा ही स्वरूप दृष्टिगत होता है। एक संयोगी को सायंकाल की संध्या की अरुणिमा प्रकृति के द्वारा आकाश पर बिखरे हुए कुंकुम के समान प्रतीत होती है तो वियोगिनी को वही दृश्य रक्त की लाली के समान दिखाई देता है। मानव सदा अपने सुख-दुःख को प्रकृति से मिलाने का अभ्यस्त रहा है और उसी के रूप में प्रकृति का उपादान भी कवि-कर्म का एक प्रधान लक्ष्य रहा है।

(६) उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन—भावुकता मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। किन्तु परिस्थितियों का इन भावनाओं पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। चन्द्रिका पूर्ण प्रकाश के साथ छिटकी हुई हो, मल्लिका की मुगन्ध नासारन्ध्र को आप्यायित कर रही हो और सुदूर से आती हुई गीतिध्वनि कर्ण-प्रीणन बन रही हो ऐसी दशा में प्रियतम की स्मृति स्वभावतः जागृत हो ही जाती है और मानव-भावना उद्दीप्त हुए बिना नहीं रहती। चतुर्थ कोटि में इससे अन्तर यह है कि चतुर्थ कोटि में प्रकृति का वर्णन प्रधान होता है और परिस्थिति सापेक्ष उसका वर्णन किया जाता है तथा उस वर्णन में मानव भावनाओं के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का उपादान होता है।

(७) अलंकारों के रूप में प्रकृति का चित्रण—कालिदास इत्यादि प्रतिष्ठित कवियों ने उपमा, रूपक इत्यादि के रूप में प्राकृतिक तत्त्वों का अधिकतर उपादान किया है। इस रूप में भी प्रकृति के सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये हैं।

(८) व्यञ्जक के रूप में प्रकृति-चित्रण—कहीं-कहीं प्रकृति वर्णन के व्याज से या तो संकेत-स्थान की सूचना दी जाती है या हृदयगत अभिलाषा अपने प्रियतम के सामने इस रूप में व्यक्त की जाती है कि उसे तटस्थ व्यक्ति न समझ सके और प्रियतम के सामने हीनता भी न हो। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक वर्णन वाच्य होता है और भावान्तर व्यंग्य। वाच्यार्थ सामर्थ्य से ही व्यञ्जना निकलती है। अतः इस वर्णन को हम व्यञ्जक के रूप में प्रकृति वर्णन मान सकते हैं।

समस्त प्रकृति चित्रण के लिये यह एक सामान्य नियम है कि इस वर्णन में सच्चाई होनी चाहिए।^१ सच्चाई का अर्थ यह है कि उस वर्णन के द्वारा कवि का अज्ञान प्रकट न हो। वर्णन को देखकर यह प्रभाव अवश्य पड़ना चाहिए कि कवि को प्राकृतिक परिस्थिति का ज्ञान है। कारण यह है कि असत्यता का प्रतिभास ही

१. 'देखो-रसज्ञ रंजन' श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित।

काव्यरस का सबसे बड़ा प्रतिबन्धक होता है। यदि केशव के समान धनिया और धान एक साथ दिखलाये जावें तो पाठक विरक्त हो जावेगा। उसे उस वर्णन में किसी प्रकार का आनन्द नहीं आयेगा। इसके प्रतिकूल यदि कालिदास का ईश और धान का वर्णन सामने आवेगा तो उस वर्णन में एक सत्य प्रकट होगा और उससे पाठक कभी विरक्त नहीं होगा। किन्तु परम्परा के आधार पर कुछ वर्णनों के विषय में कवियों में समझौता रहता है। यद्यपि ये वर्णन लोकानुगत नहीं होते तथापि अनेक शताब्दियों की परम्परा में विकसित होने के कारण वे लोकानुगत के समान ही हो जाते हैं और असत्य के रूप में उनका प्रतिभास नहीं होता। इन वर्णनों में जो तथ्य स्वीकृत रहते हैं उन्हें कवि-समय-ख्याति के नाम से पुकारा जाता है।

नर-काव्य—पहले बतलाया जा चुका है कि इस काल में प्रकृति-काव्य गौणातिगौण अवस्था को पहुँच गया था। प्रकृति-सौन्दर्य का स्थान नारी-सौन्दर्य ने ले लिया था। वस्तुतः इस काल का लगभग समस्त रसात्मक मुक्तक-काव्य स्त्री-पुरुष की प्रेम-लीलाओं से भरा है और सामान्य भाव का चित्रण भी अनिर्दिष्ट नायक-नायिकाओं के प्रसंग में किया गया है। भरत मुनि का आदेश है कि काव्य अथवा नाट्य-वस्तु तथा उसकी उपचार विधि का उपादान कामसूत्रों से होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि इस काल के समस्त रसात्मक मुक्तक काव्य-जगत् पर वात्स्यायन का कामसूत्र छाया हुआ है। कामसूत्रों में कामशास्त्र की प्राचीन परम्परा के अनुसार सात अधिकरण रखे गए हैं। साधारण, साम्प्रयोगिक, कन्या-सम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक तथा औपनिषदिक। औपनिषदिक अधिकरण आयुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। अतः यह काव्य के उपयुक्त नहीं हो सकता। शेष ६ प्रकरणों का रसात्मकता के सम्पादन के लिए पूरा उपयोग किया गया है। इन अधिकरणों में अनेक अध्याय हैं और अध्यायों में कई-कई प्रकरण हैं। इन अधिकरणों का विषय अत्यन्त व्यापक है। दैनिक आमोद-प्रमोदमय जीवन किस प्रकार का होता है? वार्षिक उत्सव कौन-कौन से होते हैं? सामयिक आमोद-प्रमोदों का आयोजन किस प्रकार किया जाना चाहिए? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर बड़े विस्तार से दिया गया है। इसके अतिरिक्त सुरत समय के चुम्बन इत्यादि क्रिया-कलापों का भी पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। किन्तु कामसूत्रों का सर्वाधिक भाग भावनाओं के निरूपण में व्यय हुआ है। विभिन्न प्रकार की स्त्रियों को किस प्रकार वश्य करना चाहिए। किन अवस्थाओं में स्वयं अभियोग हितकर होता है और किन अवस्थाओं में दूती का प्रयोग अच्छा होता है? किन चेष्टाओं से भाव-परीक्षण करना चाहिए? स्त्रियों को पुरुषों पर किस प्रकार अधिकार करना चाहिए? इत्यादि प्रश्नों का विस्तृत उत्तर देना ही कामसूत्र का प्रधान विषय है और इन सबका समावेश मुक्तक-काव्य में पूर्णरूप से हुआ है।

काम-सूत्रों के जो विषय काव्योपयोगी थे और काव्यों में जिनका समावेश हुआ था उनका ठीक वर्गीकरण और विभाजन बाद के आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र में किया। नायिका-भेद, नायिकाओं के अलंकार, दूतीकर्म, अनुभाव, सञ्चारी भाव इत्यादि रसोपयोगी तत्त्वों के निरूपण में कामसूत्रों का आधार सर्वत्र लिया गया है और इस प्रकार के निरूपण का मुख्य मन्तव्य तत्कालीन काव्यों की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करना ही है। इन सबका पर्याप्त विस्तार अलंकार-ग्रन्थों में विद्यमान है, अतः अनपेक्षित होने के कारण इनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। संक्षेप में निम्नलिखित विशेषतायें इस काल के काव्यों में पाई जाती हैं :—

१. कविता के विषय का उपादान कामसूत्रों के आधार पर होता था।
२. अनिर्दिष्ट नायक और नायिका की किसी विशेष दशा का वर्णन करना ही इस काल की कविता का मुख्य लक्ष्य था।
३. कविता के क्षेत्र में उच्च घराने की, सामान्य कोटि की और निम्न-श्रेणी की सभी प्रकार की नायिकाओं का समावेश होता था।
४. कविता में व्यंजना की प्रधानता थी और उक्ति-वक्रता सबसे अधिक भावपोषक मानी जाती थी।
५. कविता में बाह्य चमत्कार और तड़कीले-भड़कीलेपन का महत्त्व नहीं था। शब्द-चमत्कार के स्थान पर अर्थ-चमत्कार ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।
६. कविता के क्षेत्र में अनुभावों का अधिक चमत्कार था। स्त्री-सौन्दर्य के दर्शन अधिकतर भावना से सम्बलित रूप में ही किये जाते थे।
७. प्रेम-प्रसंग के वर्णन में सामयिक रीति और नीति, आचार-व्यवहार इत्यादि का भी पर्याप्त मात्रा में प्रतिफलन हुआ है।
८. कवि प्रस्तुत विधान में या दूसरे रूप में अपनी अनेक शास्त्र-विज्ञता का परिचय दिया करते थे। वैद्यक, ज्योतिष इत्यादि अनेक शास्त्रों के विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर उदाहरणों की जाती थीं।
९. यद्यपि ये कवितायें लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरण संकलित करने के लिये नहीं लिखी जाती थीं तथापि इनमें लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरण प्रस्तुत करने की पर्याप्त क्षमता थी। कवि-कर्म एक विशिष्ट बन्धे हुए मार्ग पर चलने का अभ्यासी होता जा रहा था और कवियों को सहायता देने के लिये अनेक पुस्तकें प्रस्तुत की जा रही थीं। इस बात का विस्तार से निरूपण किया जा रहा था कि कवियों को किन-किन अवस्थाओं में कौन-कौन-सी भावनाओं और अनुभावों का वर्णन करना चाहिये।
१०. कविता धीरे-धीरे दिखावटी वस्तु और मनोरञ्जन का साधन बनती जा रही थी। कवि लोग प्रत्यक्ष आधार पर नहीं अपितु पुस्तकीय आधार पर कविता करने के आदी होते जा रहे थे।

११. प्रारम्भ में काम-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली कविता प्राकृत भाषा में ही होती थी । बाद के कवि संस्कृत में भी इस प्रकार की कविता करने लगे थे ।
१२. इस काल की प्रारम्भिक और परवर्ती रचनाओं में प्रवृत्ति-निमित्त मूलक पर्याप्त अन्तर है । अपभ्रंश कविता-काल तक आते-आते कविता में बाह्याडंबर की प्रधानता बढ़ चली थी । काव्य कहीं-कहीं अलंकार के मन्तव्य से ही लिखे जाने लगे थे । अपभ्रंश की कविता में कामिनियों की कामना के रूप में जहां एक ओर शृंगारिक व्यंजनाएँ हुई हैं, वहां दूसरी ओर वीर भावों की भी बहुत ही सुन्दर व्यंजनाएँ दृष्टिगत होती हैं ।
१३. इस काल की कविता में कहीं-कहीं देवताओं के विषय में रति भाव का भी वर्णन मिलता है किन्तु इस प्रकार के वर्णन की बहुत कमी है । अधिकतर कविता लौकिक-क्षेत्र में ही विचरण करती रही है ।
१४. उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार भी इस काल में प्रधान थे, किन्तु इस कार्य के लिये अस्वाभाविकता हेय समझी जाती थी ।
१५. अत्युक्ति अलंकार केवल अतिशयोक्ति के रूप में ही समीचीन माना जाता था । अन्यथा यह अरसिक लोगों की वस्तु माना जाता था । ग्राम्यता एक बहुत बड़ा दोष समझा जाता था ।

ये ही उस काल के सामान्य प्रवृत्ति-निमित्त थे ।

इस काल की प्रमुख रचनायें

(१) गाथा सप्तशती—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, लगभग एक करोड़ गाथाओं से संकलित करके चमत्कारपूर्ण सात सौ गाथाओं का यह कोष-ग्रन्थ आन्ध्र के मुसमुद्ध राज्य में प्रस्तुत किया गया था । उस समय आन्ध्र में शात-वाहन अथवा शालिवाहन राजाओं का शासन था । गाथा सप्तशती का संकलन करनेवाले शातवाहन के विषय में स्वर्गीय श्री दुर्गाप्रसाद जी महामहोपाध्याय ने पर्याप्त प्रकाश डाला है । डाक्टर पेटरसन को बूंदी-नरेश से गाथा सप्तशती की एक प्रति प्राप्त हुई थी । इसकी समाप्ति पर कवि के विषय में संक्षिप्त परिचय दिया गया है । इसमें ज्ञात होता है कि कुन्तल नरेश शातवाहन की सभा अनेक विद्वानों से परिपूर्ण थी । बृहत्-कथा के लेखक गुणादय तथा कलाप व्याकरण के रचयिता शर्ववर्मा इत्यादि इन्हीं की सभा के रत्न थे । इनकी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) थी । पिता का नाम द्वीपिकर्ण और पत्नी का नाम मलयवती था । ये मलयवती के उपदेश से पंडित हुए थे । कहा जाता है कि एक बार जल-क्रीड़ा के अवसर पर मलयवती ने इन महाराज की संस्कृतानभिज्ञता की हंसी उड़ाई थी । इससे सन्तप्त होकर इन्होंने शर्ववर्मा से व्याकरण का पांडित्य प्राप्त किया

था और उसके पुरस्कार में गर्ववर्मा को भर कच्छ का प्रदेश समर्पित किया था । इनके हाल, शाल, शालवाहन इत्यादि अनेक नाम थे । हाल का उल्लेख बड़े गौरव के साथ अनेक कवियों और शास्त्रकारों ने किया है तथा इनको दानियों का आदर्श माना है । इनकी रसिकता का पता इसी बात से चल सकता है, जैसा कि कामसूत्र में लिखा हुआ है, इन्होंने मुरत काल में हर्षोन्मत्त होकर अपनी प्रियतमा मलयवती के कैंची मार दी थी जिसमें उमका देहावसान हो गया था । इन महाराज ने प्राकृत के प्रसार के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया था^१ जिसका उल्लेख श्री भोजदेव ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण में किया है :—

के नासन्ता दयराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।

काले श्रोसाहसांकस्य के न संस्कृतभाषिणः ॥

इस सतसई में स्थान-स्थान पर शालिवाहन महाराज की दानशीलता और वीरता की प्रशंसा की गई है । इसमें जात होता है कि इन गाथाओं का संकलन भी स्वयं शालिवाहन ने नहीं किया होगा । इनके आश्रित किसी दूसरे कवि ने इन गाथाओं का संकलन कर महाराज को अर्पित कर दिया होगा और यह सतसई शालिवाहन महाराज के ही नाम पर प्रचलित हो गई । माहित्य में प्रायः हाल के द्वारा श्रीपालित नामक कवि के मरधाण का वर्णन मिलता है । सम्भव है, इन्हीं श्रीपालित ने इस सप्तशती की रचना अथवा संकलन किया हो और यह भी सम्भव है कि कहीं-कहीं इसमें हाल की बनाई हुई गाथायें भी सन्निविष्ट की गई हों ।

संस्कृत-माहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार कीथ महोदय ने लिखा है कि इन गाथाओं में केवल ४३० गाथायें ऐसी हैं जो कि अब तक उपलब्ध होनेवाली समस्त प्रतियों में मिलती हैं । इसमें जात होता है कि इस पुस्तक में परिवर्तन तथा परिवर्धन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है । आज जिस रूप में यह पुस्तक उपलब्ध होती है वह रम का एक अखण्ड भण्डार है । इसमें स्वयं को ही नहीं प्राकृत भाषा को भी अमर बना दिया है । संस्कृत-माहित्य में कविगण इस सप्तशती की प्रशंसा करते नहीं थकते । आचार्य गोवर्धन ने अपनी आर्या सप्तशती की रचना करते हुए लिखा है कि “इस प्रकार की सरस वाणी प्राकृत भाषा में ही सम्भव है । किन्तु मैंने इसे संस्कृत में अवतरित किया है । यह मेरी चेष्टा ऐसी ही है जैसे मैंने यमुना की कलकल-वाहिनी धारा को आकाश में पहुंचा दिया हो ।” बाण ने इस रचना को अविनाशी और अग्राम्य कहा है तथा विशुद्ध जातिवाले रत्नों से भरे हुए कोष के समान माना है । इसी सप्तशती के आधार पर यह प्रायोवाद चन दिया कि प्राकृत भाषा में ही शृंगार-रसमयी रचना हो सकती है ।

वस्तुतः यह ग्रन्थ भारतीय काव्य-जगत् में अपना जोड़ नहीं रखता । संस्कृत काव्य शास्त्र के लक्षणों से यह सर्वथा परिपूर्ण है । व्यंजना का जैसा सुन्दर, सुमधुर

१. राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में लिखा है कि शालिवाहन का अन्तःपुर प्राकृत-भाषामय था।

समावेश हमें इस संग्रह में मिलता है वैसे कहीं अन्यत्र दुर्लभ है। रस की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा भरा-पूरा है। शृंगार रस प्रधान है और उसका अप्रतिद्वन्दी साम्राज्य प्रत्येक स्थान पर लक्षित होता है। यह ग्रन्थ ठीक रूप में वैदर्भी शैली में लिखा गया है। इसमें अलंकारों का स्थान-स्थान पर बड़ा ही सुन्दर और उचित प्रयोग किया गया है। व्यंग्य का तो ऐसा साम्राज्य है कि एक भी पद्य ऐसा नहीं है जिसमें व्यंग्यार्थ अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता हुआ न दिखलाई दे। इसके काव्य-शास्त्रीय उत्कर्ष का इसी से पता चल सकता है कि रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त इत्यादि महान् आचार्यों ने संस्कृत का महत्त्व स्थापित करने की चेष्टा करते हुए भी उदाहरणों के लिए इनके सामने अपने हाथ फेलाये हैं। व्यंग्यार्थ का प्रसिद्ध उदाहरण—“भ्रम धार्मिक विश्रब्धः.....” वाला पद्य इसी सप्तशती का है। यह बात पूर्ण बन के साथ कही जा सकती है कि मुक्तक काव्य का इस रूप में सबसे पहला यह ग्रन्थ सभी परवर्ती ग्रन्थों का आदर्श रहा है और इसमें कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं, जिनका अतिक्रमण न हो ही सका है और न हो ही सकता है।

लक्षणा-शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अपने वर्ण्य-विषय के विस्तार की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग का इसमें प्रतिनिधित्व किया गया है। एक ओर नागरिक जीवन का चित्रण है, दूसरी ओर देहाती निम्न वर्ग के व्यक्तियों का भी चित्रण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इसमें मानव जीवन का इतने निकट से अध्ययन किया गया है जैसा कि संस्कृत के दूसरे ग्रन्थों में कम सम्भव हो सका है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें मानव-जीवन की सीधी-साधी अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है। कहीं-कहीं बहुत ही उच्चकोटि की अलंकृत कविता विद्यमान है। किन्तु यह कविता भी ऐसे कवियों की लिखी हुई प्रतीत होती है जो जीवन को निकट से देखना चाहते थे। इसमें सम्य समाज का और साथ-ही-साथ गोप, गोपी, खेत की रखवाली करने वाली, चक्की पीसनेवाली, शिकारी, मजदूर इत्यादि सभी का वर्णन आता है। इसमें साधारण दृष्टिकोण आकर्षक और मनोरंजक है। साधारण प्रेम साधारण परिस्थितियों में दिखलाया गया है। यदि वर्षा दो प्रेमियों को एक स्थान पर छिपने के समय प्रेम रसास्वादन का अवसर देती है तो शीतकाल उसी प्रकार में मिलता है। कहीं कोई नायिका अपने अभिमार-स्थान शालिक्षेत्र के पक जाने पर अभिसार स्थान के व्याहत होने के कारण दुःखी हो रही है तथा उसे उमकी सखी दूसरे सन के खेत के तैयार हो जाने की बात कहकर समझाती है। कोई नायिका किस प्रकार आँखों में आँसू भरकर अपने प्रियतम को रोकने की चेष्टा करती है, जरा इसका भी एक चित्र देखिये :—

एको विकल्ह सारो न देइगन्तु अपाहिणबलन्तो ।

कि उण बाहा उलयं लोअण जअलं पिय अमाए ॥

(१-२५)

(यदि एक भी काला मृग यात्रा के समय दाहिनी ओर से बाई ओर को आ रहा हो तो यात्रा सम्भव नहीं होती। (क्योंकि कृष्ण-सार यात्रा के समय दाहिनी ओर से बाई ओर आ रहा हो तो यह अशक्य माना जाता है और यात्रा सम्पन्न नहीं होती।) फिर भना प्रियतमा के आंसुओं से भरे हुए दो नेत्ररूपी काले मृगों के सामने आ जाने पर तो कहना ही क्या ?) भावना की पराकाष्ठा वहां पर हो जाती है जहां पर प्रियतम के लौटने पर भी नायिका वस्त्राभरण इसलिए धारण नहीं करती क्योंकि अभी उसका पड़ोमी नहीं लौटा है और उसके शृंगार करने से उसकी पड़ोसिन को कष्ट होगा। किसी वैद्य जी से एक नायिका अनुरक्त है। अभिसार का समय आ गया है। नायिका के पति महोदय घर पर बैठे हैं। अब भला नायिका अपने प्रियतम वैद्यजी से मिलने किस प्रकार जा सकती है ? उसे चटपट एक उपाय सूझता है। वह बिच्छ के काट लेने का बहाना करती है। उसकी सखी उसका हाथ पकड़कर वैद्य जी के यहां ले जाने की बात कहती है और नायिका हाथ कंपाती हुई तथा रोती हुई उक्त वैद्यजी से मिलने चली जाती है। इसी प्रकार कहीं कोई नायिका गोदावरी तट पर पके हुए मधूक वृक्ष के नीचे मिलने का नायक को कुशलतापूर्वक संकेत देती है। दूसरे स्थान पर डाकुओं द्वारा घेरी हुई नायिका का वर्णन है। कहीं कोई दत्त-संकेता नायिका कुञ्ज में बैठी हुई जीर्ण पर्णों की आहट ले रही है। दूसरे स्थान पर सखी मान के कारण विमुख लौटे हुए नायक के कारण पश्चात्ताप करती हुई नायिका को उपालम्भ दे रही है। इस प्रकार इस पुस्तक में भारतीय प्रेम के सभी स्वरूप प्राप्त होते हैं। दृष्टि के मिलने से लेकर गृहस्थ और बच्चों के प्रेम तक का वर्णन किया गया है। इसमें शहरी जीवन की अपेक्षा देहाती जीवन का ही अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रकृति के आलम्बन और उदीपन रूप में नाना दृश्यों का इसमें वर्णन मिलता है। कुछ भागों पर धेर गाथा और धेरी गाथा का भी प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है, जिनमें बौद्ध संन्यासिनी प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन करती है। इस ग्रन्थ में नीति-सूक्तियों का भी अच्छा समावेश हुआ है तथा दूसरे वर्णन भी इसमें यथास्थान सन्निविष्ट हो गए हैं। कई गाथाओं में श्री शातवाहन महाराज की दानशीलता और वीरता का भी वर्णन किया गया है। वह वर्णन भी दूसरे प्रशस्ति-काव्यों के समान अधिक अतिरंजित नहीं है। कहीं-कहीं किसी दुर्गत कुटुम्बी की दशा का भी अच्छा वर्णन है। यद्यपि नख-शिख वर्णन का आग्रह तो नहीं दिखलाई देता तथापि अनेक अंगों का कवित्वमय वर्णन किया गया है। ऋतुओं का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है।

कवि गृहस्थ-जीवन के प्रेम को ही महत्त्व देता है और स्वकीया प्रेम को ही प्रेम का आदर्श समझता है। पत्नी के आदर्श की स्थापना करते हुए कवि कहता है—
“जो महिलायें घर के सुख-दुःख तथा कीर्ति और अकीर्ति को जानती हैं वे ही वास्तविक महिलाएं होती हैं। शेष महिलाएं मनुष्य के लिए साक्षात् जरा-रूपिणी

होती हैं। इन कुलवती महिलाओं का उपालम्भ हासपूर्वक ही होता है। ये आवश्यकता से अधिक आदर दिखाकर ही अपना क्रोध प्रकट करती हैं और इनके प्रणय-कलह की सीमा अश्रुकण ही होते हैं।” किन्तु समाज में सर्वत्र सुमहिलाएं ही तो नहीं होतीं। समाज का पूर्ण चित्रण करने के लिए कवि को रसाभास का भी काव्य में समावेश करना पड़ा है। देवर के प्रेम का वर्णन इसी रसाभास के अन्दर कहा जा सकता है। कहीं-कहीं पर इनका वर्णन औचित्य की मर्यादा का अतिक्रमण भी कर जाता है। कोई नायिका किसी मन्दिर में अपने प्रियतम से मिला करती थी और सहवास के अवसर पर और कुछ सुलभ न होने पर गणेशदेव की मूर्ति पीठ के नीचे लगा लिया करती थी। अब प्रियतम के वियोग हो जाने पर जब वह गणेशदेव का पूजन करने जाती है तभी वही मूर्ति उसके लिए उद्दीपन का कार्य करती है। इसी प्रकार पुष्पवती के पास लिटाने का भी वर्णन अनुचित है। छोटी बालिका को पैरो पर बिठाकर खिलाने में पुरुषायित की कल्पना भी अनुचित है। सम्भव है कवि का मन्तव्य भावज का देवर से मजाक करने का रहा हो और वह बालिका देवर की बहन हो। किन्तु ऐसे वर्णन संख्या में बहुत थोड़े हैं और इस काव्य के महत्त्व को कम नहीं कर सकते।

इस ग्रन्थ में कई एक पद्य देवताओं के प्रेम के विषय में भी हैं। कहीं-कहीं पार्वती और शंकर के प्रेम का वर्णन किया गया है। दो-एक पद्यों में राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का भी नाम आता है। लक्ष्मी-नारायण के प्रेम का चित्रण भी दो एक गाथाओं का विषय है। किन्तु ये वर्णन परिमाण में इतने न्यून हैं कि इन्हें हम इस काल की सामान्य प्रवृत्ति नहीं कह सकते। एक गाथा में विक्रमादित्य की दानशीलता का भी उल्लेख किया गया है तथा एक दूसरी गाथा में बुद्ध का भी नाम आया है—“पृथ्वी पर शुकों के मुखों के समान कान्तिवाले पलाश-कुसुम इस प्रकार पटे पड़े हैं मानों बुद्ध भगवान् के चरणों की वन्दना करने के लिए भिक्षुओं का समूह पृथ्वी पर पड़ा हो।” इस ग्रंथ में हमें उस समय के आचार-विचार, रहन-सहन, उत्सव, वस्त्र इत्यादि का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है तथा प्राकृतिक दृश्यों में मध्यदेश, विन्ध्याचल, नर्मदा, गोंदावरी इत्यादि का विशेष वर्णन किया गया है। परवर्ती मुक्तककारों के लिए यही सतसई आदर्श मिद्ध हुई और गोवर्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती तथा बिहारी की सतमई तो स्पष्ट रूप में इसी सतसई के आदर्श पर लिखी गईं।

(२) ऋतुसंहार नामक एक छोटा-सा काव्य महाकवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध है। नहीं कहा जा सकता कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है अथवा किसी दूसरे कवि ने अपने काव्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये इसको कालिदास के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। इसमें हमें कालिदास की कला के सच्चे दर्शन नहीं होते। यदि यह काव्य कालिदास का लिखा हुआ भी होगा तो यह सबसे पहले लिखा

गया होगा। इसमें उद्दीपन के रूप में विभिन्न ऋतुओं का चित्रण किया गया है। ऋतुओं का वर्णन ग्रीष्म काल से प्रारम्भ होता है। ऋतु-सौन्दर्य की उद्दीपकता दिखलाई गई है और साथ में कामिनियों का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है। इस काल के प्रकृति काव्यों में उसका अच्छा मान है।

(३) **अमरशतक**—आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने अमरशतक को मुक्तक काव्य का आदर्श माना है तथा लिखा है कि प्रबन्धों के समान मुक्तकों में भी कवियों का रसबन्धाभिव्यक्ति देखा जाता है जैसे अमरक के शृंगार रसनिष्पन्दी मुक्तक प्रबन्ध के समान महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध ही हैं। कहा भी जाता है कि “अमरक का एक-एक श्लोक सौ प्रबन्धों के समान महत्त्वपूर्ण है।” वस्तुतः यह रचना महत्त्व की दृष्टि से इस प्रादर की सर्वथा अधिकारिणी है। यदि गाथा सप्तशती को छोड़ दिया जावे अथवा दूसरे शब्दों में केवल संस्कृत मुक्तक काव्य पर ही विचार किया जावे तो अमरक शतक से बढ़कर दूसरी मुक्तक रचना संस्कृत साहित्य-जगत् में समुपलब्ध नहीं होती। यद्यपि इसमें गाथा सप्तशती के समान जीवन की अनेकरूपता दृष्टिगत नहीं होती, यद्यपि इसमें आलम्बन की बहुमुखी प्रवृत्ति तथा उद्दीपन की विविधता के दर्शन नहीं होते यद्यपि इसमें समाज का उतना स्पष्ट और विशद चित्रण नहीं और व्यञ्जना का उतना चमत्कार दृष्टिगत नहीं होता तथापि भावनाओं का जैसा घात-प्रतिघात और तीव्रता इस शतक में समुपलब्ध होती है, वह साहित्य-जगत् में सर्वथा अद्वितीय है, इसमें सदेह नहीं।

अमर या अमरक का व्यक्तित्व सर्वथा रहस्यमय है। कुछ लोगो का कहना है कि शंकराचार्य ने परकाय प्रवेश द्वारा काश्मीर के राजा के शरीर में प्रवेश किया था और उस राजा के रूप में कामशास्त्र का अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा की थी जिससे मण्डन मिश्र की पत्नी को कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया जा सके। उस राजा के अन्तःपुर में १०० पत्नियां थी। इसी आधार पर उन्होंने १०० पद्यों की रचना की थी। इसी आधार पर इनके पद्यों की शान्तरस-परक व्याख्या करने की भी चेष्टा की गई है। किन्तु न तो इस किंवदन्ती को विश्वसनीय ही कहा जा सकता है और न इसके मानने का कोई पुष्ट प्रमाण ही प्राप्त होता है। आनन्दवर्धन (७५०) ने भी इसका उल्लेख किया है और वामन (८००) ने भी इसके पद्यों को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है इनका समय आठवीं शताब्दी या उससे पहले ही होगा। कुछ लोग इन्हें कालिदास से भी पहले ले जाते हैं। किन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से ग्रंथ ७वीं शताब्दी के पहले का नहीं जान पड़ता। इस शतक की संख्या अनियत है। कीथ ने अपने इतिहास में लिखा है कि अमरक की ४ प्रतियां प्राप्त हुई हैं, जिनमें एकसी संख्या नहीं है। जो पद्य सभी में प्राप्त हो जाते हैं उनकी संख्या केवल ५१ है। कुछ लोगों ने इसके आधार पर नायिका-भेद का निरूपण करने की चेष्टा की तथा दूसरे लोगों ने इस ग्रंथ को

अलंकारों के उदाहरण के रूप में लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह ग्रंथ इन दोनों उद्देश्यों से लिखा गया नहीं जान पड़ता। इस ग्रंथ का एक मात्र मन्तव्य शृंगार रस के मुक्तकों की रचना करना ही था, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इस शतक में अधिकतर विप्रलम्भ शृंगार का ही चित्रण किया गया है और विप्रलम्भ में भी मान-विप्रलम्भ का। मान के अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं। मुग्धा का मान, मध्या का मान, प्रीड़ा का मान, नायिका को नायक द्वारा मनाने की चेष्टा, सखी द्वारा मनाने की चेष्टा, नायक का निराश होकर लौट जाना, नायिका का पश्चात्ताप, सखी का उपालम्भ इत्यादि अनेक मान-विषयक वर्णन किये गये हैं। कहीं नायिका दूती प्रेषण करती है, कहीं सखी नायिका को मान की विद्या सिखा रही है और नायिका उसको वैदग्ध्यपूर्ण उत्तर देती है। सखी नायिका को मान की विधि सिखाती है। वह कहती है—“अरी मुग्धे, क्या तूने अपने इस लड़कपन में ही सारा समय बिता देने की सोची है ?”

मान धारण करो, दृढ़ता धारण किये रहो और अपनी इस सिध्दाई का परित्याग कर दो (इसीसे जीवन का आनन्द प्राप्त होगा)। इसपर नायिका एकदम घबरा उठती है और वैदग्ध्य के साथ सखी से कहती है—“धीरे-धीरे कहो कहीं ऐमा न हो कि मेरे प्रियतम जो कि मेरे अन्तःकरण में ही विद्यमान हैं, कहीं तेरी इस बात को सुन लें।” जरा इस नायिका की परेशानी को देखिए—सखी ने मान-विधि सिखाई है और नायिका ने प्रयत्नपूर्वक मान की चेष्टायें धारण कर ली हैं—किन्तु उससे रहा नहीं जाता। उसने भ्रूभंग रचा है किन्तु चित्तवन में अधिक उत्कण्ठा दृष्टिगत हो रही है। चित्त को कठोर बना लिया है किन्तु शरीर फिर भी अत्यधिक रोमांचित हो रहा है। “मैंने अपनी वाणी रोक ली है किन्तु इस दग्ध मुख पर मुस्कराहट आ ही जाती है। जब प्रियतम के परोक्ष में ही स्थित होने पर मान की यह दशा हो रही है तब भला यदि प्रियतम सामने आ गया तब मान का निस्तार किस प्रकार हो सकेगा।” नायक और नायिका ने एक-दूसरे से मान किया है। दोनों एक ही शय्या पर एक-दूसरे की ओर मे करवट बदले हुए लेटे हैं। एक-दूसरे से बोलना-चालना बिल्कुल बन्द कर रखा है और रोप प्रदर्शन का अभिनय कर रहे हैं, यद्यपि एक-दूसरे के हृदय में अनुनय करने की उत्कण्ठा विद्यमान है, तथापि गौरव की रक्षा कर रहे हैं। इसी समय दोनों के अपांग घूमते हैं और उनके नेत्र मिल जाते हैं। इस प्रकार उनका मान-कलह भंग हो जाता है और दोनों हास, उत्तेजना और वेग के साथ एक-दूसरे के गले में चिपट जाते हैं। यह तो हुई प्रणय-मान की बात, अब जरा ईर्ष्या-मान के भी एक दो नूने देख लीजिये—नायिका प्रियतम के अपराधों से दुबली होती जा रही है, आसंका, भय और कोप से उसके शरीर में कम्पन उत्पन्न हो रहा है।

प्रियतम प्रेमपूर्वक पूछता है—“तुम्हारे शरीर में इतनी कृशता क्यों उत्पन्न हो गई है, यह कम्पन क्यों उत्पन्न हो रहा है और तुम्हारे मुख पर कपोलों की पाण्डुता क्यों बढ़ रही है ?” इस प्रकार प्रियतम के पूछने पर नायिका ने भोलेपन से उत्तर दे दिया कि यह स्वाभाविक ही है। यह कह मुंह धुमाकर अपने पलकों में लगे हुए अपने आंसुओं को एक गहरी सांस के साथ गिरा दिया। नायिका के मनाने के समय का यह उत्तर-प्रत्युत्तर भी कितना सुन्दर है। नायक—“बाले ?” नायिका—“नाथ” (प्रियतम नहीं) नायक—“हे मानिनि ! यह रोष छोड़ दो ।” नायिका—“रोष करके मैंने क्या कर लिया ?” नायक—“तुम ने रोष करके मेरे हृदय में खेद उत्पन्न कर दिया ।”

नायिका—“तुम्हारे हृदय में खेद क्यों उत्पन्न हुआ ? तुमने क्या अपराध किया है ?” नायक—“फिर तुम गद्गद स्वर में रो क्यों रही हो ?” नायिका—“मैं किसके सामने रो रही हूँ ?” नायक—“यह देखो, मेरे ही सामने रो रही हो ?” नायिका—“मैं तुम्हारे सामने क्यों रोऊंगी, मैं तुम्हारी कौन लगती हूँ ?” नायक—“तुम मेरी प्रियतमा हो ।” नायिका—“प्रियतमा ही तो नहीं हूँ इसीलिये तो रो रही हूँ ।” मान की पराकाष्ठा भी देखिये, नायिका ने मान किया है, सखी संभ्राते-संभ्राते थक गई है। वह अन्त में कहती है, “तुम्हारा प्राण-प्रियतम बाहर नीचे को सर किये हुए अपने नाखून से भूमि कुरेद रहा है। सखियों ने खाना-पीना छोड़ रखा है और निरन्तर रोते-रोते उनकी आँखें फूल गई हैं। पिंजड़े में बन्द शुकों ने सारा हंसना और पढ़ना छोड़ रखा है। तुम्हारी यह दशा है, अरे कठोर हृदयवाली, अब तो मान छोड़ दो ।” प्रवास के प्रसंग में ही नायिका की क्या दशा हो गई है, इसका भी एक चित्र देखिये। नायिका कह रही है—“प्रियतम के प्रस्थान का समाचार मिलते ही मेरे वलय निकलकर कलाइयों को छोड़ गये। मेरे प्यारे मित्र आंसू भी निरन्तर जा ही रहे हैं। धैर्य क्षण भर भी रकना नहीं चाहता, चित्त पहले ही जाने को तैयार बैठा है। प्रियतम ने जाने का निश्चय किया ही था कि यह सब साथ ही जाने को उद्यत हो गये। हे जीवन, जाना तुम्हे भी है ही फिर वलय, आंसू इत्यादि तुम्हारे जीवन के साथी हैं, इनका साथ क्यों छोड़ रहे हो ? तुम भी इन्हीं के साथ क्यों नहीं चले जाते ?” सयोग शृंगार के भी दो-एक उदाहरण अच्छे हैं किन्तु इनकी संख्या बहुत ही कम है। दो एक उदाहरण देखिये—“कमरा अकेला है (सखियाँ छोड़कर चली गई हैं)। नायक नींद का बहाना किये हुए लेटा हुआ है। नायिका वासगृह को शून्य और नायक को सोता हुआ देखती है। चुपके से उठती है और यह निश्चय करने के लिये कि क्या नायक वास्तव में सो रहा है बड़ी देर तक उसके मुख को देखती रहती है। जब विश्वास हो जाता है कि नायक वास्तव में सो रहा है तब स्वच्छन्दतापूर्वक उसका चुम्बन करती है और जब देखती है कि उसके चुम्बन करने से नायक का चेहरा प्रफुल्लित हो गया है

और कपोल रोमांचित हो गये हैं तब लज्जा से अपना सर झुका लेती है। प्रियतम उठता है और हंसते हुए उस बाला (नवोढा) का बहुत समय तक चुम्बन करता रहता है।" जरा नायिका की निपुणता भी देख लीजिये। "दम्पति रात-भर बातें करते रहे। वहीं पर घर के शुक भी टंगे हुए थे। शुकों ने उन सब बातों को सुना और याद कर लिया। प्रातःकाल नायक और नायिका तथा समस्त गुरुजन और परिवार के लोग उपस्थित हैं। तोता सबके सामने ही रात की बातों को दोहराना प्रारम्भ कर देता है। नायिका चतुरतापूर्वक अपने आभूषणों में से पञ्चराग का एक टुकड़ा लेकर तोते की चोंच में रख देती है। तोता उसे अनारदाना समझकर कतरने लगता है और इस प्रकार उसका मुख मुद्रण हो जाता है तथा नायिका की लज्जा रह जाती है।" कहीं-कहीं सीधे-सादे वर्णन भी प्राप्त होते हैं—कोई व्यक्ति किसी अभिसारिका से पूछ रहा है—“हे बाले, इस घने अन्धकार में तुम कहाँ जा रही हो?” अभिसारिका उत्तर देती है, “जहाँ मेरा प्राणाधिक प्रियतम निवास करता है मैं वहीं जा रही हूँ।” वह व्यक्ति पूछता है—“तुम अभी बाला ही हो फिर भी अकेले तुम्हें भय क्यों नहीं लगता?” इस पर अभिसारिका कहती है—“धनुष चढ़ाये हुए कामदेव हमारी सहायता के लिये उपस्थित हैं, फिर भला हमें भय किस बात का?” कहीं-कहीं पर कला का उत्कर्ष भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। मंगलाचरण में कवि ने लिखा है—“शंकरजी के बाण की अग्नि त्रिपुर युवतियों से जिसका व्यवहार अपराध में आर्द्र-कामुक के समान रहा तुम्हारे सब दुःख और दैन्य को काट डाले। जिस प्रकार अपराधी नायक नायिका को मनाने के लिये यदि उसका हाथ पकड़ता है तो नायिका भटककर उसे अलग कर देती है, उसी प्रकार जब शंकरजी के बाण की अग्नि त्रिपुर-युवतियों के हाथ में लगी तब उन युवतियों ने उसे भटककर अलग कर दिया। इसी प्रकार वस्त्र पकड़ने पर भटक दिया, बाल पकड़ने पर पृथक् कर दिया और चरणों में गिरने पर सम्भ्रम के कारण उसे देखा भी नहीं।” इस प्रकार यह रचना शृंगार रस की एक अद्वितीय रचना है। इसमें भावात्मकता और कलात्मकता दोनों का मनोहर सामंजस्य है। अलंकारों का बड़ा ही उचित और मधुर प्रयोग है। शैली सीधी-सादी और प्रसाद गुण पूर्ण है। भाषा शक्तिशालिनी है और दीर्घ तथा अस्वाभाविक समासों का सर्वथा अभाव है। सबसे बड़ी बात यह है कि सूक्तियों की दृष्टि से नहीं, इसके पद्य रस-निष्पत्ति की दृष्टि से लिखे गये हैं और पाठक के हृदय में अपना अभूतपूर्व सौन्दर्य का जादू प्रसारित करने में समर्थ हैं। वास्तव में सहृदय व्यक्तियों पर अमरक का एक बहुत बड़ा आभार है और हम अमरक की कृति प्राप्त कर धन्य हो गये हैं।

(४) चौर पंचाशिका—इस नाम की पुस्तक की दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। एक काश्मीर में और दूसरी दक्षिण भारत में। दोनों प्रतियों में केवल ३४ पद्य ऐसे

हैं जो समान रूप से मिलते हैं, शेष पद्य पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनों प्रतियों में इस के कर्ता का नाम विल्हण लिखा हुआ है। सम्भवतः ये विक्रमांकदेवचरित के रचयिता ही विल्हण हैं। दोनों ही पुस्तकों में लिखा है कि कवि का गुप्त प्रेम एक राजकुमारी से था। इस रहस्य के प्रकट हो जाने पर राजा ने कवि को मृत्यु-दण्ड का आदेश दिया। कवि ने अपने प्रेम की अतीत घटनाओं के संस्मरण में प्रस्तुत पुस्तक के ५० पद्यों की रचना की और मृत्यु-दण्ड प्राप्त होने के पूर्व वह पुस्तक राजा की सेवा में भेज दी। राजा पुस्तक की कोमल-कान्त पदावली; भावों की मनोहरता और कला की रमणीयता से मुग्ध हो गये तथा मृत्यु-दण्ड का आदेश वापस लेकर अपनी पुत्रा का विवाह कवि से करा दिया। पुस्तक देखने से भी इस कथा की सत्यता सिद्ध होती है। पुस्तक में पुराने संस्मरण ही हैं और पुस्तक से यह भी सिद्ध होता है कि इसकी नायिका राजकुमारी है। एक पद्य में मृत्यु काल का वर्णन भी किया गया है। उक्त दोनों प्रतियों में राजा तथा राजकुमारी का नाम भी दिया गया है किन्तु दोनों प्रतियाँ परस्पर मेल नहीं खाती। काश्मीर की प्रति में लिखा है कि महिलापत्तन के वीरसिंह की पुत्री चन्द्ररेखा के साथ कवि का प्रेम था और उसी के प्रेम के स्मरण के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। दक्षिण की पुस्तक में लिखा है कि पांचालेश्वर मदनभिराम की पुत्री यामिनी पूर्णतिलका से कवि का प्रेम था। टीकाकार राम तर्कवागीश के अनुसार इस पुस्तक में चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर के द्वारा कालिका की प्रार्थना कराई गई है जबकि वीरसिंह ने विद्या के साथ गुप्त प्रेम करने के अपराध में उन्हें मृत्यु-दण्ड दे दिया था। यह भी कहा गया है कि इस पुस्तक का कवि चौर था। विल्हण की दूसरी रचना से उनका किसी राजकुमारी के साथ प्रेम करना सिद्ध नहीं होता। सम्भव है विल्हण के चौरमय प्रेम की काल्पनिक कथा लेकर इस काव्य की रचना की गई हो। विल्हण काश्मीरी थे और दक्षिण के दरबार में रहे थे, सम्भव है कि यह विल्हण की ही कृति हो। इसकी रचना-शैली प्रौढ़ है जो कि विक्रमांकदेवचरित्र में उपलब्ध नहीं होती। इन दोनों काव्यों की शैलियों में इतना अंतर है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचना हैं इस पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। किन्तु दोनों काव्यों में प्रसाद गुण पूर्ण शैली अपनाई गई है। यद्यपि ग्रन्थ में केवल चोरी प्रेम के स्मरण संचारी का ही प्रधान तथा काव्य के विषय के रूप में उपादान किया गया है तथापि काव्य में एकलरता नहीं आती और प्रेम के अनेक रूपों के इसमें दर्शन हो जाते हैं। कवि अनेक आनन्द-क्रीडाओं का स्मरण कर खेद का अनुभव करता है। “आज भी मुझे उम समय का स्मरण आ रहा है जबकि वह (राजकुमारी) दर्पण देख रही थी। सहसा मैं पीछे से आ गया। जैसे ही मेरी प्रतिमा दर्पण में सकांत हुई कि उस के अन्दर सहसा कम्पा उत्पन्न हो गया, एक दम हड़बड़ा गई, लज्जाकुल हो गई और उसमें विनास का आतिर्भाव हो गया।” कितना सुन्दर भाव-शबलता का चित्रण।

है। राजकुमारी में कितनी उत्कण्ठा है जरा इसके भी दर्शन कर लीजिये—“मैं एक बार किवाड़ की आड़ में छिपा खड़ा था। (किन्तु उसे मेरी उपस्थिति का पता नहीं था) वह अपने मुख को अपने हाथ पर रखे हुए मेरे ही मार्ग की ओर अपनी दृष्टि लगाये बैठी थी और कोमल काकली स्वरों में ऐसे गानों को गुनगुनाती हुई गाने की इच्छा कर रही थी जिसमें मेरे नाम के वर्ण आ जाते थे। मैं अपने अन्तःकरण से उसकी दशा का स्मरण कर रहा हूँ।”

इसके बाद सम्भोग का चित्र देखिये। “उसने अपनी भुजलताओं का कण्ठपाश मेरे कंठ में डाल दिया था और अपने दोनों स्तनों से मेरे वक्षःस्थल को परिपूर्ण रूप से वेष्टित कर कुछ थोड़ा अपने नेत्र प्रान्तों को सिकोड़ती हुई लीला और विलासों में कटाक्ष करती हुई मेरी ओर देखती जाती थी और मुख का पान कर रही थी। आज भी मुझे उस भोले-भाले मुख वाली राजकुमारी की उस दशा का स्मरण हो रहा है।” सम्भोग के उपरान्त सोने के अवसर पर उसके शब्द भी कितने मधुर हैं—“एक बार वह (सहवास के उपरान्त) कुछ निद्रित हो गई थी। निद्रा से उसके नेत्र मिच गये थे। एक तो वह वैसे ही मदमस्त थी। उस समय निद्रावस्था में ही बड़बड़ाते हुए उसने कुछ शब्दों का उच्चारण किया जो कि बड़े ही मधुर थे और जो न तो निरर्थक ही थे और न सार्थक ही। आज भी जब मुझे उन शब्दों का स्मरण हो आता है तब मेरे हृदय में उन शब्दों की एक विचित्र प्रकार की प्रतिध्वनि उत्पन्न हो जाती है।” केवल सम्भोग श्रृंगार ही नहीं वियोग श्रृंगार की उत्कंठा भी दर्शनीय है। प्रणय-मान और ईर्ष्या-मान दोनों का सुन्दर और सजीव वर्णन हुआ है। प्रणय-मान का चित्र देखिये—“रात में हम दोनों लेटे हुए थे। वह कोप में भरी हुई थी तथा मुझ से बोलती नहीं थी। इसी समय मुझे छीक आ गई। (छींक आने पर मंगल कामना से कोई व्यक्ति या तो ‘जीवेम शरदः शतम्’ कहे या कान में स्वर्ण लगा दे—यह एक सामान्य परिपाटी है।) वह उस समय बोल नहीं सकती थी। अतएव उसने ‘जीवेम शरदः शतम्’ तो नहीं कहा परन्तु कान में कनक पत्र लगा दिया। आज भी वह बात याद कर मेरे हृदय में उसका चित्र घूम सा जाता है।” अब एक चित्र ईर्ष्या-मान का भी देखिये—“मुझ से अपराध हो गया था। मैं उसको मनाने के लिये उसके चरणों पर पड़ा हुआ था किन्तु उसने मेरी परवाह भी नहीं की और सहसा मुझे छोड़कर जाने लगी। मैंने उसके वस्त्र का छोर पकड़ा तो मेरे हाथ से भटक कर छुटा लिया और क्रोध में भरकर कठोरता के साथ ‘मुझ से मत बोलो’, ‘मुझ से मत बोलो’ कहती हुई चली गई। आज भी मुझे उसके उस स्वरूप का ध्यान आ रहा है।” ये पद्य बड़े ही सरस और उच्चकोटि की भावनाओं से भरे हुए हैं इसमें सन्देह नहीं।

(५) मयूरारुण—बाण के श्वशुर मयूर का लिखा हुआ एक छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें श्रृंगार रस के पद्य लिखे गये हैं। मयूर हर्ष के दरबारी कवि थे।

कहा जाता है कि एक बार बाण से उनकी पत्नी ने मान किया । बाण उसको रात्र भर मनाते रहे किन्तु वह मानने को उद्यत नहीं हुई । बाण ने उसको मनाते हुए एक पद्य बनाया :—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुः शशी शीर्यतइ व ।

प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव ॥

प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो ।

(हे प्रियतमे ! रात्रि प्रायः व्यतीत हो चुकी है । चन्द्रदेव भी अपना सौन्दर्य खो चुके हैं । दीपक मानो निद्रावश भूम रहा है । मान की अवधि प्रणाम ही होनी चाहिये, फिर भी तुम क्रोध को नहीं छोड़ रही हो ।) बाण यही तीन पाद बना पाये थे कि सहसा मयूर आ गये और उन्होंने चौथे पाद की पूर्ति कर दी :—

स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपिते क्षण्डि कठिनम् ।

(कठोर स्तनों के पास रहते-रहते हे कोपने ! तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया है ।)

यह सुनकर मयूर-पुत्री (बाण की पत्नी) ने अकाल में ही रस भंग से दुःखित होकर शाप दे दिया और मयूर कुण्ठी हो गये । इस कुण्ठ को दूर करने के लिये उन्होंने सूर्य-शतक की रचना की । तब कहीं कुण्ठ से इनका छुटकारा हुआ । इनका मयूराष्टक काव्य कला की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता । शैली क्लिष्ट और दुरूह है, जिससे ये उच्चकोटि के कवि ज्ञात नहीं होते । इनकी शैली बाण से बहुत अधिक मिलती है, इसमें इनका बाण का समसामयिक होना मिद्ध होता है । एक नायिका का चित्र देखिये, जो कि प्रियतम से सम्भोग कराकर लौटी है :—

एषा का स्तनपीनभारनमिता मध्ये वरिद्रावति ।

विभ्रान्ता हरिणीव लोलनयना संव्रस्तयूथोद्गता ॥

अन्तःस्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संलीलया गच्छति ।

दृष्ट्वा रूपमिदं प्रियांगगहनं वृद्धोपि कामायते ॥

(यह कौन स्थूल स्तनों के भार से मध्य में झुकी हुई तेजी से बढ़ती चली जा रही है । इसके नेत्र चंचल हो रहे हैं मानो विभ्रम में पड़ी हुई हरिणी डरे हुए मृगों के झुण्ड से भागकर आई है । इसके शरीर पर पसीने की बूँदें आ गई हैं और कभी-कभी यह विलासपूर्वक चलने लगती है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो मद गलित कपोलों वाली कोई हथिनी हो । इसके इस मधुर प्रिय अंगों से गहन रूप को देखकर वृद्ध के हृदय में भी कामना उत्पन्न हो जाती है ।)

आर्यासप्तशती—बारहवीं शताब्दी के आस-पास लिखी हुई एक ७६० आर्याछन्दों की पुस्तक है । दूसरी रचना बंगाल के लक्ष्मणसेन के पंच रत्नों में

अन्यतम गोवर्धन की लिखी हुई है और इसकी रचना का आदर्श हाल की गाथा सप्तशती रही है। कवि ने स्वयं कहा है कि शृंगार रस की जो धारा प्राकृत में प्रवाहित हो रही थी उसको मैंने संस्कृत में अवतीर्ण किया है। यह मेरा प्रयास ऐसा ही है जैसे भूमि पर प्रवाहित होनेवाली कालिन्दी को मैंने आकाश में पंहुचा दिया हो। इससे सिद्ध होता है कि गाथा सप्तशती के ढंग की एक पुस्तक संस्कृत में भी प्रस्तुत करने का कवि का विचार था। इसीलिये कवि ने आर्याछन्द चुना जो कि गाथा के विलकुल अनुकूल पड़ता था। इस पुस्तक में ७०० आर्याछन्द हैं जिनको वर्णानुक्रम से क्रमबद्ध किया गया है। इसमें प्राकृत गाथाओं का अवाञ्छनीय अनुकरण है तथा ७०० की संख्या पूरी करने के लिये अनेक बार एक ही भाव आया है। रचना भी शिथिल है। यदि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप ले लिखा गया होता, प्राकृत गाथाओं के अनुकरण की प्रवृत्ति न रही होती तो सम्भवतः कवि को अधिक सफलता प्राप्त होती। कवि की प्रतिभा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि स्वयं जयदेव ने इनकी प्रशंसा में कहा है—“शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य—गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।” आचार्य गोवर्धन ने अपनी सफलता की दर्पोक्तियां भी सरल भाषा में की हैं। अपनी आर्याओं के विषय में उन्होंने लिखा है—“गोवर्धन की आर्याओं के पद रीति और गीत सभी कुछ कोमल हैं। ये रसपूर्ण आर्या सज्जनों के हृदयों का निरन्तर अभिसार करने वाली हैं, मदन के अद्वैत की उपनिषद् हैं और सर्वथा निर्मल हैं।” इसी प्रकार आर्याओं की ध्वनि, उक्ति इत्यादि की भी प्रशंसा की है तथा अपने सन्दर्भ को कवियों के समर में सिंहनाद करने वाला कहा है और अमृत से तुलना प्राप्त करने वाला तथा विश्व के आनन्द का मूल बतलाया है। यह दर्पोक्तियों की परम्परा इतनी अधिक बढ़ी कि परवर्ती कवि अपने को सर्वोत्तम धन्य घोषित करने लगे।

आचार्य गोवर्धन ने अधिकतर विषय हाल से ही लिये हैं तथापि उनमें सर्वत्र चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की है। यदि हाल का महत्त्व ध्वनि की दृष्टि से है तो गोवर्धन ने उसे अलंकृत करने की चेष्टा की है। यदि गाथा सप्तशती में विष्णु की कौस्तुभ मणि को भगवती लक्ष्मीदेवी का दर्पण कहा गया है तो गोवर्धन ने उसमें पुरुषायित काल में मुख देखने की कल्पना कर ली है। गाथा में “हे सुभग सहस्रों महिलाओं से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न समाती हुई वह नायिका प्रतिदिन दूसरा काम न करते हुए अपने कृश शरीर को और भी कृश बनाती जा रही है।” इस प्रकार नायिका की प्रेम दशा व्यक्त की गई है। आर्याकार ने इसमें बण्टकील की कल्पना बड़ी सुन्दर की है। “स्थूल और विशाल जंघा तथा ऊरुओं वाली वह नायिका यद्यपि बाहर दृष्टिगत नहीं होती तथापि नायक के हृदय में ऐसी समा गई है जैसे मानो पूरी तौर से कील गाड़ दी गई हो और वह दिखाई न

पड़ रही हो। इससे दूसरी नायिकाओं को हृदय में आने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता।” “नायिका दिन में विनय से नम्र रहनी है और रात्रि में काम कला विलास से उसका शरीर शोभित रहता है। जिस प्रकार प्रज्वलित और घान्त औषध का प्रत्यभिज्ञान कठिनाई से हो सकता है उसी प्रकार रात और दिन में वह एक ही है इस बात का ज्ञान भी कठिनाई से हो सकता है।” यही बात गाथा में साधारण ढंग में कह दी गई है। “रति काल में सैकड़ों आदेश देती है और उसके कपोल निरन्तर हर्ष से विकसित रहते हैं किन्तु प्रातःकाल उसका मुख लज्जा से भुक्त जाता है। तब यही पता नहीं चलता कि यह वहाँ रातवाली ही नायिका है।” इस नायक की ओर भी देखिये जो ऐसी नायिका से तो प्रेम करता है जो उससे प्रेम नहीं करती और जो उससे प्रेम करती है उसकी ओर वह ध्यान भी नहीं देता। उसकी ऐसी ही दशा है जैसे समुद्र दोनों कूलों के बीच में रहता है। समुद्र तो कूलों का स्पर्श किये रहता है किन्तु इस अभागे नायक को इनमें किसी का सम्पर्क प्राप्त ही नहीं होता। गाथा मन्तव्य में इन शब्दों में उपालम्भ दिया गया है। “हे सुन्दर यद्यपि तुम धवल हो फिर भी तुमने हमारे हृदय को श्वेत नहीं किया। मैंने तुम्हें अपने अनुराग भरे हृदय में बसा लिया है किन्तु फिर भी तुम रक्त नहीं हो सके।” इसी आशय को लेकर आर्याकार ने लिखा है। “हे मखी ! तुम महान् रसमय सुन्दर आशय वाले उसके हृदय में निरन्तर निवास करती रहती हो फिर भी कुछ भी आर्द्रता तुम में नहीं आती जिस प्रकार वडवाग्नि निरन्तर समुद्र में रहती है फिर भी उसमें आर्द्रता नहीं आती।” किसी नायिका की कामना कितनी सुन्दर है— “यदि प्रियतम के वियोग में मेरा हृदय फट भी जावे तो भी मुझे उसी प्रकार आनन्द का अनुभव होगा जिस प्रकार प्रियतम की सुरत-क्रीडा में जोश के कारण शय्या के वस्त्र फट जाने में आनन्द का ही अनुभव होता है।”

गाथा के समान आर्या में भी स्थान-स्थान पर सदाचार की मर्यादा का उल्लंघन पाया जाता है। कहीं पुष्पवती के सहवास का वर्णन किया गया है, कहीं पुष्पार पर देवर-भावज की सुरत-क्रीडा की व्यंजना की गई है। कहीं पर-पुरुष-समागम के अवसर पर गृह-पति के आ जाने से उसे अपने नैहर का बताकर छुपाने की बात है और कहीं अन्धकार में प्रियतम की भुजाओं पर मस्तक रखे हुए पर-पुरुष से सहवास की प्रशंसा की गई है। कहीं-कहीं नग्न नायिका का पर्याप्त रूप में वर्णन किया गया है। प्रियतम के चरण प्रहार की बात तो एक साधारण सी बात है। “नायक चरणप्रहार के भय से कुपित नायिका को बिल्कुल छोड़ना नहीं चाहता क्या वायु से संचालित पर्याप्तों से ताड़ित होकर भ्रमर लता का परित्याग कर देता है।” नायक को इस प्रकार की मार में भी आनन्द ही आता है। “क्रोध से चञ्चल नेत्र वाली होकर नायिका जैसे-जैसे अपने हाथों और पैरों से उस पर प्रहार करती जाती है नायक जैसे ही जैसे उसको और अधिक छूटा जाता है।” यद्यपि परकीया नायिका का भी

वर्णन शास्त्रसम्मत है, तथापि वर्णन ऐसा होना चाहिये जिससे रस में व्यावाज उपस्थित न हो, आदर्श नीचे न गिर जावे और अश्रव्यता स्फुरित न होने लगे। साहित्यमर्मज्ञों का सिद्धान्त है कि औचित्य का उपनिबन्धन भी रस का सबसे बड़ा सहायक है। किन्तु असती, कुलजा प्रतिवेशिनी की आसक्ति का मर्यादा के उल्लंघन के साथ वर्णन करना कभी समीचीन नहीं कहा जा सकता, जिसके आनन्द के सामने आचार्य गोवर्धन ब्रह्मानन्द को भी तृण मानते हैं वह आनन्द रसज्ञों का आनन्द कभी नहीं हो सकता। आचार्य गोवर्धन मर्यादा का इतना अधिक उल्लंघन कर गये हैं कि शव के चुम्बन का भी वर्णन निसंकोच रूप में किया है। यद्यपि चमत्कार की दृष्टि से आर्या अच्छी बन पड़ी है और कहीं-कहीं अप्रस्तुत योजना भी सुन्दर है तथापि गाथा के आदर्श पर आर्याओं के लिखने का आचार्य गोवर्धन का दावा सत्य सिद्ध नहीं हो सका, इस में संदेह नहीं।

संग्रह ग्रन्थों में उल्लिखित कवि^१

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है अनेक कवियों की कृतियों का परिचय हमें केवल संग्रह ग्रन्थों और लक्षण ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है, अन्यथा उनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। ऐसे कवियों में पाणिनि नामक एक कवि का उल्लेख किया गया है। अभी तक तो यह समझा जाता था कि ये व्याकरणकर्ता ही पाणिनि हैं। किन्तु अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि ये दूसरे ही पाणिनि थे। इनके नाम पर उद्धृत पद्य बड़े ही सरल और मनोहर हैं। “तन्वंगी के स्तनों को देखकर युवक आनन्द विभोर होकर प्रशंसा में अपना सर हिलाने लगता है, मानो स्तनों के बीच में गड़ी हुई अपनी दृष्टि को खींच-खींच कर निकालना चाहता है।” कोई स्त्री अपने प्रियतम के अपराध को सुनकर दुःखित हो रही है और उसको समझाते हुए एक सखी कह रही है—“हे कृशोदरी ! तुम्हारे हाथों के तलभाग बड़े ही लाल वर्ण के है, इन पर तुम ने अपना क्षीण कपोल रख लिया है, उन कपोलों पर आँखों के अञ्जन से मिले हुए आंसू बहकर आ रहे हैं जिससे तुम्हारे लाल हाथ काले हुए जा रहे हैं। हम व्यर्थ ही ऐसा क्यों कर रही हो ? हे मुग्धे चञ्चलता के कारण भ्रमर कहीं जाकर किसी कन्दली का चुम्बन कर ले किन्तु क्या वह खिली हुई मालती के परिमल को भुला सकता है ?” कहीं-कहीं पर इनका प्रकृति वर्णन बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। “पूर्व दिशा ने देखा कि पश्चिम दिशा का सूर्य के साथ समागम हो रहा है और उससे उसका राग बढ़ रहा है तब पूर्व दिशा ने अपना मुख काला कर लिया। सच ही है स्त्रियाँ ईर्ष्या रहित हो ही नहीं सकतीं।” इसी प्रकार मेघ वर्णन में “रात्रियों को क्षीण करके, बलात् नदियों के जल का अपहरण करके, समस्त पृथ्वी को तपाकर और समस्त वृक्षों के समूह को सुखा कर सूर्य

१. संग्रह ग्रन्थों में सुभाषितरत्न भाण्डागार विशेष प्रसिद्ध है।

न जाने कहाँ चला गया, इसी बात को देखने के लिये बिजली रूपी दीपक लिये हुए मेघ चारों ओर घूम रहे हैं।” इसी प्रकार बादलों की गरजना को चन्द्रबिम्ब रूपी बछड़े को न देखने के कारण रात रूपी गाय की हुकार बतलाया गया है। निस्सन्देह ये एक उच्चकोटि के कवि सिद्ध होते हैं और हम इनकी मनोहर कृतियों से वंचित रह गये हैं। कहीं-कहीं इन्होंने असाधु शब्दों का प्रयोग किया है जिससे भी यही ज्ञात होता है कि ये बँधाकरण परिणि से भिन्न कोई दूसरे ही पाणिनि थे।

संग्रह ग्रंथों में ऐसी भी कवियों का उल्लेख मिलता है जिन की कविता विद्यमान नहीं है किन्तु काव्य की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व है। बहुत से पद्य ऐसे ही कवियों के नाम पर दिये गये हैं जिनके वे पद्य हो ही नहीं सकते। एक सखी नायक को नायिका की दशा कितनी सुन्दर व्यंजना वृत्ति में बतला रही है—“अब तुम विश्वस्त रहो और संतोष करो नायिका ने अपना सारा वि योग-जनित दुःख दूसरों को बाँट दिया है। निरन्तर निकलनेवाला नेत्र जल तो उसने अपने बान्धवों को प्रदान कर दिया, चिन्ता गुरुओं को समर्पित कर दी, दैन्य परिपूर्णरूप से परिजनों को प्रदत्त कर दिया तथा सन्ताप सखियों को दे दिया। अब केवल श्वासों का ही संताप उसे रह गया है। वह भी आज ही कल में छोड़नेवाली है।” सखियां तालवृन्त से नायिका के संताप को शांत करने की चेष्टा कर रही हैं तब नायिका कहती है—“हे सखी रुको नलिनीदल ताल वृन्त से तुम मेरे ऊपर वायु क्यों कर रही हो ? मेरे हृदय में जो मदनाग्नि विद्यमान है वह कहीं प्रज्वलित न हो उठे।” वाक्कूट की नायिका के संताप की भी पराकाष्ठा है। देखो वह अपने प्रियतम को संदेश देती हुई क्या कह रही है—“हे पथिक यदि तुम्हें वहाँ जाना पड़े जहाँ मेरा प्रियतम रहता है तो तुम कह देना कि संसार के लिये असह्य शीष्म का संताप नवीन जल-पतन की सम्भावना से भयभीत होकर पुंजीभूत होकर विरहिणी के हृदय में प्रविष्ट हो गया।” वाक्कूट को किसी ओर देखने का अवकाश ही नहीं—“एक ओर आम के वृक्षों पर धुएँ के समान भीरे निरन्तर मँडरा रहे हैं। फूटनेवाली कलियों के उद्भेद से दूसरी ओर अशोक के वृक्ष प्रज्वलित हो रहे हैं। तीसरी ओर किशुक की कलियां अंगारों के समान दिखलाई पड़ रही है। कण्ट की बात है हम अपने नेत्रों को कहां विश्राम दें चारों ओर विधाता वाम ही प्रतीत हो रहा है।” प्रसिद्ध बौद्ध धर्मकीर्ति को इसी बात का दुःख है कि लोग बड़े-बड़े कवियों की बड़ी से बड़ी अत्युक्ति को सहन कर लेते हैं पर छोटे कवियों की अत्युक्ति को दोष बतलाया जाता है—“वानरों से लाये हुए शैलों से वाल्मीकि ने समुद्र ही बंधवा दिया। वेदव्यास ने समुद्र का बन्धन अर्जुन के बाणों से ही करा दिया। फिर भी कोई भी उनकी अत्युक्ति की बात नहीं कहता। किन्तु हम सरीखों के प्रबन्धों में लोग वाणी और अर्थ को तराजू के समान तोलते हैं और ज़रा भी कमी आई कि निन्दा के लिये मुंह फैला दिया। हे प्रतिष्ठे ! मैं तुम्हें नमस्कार करता

हूँ।” धर्मकीर्ति के शृंगार-रस सम्बन्धी पद्य बड़े अच्छे बन पड़े हैं और लक्षण ग्रंथों में प्रायः आचार्य उनके उदाहरण देते हैं।

भारतीय साहित्य में हास्य रस की सर्वत्र कमी रही है।^१ किन्तु कहीं-कहीं अच्छी उक्तियाँ पाई जाती हैं। हास्यरस का आलम्बन वैद्य और ज्योतिषी ही प्रधान रूप से रहे हैं। एक कवि वैद्य को प्रणाम कर रहा है—“हे वैद्यराज मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम अनेक मानवों को नष्ट करने में बड़े ही निपुण हो। तुम्हारे ऊपर भार रखकर यमराज सुखपूर्वक विश्राम करते हैं।” एक वैद्य का उत्तर कितना सुन्दर है। “हे वैद्य मुझे दाह का बहुत बड़ा ज्वर सतप्त कर रहा है। कोई औषधि बतलाओ।” वैद्य उत्तर देता है—“एक शकोरा शराब पी लो और खपरे में मेरे लिये भी लेते आओ।” वैद्यों और ज्योतिषियों के अशुद्ध शब्दों पर किसी ने अच्छा कटाक्ष किया है—“व्याकरण रूपी सिंह से डरे हुए अपशब्द रूपी मृग बेचारे कहाँ जावें यदि गुरुजन, ज्योतिषी, वैद्य और पंडितों के मुख रूपी गह्वर उन्हें न मिल जावें।” कहीं-कहीं समस्या पूर्तियाँ भी देखी जाती हैं। कालिदास अथवा किसी दूसरे कवि के किसी चरण को लेकर पद्य को पूर्ण करने की परम्परा रही है। क्षेमेन्द्र ने एक पद्य या एक पाद को लेकर पद्य को पूर्ण करना कवित्व के अभ्यास का एक साधन माना है और प्रायः इस प्रकार की रचनायें प्राप्त हो जाती हैं। कालिदास से मेघदूत का अनुकरण अनेक कवियों द्वारा किया गया है। सबसे पहले घटकर्पर सामने आया। कहा जाता है कि यह कालिदास का बनाया हुआ है। किन्तु न तो इसकी सत्यता में कोई प्रमाण ही है और न यह सम्भव ही प्रतीत होता है। इसमें एक विरहिणी नायिका ने वर्षा-काल के प्रारम्भ में नायक के पास २१ पद्यों में संदेश भिजवाया है। यह परिस्थिति मेघदूत के सर्वथा विपरीत पड़ती है। काव्य के अन्त में लेखक ने कहा है कि यदि अनुप्रास तथा यमकों में मेरा कोई भी अतिक्रमण करेगा तो मैं फूटे घड़े में उसका पानी भरूँगा। इसी दावे के आधार पर पुस्तक का नाम घटकर्पर रखा गया है। प्रो० जैकोबी ने कल्पना की है कि यह पुस्तक मेघदूत से पहले लिखी गई होगी। क्योंकि यदि यह बाद में लिखी गई होती तो लेखक को इस प्रकार के दावा करने का साहस ही नहीं होता। किन्तु शैली इत्यादि से इस प्रकार की कल्पना का समर्थन नहीं होता। दूसरी बात यह है कि इसमें अनुप्रास तथा यमक के क्षेत्र में सबका अतिक्रमण करने का दावा किया गया है जो कि किसी काव्य के मुख्यत्व का द्योतक नहीं है और न कालिदास के मेघदूत से इस दावे में कोई विरोध ही आता है। इसमें कहीं-कहीं भावनार्यों कोमल तथा मनोरम हैं किन्तु सब बातों को देखने से यह रचना आधुनिक मनोवृत्ति का

१. हास्य रस के क्षेत्र में श्री नीलकण्ठ दीक्षित लिखित कलि-विटम्बन अच्छा काव्य है, परन्तु भारतीय साहित्य रिक्त को ही उत्तम हास्य मानता है। लोट-पोट हो जाने वाली हंसी अथवा की मानी जाना है। देखिए साहित्य दर्पण परि० ३।

अनुवर्तन करती हुई नहीं जान पड़ती। फिर भी रचनाकाल में इसको अधिक महत्व प्राप्त हुआ था जैसाकि इनको विक्रम के नवरत्नों में स्थान दिये जाने से प्रमाणित होता है।

कुछ कवियों ने मेघदूत की पंक्तियों को समस्या के रूप में मानकर रचना की है^१ जिनमें चरित्रसुन्दर का लिखा हुआ शीलदूत अधिक प्रसिद्ध है। यह जैन कवि थे। इसने मेघदूत की प्रत्येक पंक्ति को समस्या के रूप में स्वीकार कर उसकी पूर्ति करने की चेष्टा की है। इसकी रचना प्रौढ़ है। अन्तिम पद्य में कवि ने स्वयं रचना काल दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना १४२० में हुई थी।

मेघदूत की पंक्तियों को लेकर समस्या पूर्ति के रूप में लिखा हुआ दूसरा ग्रन्थ “नेमिदूतम्” है। यह नेमि आचार्य जैनियों के तीर्थंकर हैं। जैन धर्म-प्रचारकों ने सर्व साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये नेमि आचार्य का भगवान् कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित किया था। नेमि आचार्य भगवान् कृष्ण के बड़े भाई थे। वराग्यवश ये चित्रकूट चले गये थे और वहां तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया था। विरह व्यथित होकर इनकी पत्नी राजीमती भी वहीं जाती है और अपनी विरह वेदना निवेदित कर अपने घर लौटा लाने की चेष्टा करती है। मेघदूत के समान ही वह पहले अपने प्रियतम को घर का मार्ग निर्दिष्ट करती है और बाद में अपनी विरह-वेदना निवेदित करती है। कवि ने कालिदास की कला में अपनी कला ऐसी मिला दी है कि सहसा भेद लक्षित करना असम्भव हो जाता है। वही वैदर्भी शैली, वही प्रसाद-गुणपूर्णता और वही माधुर्य इन गीतिकाओं में भी समुपलब्ध होता है, जिनके दर्शन हमें मेघदूत में हुए थे। ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता है कि कवि प्रतिभाशाली है और रचना-कौशल भी उसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। मेघदूत की अन्तिम पवित्र प्रत्येक पद्य के अन्त में आती है।

इस परम्परा में पादार्वाभ्युदय भी अधिक प्रसिद्ध है। इसमें मेघदूत की प्रत्येक पवित्र को लेकर समस्या पूर्ति के रूप में रचना की गई है और इस प्रकार समस्त मेघदूत को भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में वेष्टित कर लिया गया है।

मेघदूत की परम्परा में संनेह रासय (संदेश रासक) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ की रचना मुलतान निवासी अब्दुल रहमान ने ११ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में की थी। इस ग्रन्थ में विजयनगर की प्रोषितपतिका स्तम्भ स्तम्भतीर्थ को जानेवाले सामोह के एक पथिक के द्वारा धन प्राप्त करने की इच्छा से स्तम्भतीर्थ में रहने वाले अपने प्रियतम के पास संदेश भिजवाती है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभाजित किया गया है। पहले भाग में कवि-परिचय तथा कवि का

१. मेघदूत-खण्ड काव्य तथा मुक्तक काव्य दोनों रूपों का माना जाता है, परन्तु मेघदूत के आधार पर लिखे हुए काव्य मुक्तक ही हैं।

आत्म निवेदन है। संदेश का वास्तविक विषय दूसरे भाग से प्रारम्भ होता है। विजयनगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रियतम की वियोग दशा से पीड़ित है। इसी समय वह एक पथिक को जाते हुए देखकर शीघ्रतापूर्वक उसकी ओर बढ़ती है। उस नायिका के वस्त्रों तथा अंगों की अस्तव्यस्तता का वर्णन बड़ी ही कवित्वपूर्ण शैली में किया गया है और हमें रघुवंश तथा कुमारसम्भव की अज तथा शंकर को देखने के लिये उत्कण्ठित रमणियों की स्मृति दिलाता है। वह विरहिणी उस पथिक के परिचय तथा गन्तव्य स्थान के विषय में पूछती है और पथिक सामोह का कुछ विस्तृत वर्णन कर अपने गन्तव्य स्तम्भतीर्थ को बतलाता है। इस पर नायिका उमड़ पड़ती है और उस पथिक से अपना संदेश ले जाने की प्रार्थना करती है। पथिक यात्रा की शीघ्रता में है परन्तु विरहिणी के आंसू उसको विरह दशा सुनने के लिये विवश कर देते हैं। वह विरहिणी से प्रियतम के वियोग की ऋतु के विषय में प्रश्न करता है और तृतीय भाग में नायिका बड़े विस्तार से षड्ऋतु वर्णन करती है। नायिका संदेश देकर जैसे ही परावृत्त होती है वैसे ही उसका प्रियतम आ जाता है और काव्य दोनों प्रणयी व्यक्तियों का संयोग कराकर समाप्त हो जाता है। काव्य में सामोह के पेड़-पौधे तथा नागरिक जीवन के वर्णन, विरह वर्णन, षड्ऋतु वर्णन इत्यादि की प्रधानता है और इन्हीं फुटकर विषयों को लेकर पद्यों की रचना हुई है। केवल उनमें एकसूत्रता स्थापित करने के उद्देश्य से पथिक की संक्षिप्त कहानी गढ़ ली गई है। यद्यपि रचना एक मुसलमान की है किन्तु कवि ने इतना अधिक हिन्दू शैली को आत्मसात् किया है कि इसमें किसी अहिन्दू की कृति होने का भान ही नहीं होता। कवि ने रचना में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

स्त्री कवयित्रियां :—

संग्रह ग्रन्थों और प्रशस्तियों में अनेक स्त्री कवयित्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इनका कोई भी मुक्तक संकलन अभी तक समुपलब्ध नहीं हो सका है। संग्रह ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी उदाहरण के रूप में इनकी कवितायें उद्धृत की गई हैं उससे ज्ञात होता है कि समय-समय पर अनेक कवयित्रियां होती रही हैं और इनकी कवितायें भी पुरुषों से किसी प्रकार कम नहीं होती थीं। यदि इनकी रचनाओं का पूर्ण और सुव्यवस्थित संकलन सुरक्षित रखा गया होता तो उसका हमारे काव्य-जगत् में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान होता। किन्तु खेद है कि आज हमें इन कवयित्रियों के फुटकर पद्य ही यत्र-तत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं और कुछ का तो केवल नाम ही उपलब्ध होता है। अनेक कवयित्रियों की प्रशंसा में तो सूक्तियां भी प्रसिद्ध हैं। काव्य में सर्वोत्तम वैदर्भी रीति मानी जाती है और उसके बाद पांचाली का नम्बर आता है। वैदर्भी रीति के सर्वोत्तम कवि कालिदास हैं और पांचाली रीति के बाणभट्ट। किन्तु यदि इनके बाद दूसरा किसी का नाम आता है तो वे स्त्री कवयित्रियां ही हो सकती हैं। वैदर्भी रीति में कालिदास के बाद सरस्वती के समान कविता में निपुण विजया कर्णाटी का नाम ही आता है :—

सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ ।

या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

सम्भवतः ये वही कर्णाटी (कर्णाट-राजप्रिया) हैं जिन्होंने अपने विषय में लिखा है—“एक कवि (ब्रह्माजी) कमल से उत्पन्न हुए। दूसरे (वेदव्यास) नदी तट पर उत्पन्न हुए तथा तीसरे (वाल्मीकि) वल्मीक से प्रादुर्भूत हुए। ये महान् कवि हैं। इन्हें हम नमस्कार करती हैं। किन्तु यदि आजकल के कविगण अपनी गद्य-पद्य रचनाओं से चित्त को चमत्कृत करने का दावा करते हों तो कर्णाट-राज की पत्नी में उनके सर पर अपना बायां चरण रखने को प्रस्तुत हूँ।”

इसी प्रकार पांचाली रीति में भी वारण के बाद शील भट्टारिका का ही नाम लिया जा सकता है।

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पांचाली रीतिरिष्यते ।

शीलभट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

स्त्री कवयित्रियों में सबसे अधिक विज्जिका का नाम लिया जाता है । विज्जिका की निम्नलिखित गर्वोक्ति कितनी चमत्कारपूर्ण है—

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता ।

वृथैव दण्डिना प्रोक्त सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

“दण्डी ने कहा है कि सरस्वती सर्वथा श्वेत है। मालूम पड़ता है दण्डी ने मुझे देख नहीं पाया था। मैं विज्जिका तो नीलोत्पल के समान श्यामवर्ण की हूँ । फिर उन्होंने (मुझे सरस्वती को) सर्वशुक्ला कैसे लिख दिया।”

विकटनितम्बा के विषय में यह उक्ति कितनी सुन्दर है :

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रंजिताः ।

निन्दन्ति निजकान्तानाम् न मोग्ध्यमधुरं वचः ॥

“ऐसे कौन लोग हैं जो विकटनितम्बा की वारणी के समूह से अनुरक्त होकर अपनी प्रियतमाओं के मुग्धता के मधुर वचनों का तिरस्कार नहीं करते।” इसी प्रकार :—

सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः ।

प्रभुदेवी कविर्लाटी गतापि हृदि तिष्ठति ॥

प्रभुदेवी नाम की लाट देश की कवयित्री जो कि सूक्तियों, काम-क्रीड़ाओं और कलाओं की विलासभूमि थी यद्यपि आज इस लोक में नहीं हैं तथापि सहृदयों के हृदयों में अपना घर किये हुए हैं।

विकटनितम्बा, विज्जिका, मारुला और मोरिका इत्यादि कवयित्रियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं, इनकी रचनाओं में सर्वत्र शृंगार रस की ही प्रधानता है। एक कवयित्री की वैदग्ध्य भंगी भणिति का एक नमूना देखिये :—

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि,

विश्वब्धचातुकशतानि रतान्तरेषु ॥

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण,

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ।

कोई नायिका सखियों की गोष्ठी में प्रियतमों के साथ प्रेमालाप करने की चर्चा चलने पर कहती है—सखियो, तुम धन्य हो जोकि प्रियतम के समागम के अवसर पर सँकड़ों प्रकार के प्रेमालाप स्वच्छन्दतापूर्वक कर लेती हो। मेरी तो नीवी की ओर प्रियतम जैसे ही हाथ बढ़ाते हैं (मैं इतनी आनन्द विभोर हो जाती हूँ) कि मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि मुझे कुछ भी स्मरण ही नहीं रहता कि मैं कहाँ हूँ ।

यह श्लोक कितना सुन्दर है :—

चतुरः सत्रि मे भर्ता स्वयं हि यल्लिखति तत्परो न वाचयति ।

तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥

कोई स्त्री कह रही है—“हे सखी मेरा पति बड़ा ही निपुण है जो कुछ लिख देता है उसे कोई पढ़ ही नहीं सकता ।” “इस पर दूसरी स्त्री उत्तर देती है—“इससे भी अधिक मेरा पति निपुण है कि स्वयं लिखा हुआ स्वयं ही नहीं पढ़ सकता ।”

इन कवयित्रियों की नीति-सूक्तियों में भी शृंगार रस का पुट पाया जाता है ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के मुक्तक

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है प्रेमप्रधान शृंगारिक रचनाओं के लिये देश भाषाओं को ही प्रमुखता दी जा रही थी । पहले प्राकृत भाषाओं में शृंगार रस के मुक्तक लिखे जाते थे फिर उनका स्थान अपभ्रंश भाषाओं ने ले लिया । हमें प्राकृत और अपभ्रंश मुक्तकों की कोई भी क्रमबद्ध परम्परा उपलब्ध नहीं होती और न उसका कोई महत्वपूर्ण संकलन अभी तक अधिगत हो सका है । श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ कृत वज्जलंग एक प्रसिद्ध रचना है । इसका समय नियत नहीं है । इसमें चरित्र-व्यवहार और प्रेम सम्बन्धी कविता है । प्रेम-सम्बन्धी पद्य सम्पूर्ण ग्रंथ में दो-तिहाई में हैं । इसमें अपभ्रंश मिश्रित महाराष्ट्री में आर्याछन्द का प्रयोग किया गया है ।

अपभ्रंश के रसात्मक मुक्तकों के संकलन की दृष्टि से हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । यह व्याकरण सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन और सिद्धहेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध है । वस्तुतः अपभ्रंश भाषा की कविता के विकास की दिशा में जितना उपकार इस एक ग्रन्थ से हुआ है उतना दूसरे ग्रन्थ से नहीं हुआ । इसमें उदाहरण के रूप में प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनों के उदाहरण दिये गये हैं । प्राकृत और संस्कृत जनसमाज में अधिक समादृत थीं । अतएव लेखक ने इन दोनों भाषाओं के शब्दों का उद्धरण मात्र ही पर्याप्त समझा किन्तु अपभ्रंश भाषा की पूरी गाथायें दे दी हैं । इनका समय ईसा की १०वीं

कसावड़ी है। ये गुजरात के सोलंकी नरेश सिद्धराज जयसिंह तथा उनके भतीजे कुमार-पाल के सभा-भूषण थे और इनके दरबार में हेमचन्द्र का सर्वाधिक सम्मान था। इन्होंने ही अन्त में कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित किया था। कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के आदेश से ही हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना की थी। वास्तविकता यह है कि यदि इन महानुभाव का आविर्भाव न हुआ होता तो अपभ्रंश की महती साहित्य-राशि के प्रकाश में आने में एक बहुत बड़ा व्याघात उपस्थित हो जाता। इस व्याकरण में जो उदाहरण संकलित किये गये हैं वे एक काल की रचना नहीं जान पड़ते। अभी तक यह पता नहीं चलाया जा सका है कि इन मुक्तकों का संकलन किन ग्रन्थों से किया गया है।

इन उदाहरणों में स्थान-स्थान पर शृंगार रस के बड़े ही उत्कृष्ट पद्यों का समावेश हुआ है। इनको देखने से हमें हाल की गाथाओं का स्मरण हो आता है।

प्रिय संगमि कडनिद्ड़ी पियेहापरक्खहोकेव ।

मयि विन्निधि विन्नासिया निदन ऐवन तेंव ॥

(प्रियतम के समागम में नींद कहां और प्रियतम के वियोग में भी नींद कहां ? मैं दोनों प्रकार से नष्ट हुई। नींद न ऐसे ही आती है और न वैसे ही।)

सखी कितनी निपुणता से नायक की विरह-व्यथा का वर्णन कर नायिका को नायक की ओर आकर्षित करना चाहती है—

बिहो एमइं भणिय तुहें माकुरुवांकी विट्ठ ।

पुत्तिसकराणी पल्लिजिवं मारयिहियइ पइट्ठ ॥

(हे बिटिया, मैंने तुझ से कहा था कि बांकी दृष्टि मत कर। हे पुत्री, वह अनींदार बर्छों की भांति हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है।)

एक नायिका की कथा सुनिये :—

अंगहि अंगुन मिलिउ हलि अह रे अहरन पत्तु ।

पिअ जोअत्तिहे मुह कमलु एत्वइ सुरउ समत्तु ॥

(हे सखी, न तो प्रियतम के अंग में अंग ही मिला और न अघर को ही अघर प्राप्त कर सका। प्रियतम का मुख कमल देखते ही देखते यों ही सुरत समाप्त हो गया।)

कहीं-कहीं अत्युक्ति भी मनोरम बन पड़ी है। प्रियतम के आगमन के अवसर पर नायिका की चूड़िया एक दम टूटकर गिर जाती है क्योंकि वह आगमन की प्रसन्नता में इतनी अधिक मोटी हो जाती है। इसी प्रकार वियोग होते ही एक क्षण में चूड़ियां निकलकर भूमि पर गिर जाती हैं।

पइं मेलन्तिहें मुहुमरणु मइ मेलन्त हो तुज्झु ।

सारसु जसु जां वेगगला सोविकृत्त हो सज्झु ।।

(तुझे छोड़ते हुए मेरा मरण है और मुझे छोड़ते हुए तेरा मरण है। सारस के समान जो दूर रहेगा वह कृतान्त का साध्य होगा।)

कहीं-कहीं उद्दीपनों का समावेश भी अच्छा है। उद्दीपनों में पपीहा पर विशेष रूप से सूक्तियां प्राप्त होती हैं।

उग्रकणिग्राह पफुल्लि अउकंचण कंति पयासु ।

गोरी वयण विणिज्जिअउ वं सेवड वणवाहु । ।

(यह देख कंचन के समान कान्ति वाला कर्णीकार प्रफुल्लित हो गया। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे मानो गोरी के वदन से पराजित होकर वनवास सेवन करता हो।)

निम्नलिखित उत्प्रेक्षा भी कितनी सुन्दर है :—

बिम्बाहरि तणुरयण वणु किहिठिड सिरिआणन्द ।

निहवम रसु पियें पियेविजणु सेसहोदिणीमुद्द । ।

(सखी के बिम्बाधर पर रदन-व्रण (दन्तक्षत) की आनन्दश्री कैसी स्थित है। निरुपम रस पीकर प्रियतम ने मानो शेष पर मोहर लगा दी है।)

भण सहि निहुअउतेवं मइं जइ पिउ विदु सवोसु ।

देवं न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडग्रंतासु ॥

(हे सखी यदि मेरा प्रियतम सदोष है तो यह बात मुझसे ऐसे एकान्त में कहो जहां मेरा मन भी न जान सके क्योंकि यह प्रियतम का पक्षपाती है।)

नायिका प्रियतम को संदेश देने में लज्जित होती है क्योंकि एक तो वह प्रवास में साथ नहीं गई और दूसरे वियोग हो जाने पर मरी नहीं। यह नायिका कितनी रूपगविता है। इसे विश्वास ही नहीं होता कि प्रियतम चले ही जावें—“यदि प्रियतम जा रहे हैं तो जाने दो रोको नहीं। मैं भी देखूं कि यह कितने पग चल सकते हैं। हृदय में तिरछी होकर तो मैं ही अड़ी हूं प्रियतम केवल जाने का आडम्बर कर रहे हैं।”

एकाघ पद राधा और कृष्ण के प्रेम से सम्बन्धित भी हैं :—

हरि नचाविअ पंगणइ विहाइ पाडिउ लोउ ।

एकवहि राह पओहरहं जंभावइ तं होउ । ।

(हरि को प्रांगण में नचाया। लोगों को विस्मय में डाल दिया। अब राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो।)

कही कोई नायिका सन्ध्या समय में प्रियतम से कलह कर लेने पर पश्चात्ताप कर रही है, कहीं नित्यप्रति शीन को कंचकित करने पर पश्चात्ताप किया जा रहा है। कही किसी पथिक को आंगुओं और श्वासों से अंचल को गीला-सूखा करती हुई गोरी के दर्शन होते हैं। एक नायिका का चित्र और देखिये :—

वलयावलि निवडणभएणधण उद्धवुअजाइ ।

वल्लह विरह महवहहो थाइ गवसेइ नाइ ॥

(नायिका विरह व्यथा से इतनी कृश हो गई है कि इस डर से कहीं वलय

न गिर जावें निरन्तर ऊपर को बांह उठाकर ही चला करती है । तब ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रियतम के विरह सरोवर की थाह ले रही है ।)

किन्तु इन उदाहरणों में नायिकाएं प्रियतम की विरह-व्यथा में जलने और कुढ़ने वाली ही नहीं हैं और न इतनी कोमल ही हैं कि कपोलों पर गुलाब की पंखुड़ी लगने से शरीर में खरोंच पड़ने का भय हो । इनमें अनेक नायिकायें बड़ी ही वीर वृत्ति वाली हैं और केवल रसिक ही नहीं अपितु गुणवान् तथा वीर पति की कामना करती हैं । इस प्रकार इन गाथाओं में वीरभावों की बड़ी ही सुन्दर व्यंजनायें स्थान-स्थान पर लक्षित होती हैं और वीरों के गुणों का काव्य शैली में बड़ा ही मनोरम चित्रण किया गया है ।

निम्नलिखित पद्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं :—

भला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु ।

लज्जेजं जु बयं सियहु जइ भग्गा घर एंतु ॥

(हे बहन, यदि मेरा पति मारा गया तो यह अच्छा ही हुआ । यदि वह भागकर घर आता तो मुझे समवयस्काओं में लज्जित होना पड़ता ।) एक नायिका पार्वती जी से क्या मांगती है :—

आर्पाहि जम्याहि अर्न्नाहि विगोरि सुदिज्जहि कंतु ।

गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो यम्भिडर हसन्तु ॥

(हे गौरी ! इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी वह कन्त दीजिये जो मत-बाने और त्यक्तांकुश गर्जों से हंसता हुआ जा भिड़े ।)

इस नायिका को प्रियतम की सिंह की उपमा भी अच्छी नहीं लगती :—

कंतुजु सीहहो उवमिअहतं महु खण्डिउ माणु ।

सीहु निरक्खय गयहणइ पिउ पय रक्ख समानु ॥

(प्रियतम जो सिंह से उपमित हुआ उससे मेरा मान खण्डित हुआ । सिंह नीरक्षक (रक्षक रहित) गजों को मारता है जब कि प्रियतम पद रक्षकों सहित गजों को मारता है ।)

एक नायिका के प्रियतम में सभी गुण हैं किन्तु केवल दो दोष उसे अखरते हैं एक तो यह कि दान देते हुए केवल नायिका ही बच गई और युद्ध करते हुए केवल तलवार शेष रही । इसी प्रकार एक नायिका को केवल यह चिन्ता है कि उसके प्रियतम के युद्ध करने पर कोई भी कपाल बिना फूटे नहीं रहता । अब तो बेचारे कापालिक अभग्न कपाल के अभाव में अपनी साधना किस प्रकार करेगे । एक दूसरी नायिका अपने प्रियतम की इस वीर वृत्ति को देखकर आनन्दित हो रही है कि उसके प्रियतम के पैरों में आते उलभी हुई हैं, कन्धे पर सर झूल रहा है फिर भी उसके हाथ से तलवार नहीं छूटती । वह अपने प्रियतम की इस वीर वृत्ति पर निछावर हुई जा रही है । कहीं-कहीं सर्वसाधारण में भी वीर भाव की अच्छी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है ।

नायिकाओं के सौन्दर्य का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। वयः संधि के कुछ अच्छे पद्य विद्यमान हैं। स्तनों के बीच की दूरी इतनी कम है कि नायक का मन भी वहां नहीं पहुंच पाता। साथ ही विस्तार का भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। स्तन इतने बड़ जाते हैं कि प्रियतम अधर चुम्बन कर ही नहीं पाता। यह तो लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। एक नायिका की कामना भी प्रशंसनीय है कि यदि प्रियतम का समागम उसे प्राप्त हो जावेगा तो वह उस के अंगों में ऐसे ही समा जावेगी कि जिस प्रकार मिट्टी के घड़े में पानी समा जाता है।

अपभ्रंशभाषाओं के ये मुक्तक निःसंदेह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अभी तक उस मूल स्रोत का अनुसन्धान ही नहीं किया जा सका जहां से यह संकलन प्रस्तुत किया गया है। यदि मूल गाथा संकलनों का कभी अन्वेषण किया जा सका तो साहित्य-जगत् में यह एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण खोज होगी और हम महत्त्वपूर्ण काव्य राशि को प्राप्त कर सकेंगे। कतिपय स्फुट मुक्तक इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं।

(३) तृतीय चरण—भक्ति-काल

विक्रम की १२वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मुक्तक-काव्य जगत् में नवीन परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस समय से लेकर काव्य जगत् में हमें नई गति-विधि, नई शैली, नये विषय और नई विचारधारा के दर्शन होते हैं। रसात्मक मुक्तक के क्षेत्र में अभी तक नायक और नायिका अनिर्दिष्ट ही रहते थे। किन्तु इस समय से लेकर नायक-नायिका के प्रतिष्ठित पद पर विशिष्ट व्यक्ति स्थापित कर दिये गये। यद्यपि यह प्रवृत्ति सर्वथा नवीन नहीं थी जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है। सामान्य वर्णन के बीच-बीच में कही पर राधा-कृष्ण, गोपी-कृष्ण, शिव-पार्वती इत्यादि को शृंगारिक लीलाओं का वर्णन भी दृष्टिगत हो जाता है किन्तु इस प्रकार की रचनाओं की संख्या इतनी न्यून है कि हम उसके आधार पर इस प्रकार की रचना को समय की सामान्य प्रवृत्ति नहीं मान सकते। इसके प्रतिकूल १२वीं तथा १३वीं शताब्दी से निर्दिष्ट विभावों के विषय में रचना करने की एक सामान्य प्रवृत्ति बन गई। यद्यपि इस काल में भी दो-चार रचनायें पुरानी शैली पर भी अनिर्दिष्ट विषयक पाई जाती हैं तथापि समय की सामान्य प्रवृत्ति निर्दिष्ट व्यक्तियों के विषय में ही रसात्मक रचना करने की बन गई थी।

ये निर्दिष्ट व्यक्ति राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण थे। कुछ कवियों ने राम-सीता तथा शिव-पार्वती को लेकर भी मुक्तक रचनाएँ की हैं। विशिष्ट व्यक्ति देव या देवकला ही थे। अतएव इस काल को दिव्य कान या भक्ति काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस परिवर्तन में उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक परिस्थिति मूल कारण थी। अतएव उस पर संक्षिप्त विचार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(क) सामाजिक स्थिति

आलोच्य काल राजनीतिक पतन का काल था। हर्ष के बाद कन्नौज की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो जाने पर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था और ये राज्य परस्पर संघर्ष में भारत की शक्ति क्षीण करते जा रहे थे। इस परिस्थिति का अनुचित लाभ लेकर विदेशी आक्रान्ता (मुसलमान) अपना पैर जमाते जा रहे थे। धीरे-धीरे विदेशी संस्कृति को अपने साथ लेकर आई हुई मुसलमान जाति भारतीय समाज के साथ घुल-मिल गई थी और उसका प्रभाव भी समाज पर पर्याप्त मात्रा में लक्षित होने लगा था। दूसरी ओर हिन्दू समाज में बौद्ध धर्म के ध्वंसावशेष वज्रयानियों का प्राधान्य बढ़ गया था। हिन्दू-समाज में यह युग तन्त्र-युग के नाम से पुकारा जाता है।

तन्त्र साहित्य का अवलोकन करने से उस समय की सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वैसे तो अथर्ववेद में ही अनेक प्रकार के जादू-टोने, वशीकरण, मारण-मोहन, उच्चाटन इत्यादि के दर्शन होते हैं किन्तु ईसा की चौथी शताब्दी के आस-पास महायानियों ने धारणी नाम से नये साहित्य को जन्म दिया जिसमें जादू-टोने इत्यादि के लिये एक वर्ग ही बन गया और उसे अति शीघ्र प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। ११वीं १२वीं शताब्दी तक पढ़ूँ-पढ़ूँ-चते सर्वसाधारण में अन्धविश्वास का प्राधान्य हो गया और इस क्षेत्र में मिथ्याडम्बर की प्रतिष्ठा बढ़ गई। अशिक्षित तथा आडम्बर धारण करने वाले व्यक्ति जनता के आदर भाजन बन गये। तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र इत्यादि की प्रधानता हो गई और छोटे-छोटे बीज मन्त्रों की शक्ति पर विश्वास किया जाने लगा।

हिन्दू समाज में हमें इस समय तीन सम्प्रदायों के दर्शन होते हैं—शाक्त, शैव तथा वैष्णव। शाक्त साहित्य को तन्त्र कहा जाता है। इसी प्रकार वैष्णवों की संहितायें तथा शैवों के आगम प्रसिद्ध हैं। तीनों पुस्तकों में एक ही सी बातें पायी जाती हैं। ये पुस्तकें रहस्यमयी पुस्तकें मानी जाती थीं और बिना गुरुपदेश के इनको पढ़ने का किसी को अधिकार नहीं था। इनके मन्त्र साधक के कान में दिये जाते थे और इस प्रकार गुरु ने कान फुँकवा कर साधक स्वयं सिद्ध बन जाता था तथा दूसरे को उपदेश देने लगता था। सिद्ध होने तथा गुप्तत्व को प्राप्त करने के लिये न तो उच्च शिक्षा ही अधिष्ठित थी और न साधना। मन्त्र को कान में फुँकवा लेना ही पर्याप्त था।^१ तन्त्र ग्रन्थों में योग साधना पर बल दिया गया है। किन्तु वह योग साधना परमात्मा से एकता प्राप्त करने के लिये नहीं अपितु जादू की शक्ति प्राप्त करने के लिये होती थी। इसी प्रकार सर्वसाधारण को अपनी ओर खींचने के लिये महात्माओं को कुछ न कुछ दार्शनिक उपदेश भी देना पड़ता था। किन्तु यह

दार्शनिक उपदेश किसी सिद्धान्त विशेष पर स्थिर नहीं होता था और न इसमें कोई व्यवस्थित विचार धारा ही चलती थी। तंत्रों में कहीं अद्वैतवाद की छाप दिखाई पड़ती है और कहीं एकेश्वरवाद की। इसके अतिरिक्त तन्त्र ग्रन्थों में उत्सव, रीति-रिवाज तथा सामाजिक स्थिति का भी बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।^१

विण्टरनिट्ज ने लिखा है कि "हिन्दुत्व के दूसरे विषयों में जो बात सत्य है उससे भी अधिक मात्रा में शक्ति तन्त्रों के विषय में यह बात कही जा सकती है कि इनमें मनुष्य के मस्तिष्क के द्वारा सोचे हुए ऊँचे से ऊँचे और नीचे से नीचे विचार साथ-साथ पाये जाते हैं। शक्तों की पवित्र पुस्तकों में एक ओर देवत्व के विषय में उच्चतम विचार तथा दार्शनिकता के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर सबसे अधिक जंगली अन्धविश्वास और चक्कर में डालने वाले रहस्यमय जादू-टोना के दुराचारों (Occultism) का वर्णन मिलता है।" उच्चकोटि की दार्शनिकता सर्व-साधारण पर प्रभाव जमाने के लिये है और निम्नकोटि की दुराचार की सामग्री समय का प्रतिनिधित्व करती है। इन तन्त्रों का सर्वाधिक प्रभाव बंगाल में था और बंगाल से ही बौद्धों के साथ आसाम, नेपाल, तिब्बत और चीन तक इनका प्रचार हुआ था।

तन्त्र साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें शक्ति की उपासना के विषय में विचार भारत के प्राचीन साहित्य से ही लिया गया है। इनमें ब्रह्मवाद अपने उसी रूप में पाया जाता है जिस रूप में उपनिषदों में विद्यमान है। शक्तों के अनुसार ब्रह्म केवल चिरन्तन शक्ति है और कुछ नहीं। संसार के समस्त प्राणियों का आविर्भाव माता के गर्भ से होता है अतएव सबसे बड़ी रचनात्मक शक्ति पिता के रूप में नहीं परन्तु माता के रूप में देखी जानी चाहिये, यही कारण है कि रचनात्मक शक्ति के सभी वाचक स्त्रीलिंग हैं। यही शक्ति प्रकृति कहलाती है और इसी को उमा, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, राधा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। ये समस्त नाम एक ही शक्ति के परिचायक हैं और इन्हीं को जगन्माता के नाम से पुकारा जाता है। जैसे एक ही चन्द्र का अनेक स्थानों में अनेक प्रकार का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार एक ही शक्ति अनेक देवी-देवताओं के रूप में प्रतिफलित तथा प्रतिबिम्बित होती है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी शक्ति के प्रतिफलन हैं। यह शक्ति ही महाकाल की माता है और यह महागत मधूक मद्य का पान कर शक्ति के समक्ष नृत्य किया करते हैं।

इस आनन्दमयी रचना शक्ति की उपासना में पंचतत्वों की प्रधानता है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। मद्य वह शक्ति है जो समस्त चिन्ताओं को भुलाकर आनन्द देने में समर्थ होती है। मांस और मत्स्य से शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति बढ़ती है और मनुष्य में सन्तानोत्पादन की शक्ति आती है। मुद्रा या

स्वादिष्ट भोजन ही तीनों लोकों के कल्याण का साधन है और भूमि से उद्भूत शक्ति का मानव में संचार करनेवाला है। मैथुन सभी जन्तु-जगत् के लिये सर्वा-तिशायी आनन्ददाता, समस्त प्राणियों का मूल और आदि-अन्त रहित विश्व का मूल कारण है।

इन पंच तत्वों का सेवन चक्र के अन्दर किया जाता था। “प्रवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः। निवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्-पृथक्।” भैरवी-चक्र के अन्दर एक विशेष प्रकार की विधि का सम्पादन किया जाता था जिससे सभी पुरुषों के लिये सभी स्त्रियां उपभोग्य हो जाती थीं। वर्ण-व्यवस्था का भी विचार छूट जाता था। माता को छोड़कर कोई भी स्त्री उपभोग्य हो सकती थी। कोई भी साधक चक्र में आकर किसी भी स्त्री से अपने को सम्बद्ध कर सकता था और एक सूक्ष्म विधि के द्वारा उसे अपनी पत्नी बना सकता था। एक ओर देवी की उपासना हृदय-कमल पर देवी को बैठाकर अपना हृदय-कमल प्रदान करने के द्वारा बतलाई गई है और दूसरी ओर मद्यमांस इत्यादि पंच तत्वों के द्वारा बतलाई गई है।

इस तन्त्र पद्धति पर अनेक सम्प्रदाय बन गये थे, जिनके द्वारा केवल मानव की ऐहलौकिक उपभोग लालसा की तुष्टि होती थी। श्री सम्प्रदाय, चोली सम्प्रदाय इत्यादि अनेक सम्प्रदायों में यही उपभोग की प्रधानता थी। कौल धर्म भी योग और भोग का अपूर्व सम्मिलन स्थल था। कौल-धर्म में भी उपर्युक्त पंच तत्व ही मुक्ति तथा भुक्ति के साधन माने जाते थे। कुलार्णव-तन्त्र में लिखा है कि—“ब्राह्मण को हर समय मद्यपान करना चाहिये, क्षत्रियों को युद्ध में, वैश्यो को गाय खरीदने में और शूद्र को दाह कर्म संस्कार के अवसर पर मद्यपान करना चाहिये। मदिरापान का पराकाष्ठा भी अत्यन्त उदारता के साथ निश्चित की गई है—“शराब तब तक पीते जाना चाहिये जब तक भूमि पर गिर न पड़े। गिर पड़ने के बाद पुनः उठकर पीनी चाहिये। इससे पुनर्जन्म नहीं होता।” कुल चूडामणि में भी केवल अपनी स्त्री से ही संतुष्ट न रहने तथा दूसरी स्त्रियों का भी उपभोग करने का उपदेश है। प्रपंच सार में लिखा हुआ है कि कौल-धर्म के किसी भी साधक के वश में देव तथा दानव-मानव इत्यादि किसी की भी स्त्रियां शीघ्र उसकी हो जाती हैं, वे उसके पास प्रेम की मदिरा का पान किये हुए आती हैं और अपने आभूषण उसकी ओर फेंकती हैं, उस समय उनका रेशमी वस्त्र लटकता है और बिखरे हुए बालों के मध्य से उनके मुख-मण्डल के दर्शन होते हैं। उनका प्रत्येक अंग प्रेम की असह्य वेदना से काँपता है..... वे उस समय काम बाणों से विद्ध होती हैं और उनके मुख से प्रेमोच्छ्वास निरन्तर निकलते रहते हैं। तन्त्र साहित्य में कहीं-कहीं कृष्ण और राधा की प्रेम-लीलाओं का भी वर्णन है और राधा को महाकाली का एक प्रतिरूप गाना गया है। जानार्णव तन्त्र में कुमारी-पूजन को ही सबसे बड़ी साधना माना गया है।

इस प्रकार एक ओर भारतीय समाज दुराचारों में फंसा हुआ था और जनता के चरित्र का स्तर अत्यन्त गिर गया था, दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था अपना भीषणतम रूप धारण कर चुकी थी। चार वर्णों के अतिरिक्त एक पांचवाँ वर्ण अन्त्यज भी सत्ता में आ गया था।

समाज में स्त्रियों की दशा और भी गिरती जा रही थी। लड़कियों की छोटा आयु में विवाह करने की प्रथा बढ़ रही थी और यदि उनका पति मर जावे तो या तो उन्हें वैधव्य जीवन बिताना पड़ता था या चिता में जल जाना होता था। विधवाओं के साथ व्यवहार अच्छा नहीं होता था, अतएव अधिकतर दूसरा मार्ग ही अपनाया जाता था। स्त्रियों की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई थी। कालिदास इत्यादि की रचनाओं में हमें जिस स्त्री-स्वातन्त्र्य के दर्शन होते हैं, उसका सर्वथा अभाव हो गया था। पर्दा प्रथा बढ़ रही थी। स्त्रियों को एकांत जीवन व्यतीत करना पड़ता था, स्त्रियाँ केवल उपभोग की ही वस्तु मानी जाने लगी थीं। कहीं-कहीं स्त्रियों के कारण राजा लोगों में युद्ध होते थे और स्त्रियों को विवश होकर ऐसे व्यक्तियों के साथ विवाह के बन्धन में पड़ना पड़ता था जिन्हें वे नहीं चाहती थीं। कभी-कभी उनके कारण भी स्वयम्बर-स्थल अथवा विवाह-मण्डप रक्त-रंजित हो जाते थे। पुरुष अनेक विवाह करके स्त्रियों को यातना देते थे।

अल्बरूनी ने हिन्दू-धर्म की प्रशंसा की है और लिखा है कि “हिन्दुओं के पास बहुत उच्चकोटि की पुस्तकें हैं किन्तु ये पुस्तकें थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों के लिये ही हैं जबकि सर्वसाधारण का सम्बन्ध केवल मूर्तियों तथा मन्दिरों में निरर्थक रीतियों, निरर्थक साधनाओं और कण्टदायक प्रतिबन्धों से ही है।” अल्बरूनी ने आश्चर्य प्रकट किया है कि जिस देश में अमृत की धारा बहती है वहाँ पर लोगों को विष पान कराया जा रहा है।

उदार धर्म केवल कतिपय ब्राह्मणों की ही संपत्ति बन गया था। सर्वसाधारण को अज्ञानान्धकार में तथा अनुचित अन्धविश्वासों में रखा जाता था। इस समय प्रत्येक वस्तु असम्बद्ध प्रतीत हो रही थी और राष्ट्रीय जीवन बुझ चुका था।

निस्संदेह हिन्दू जाति को अपने इस असंयत जीवन के लिये बहुत बड़ा दण्ड देना पड़ा। इस समय के उपरान्त ८०० वर्ष के लिये उनका इतिहास शून्यवत् हो गया। विश्व की सर्वप्रथम सभ्य हुई जाति सामाजिक रूप में जीवन-हीन और राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा उपहासास्पद बन गई।

(ख) धार्मिक स्थिति

ऊपर जिस सामाजिक अवस्था का चित्रण किया गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय विद्वान् थे ही नहीं। उस समय भी उच्चकोटि के विद्वान् थे यद्यपि उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। ये विभिन्न शास्त्रों का गम्भीरतः-

पूर्वक अध्ययन करके अपने मौलिक सिद्धान्तों के प्रवर्तन की चेष्टा में निरत रहते थे। किन्तु इन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन इने-गिने शिक्षितों का ही व्यापार था। सर्वसाधारण का सम्बन्ध ग्रन्थ-विश्वासी और पाखण्डी अशिक्षितप्राय धर्म-गुरुओं से था। ये धर्म-गुरु सर्वसाधारण पर अपना प्रभाव जमाने के लिए विभिन्न शास्त्रों का परिचय देने की चेष्टा किया करते थे किन्तु उनकी यह योग्यता प्रत्यक्ष नहीं अपितु अप्रत्यक्ष सुनी-सुनाई बातों तक ही सीमित थी। उस समय की सबसे बड़ी विशेषता भक्ति का विकास है।

सामान्यरूप से हमें उस समय हिन्दू-धर्म पर प्रभाव डालने वाले तीन तत्व अधिगत होते हैं : (१) बौद्धधर्म की महायान शाखा, (२) जैन-धर्म और (३) मुसलमान धर्म।

(१) बौद्ध धर्म की महायान शाखा—बौद्ध धर्म त्याग तपस्या और उदारता का धर्म था। भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्यों और आठ मार्गों का प्रतिपादन करते हुए सर्वसाधारण के लिये मोक्ष मार्ग प्रशस्त किया था। यदि हम संक्षेप में बौद्ध धर्म की अन्तरात्मा का परिचय देना चाहें तो, कह सकते हैं कि बौद्धधर्म के अनुसार सर्व साधारण जीवन में दुःख की सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है। दुःख का उद्गम व्यक्तिगत सुख-संतोष की उद्दीप्त कामना से ही होता है। यदि हम दुःख का अत्यन्ताभाव चाहते हैं तो कामना का परित्याग ही उसका एकमात्र साधन है। कामना का परित्याग तथा निर्वाण का अधिगम ऐहिक सुख-भोग और पूर्ण संन्यास के मध्य मार्ग का अवलम्बन करने से तथा नैतिक और व्यवस्थित जीवन के निर्वाह के द्वारा ही सम्भव है। सांसारिक सफलता तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये नैतिकता तथा धार्मिक जीवन निर्वाह पर इतना अधिक बल दिया गया है कि इस प्रकार के जीवन के सामने ईश्वरोपासना को भी तुच्छ तथा हेय ठहराया गया है।

धीरे-धीरे भारत की राजनीतिक स्थिति बदलती गई। भारत पर यवन, शक, हूण इत्यादि अनेक जातियों के आक्रमण हुए और ये जातियाँ पूर्ण रूप से भारतीय समाज में मिल-जुल गयीं। अतएव आवश्यकता इस बात की हुई कि बौद्ध धर्म में कुछ ऐसे परिवर्तन कर लिये जावें जो एक ओर तो विदेशी आगन्तुकों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें और दूसरी ओर नव विकसित हिन्दू धर्म के अनुयायियों में भी प्रतिष्ठित हो सकें। नैतिकता तथा संन्यास सर्वसाधारण के वश के बाहर की बात थी। अतः बौद्ध धर्म में एक नवीन शाखा का आविर्भाव हुआ और वह शाखा महायान (अर्थात् सर्वसाधारण को निर्वाण पद पर ले जाने वाला यान) नाम से विख्यात हुई। इस शाखा ने इस बात का प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया कि केवल बौद्ध धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ही निर्वाण का अधिकारी नहीं होता अपितु जो व्यक्ति भगवान् बुद्ध से प्रेम करता है वह भी निर्वाण का

अधिकारी हो जाता है। अवश्यकतानुकूल महायान सम्प्रदाय का साहित्य भी बहुत अधिक लिखा गया है। ललित-विस्तर महा-वस्तु जैसे महाग्रन्थों का प्रणयन हुआ और साथ ही महायान सूत्रों को लिखकर महायान की पृष्ठभूमि तथा उसका सिद्धान्त पक्ष भी समझाने की चेष्टा की गई।

महायान शाखा में बुद्ध पूर्ण ब्रह्म के पद पर आसीन हो गये जिन की कृपा के आकांक्षी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्र इत्यादि सभी देवता रहते हैं। बुद्ध अनादि-निधन अव्यय ब्रह्म है जो सर्वदा रहे हैं और सर्वदा रहेंगे। बुद्ध अपने विषय में स्वयं कहते हैं—“मैं इस संसारका पिता हूं, मैं स्वयंभू तथा विश्व का आता शिक्षक हूं। मैं जानता हूं कि संसार के व्यक्ति किस प्रकार कुपथागामी हैं। यही कारण है कि मैं अपने को संसार से चला गया प्रकट कर दिया करता हूं।” भूतदया तथा मान और दुर्बलता के विचार से ही बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए से ज्ञात होने लगते हैं। इस बात को समझाने के लिए अनेक कथानक लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए एक वंश पिता के अनेक पुत्र हैं। पुत्र बीमार हो जाते हैं। वंश उन को औषध प्रदान करता है। पुत्रों में कुछ औषध पान कर लेते हैं और कुछ हठ वश औषध लेना स्वीकार नहीं करते। तब वंश वहां से चला जाता है। पुत्र अपने को असहाय पाकर औषध सेवन करने लगते हैं तब पिता उन को बार-बार देखने आता है और इस प्रकार उन्हें रोग से मुक्त करने की चेष्टा करता है। यही दशा बुद्ध की भी है। बुद्ध अपने भक्त पुत्रों को सुबुद्धि प्रदान करने के लिये निर्वाण में गये हुए से प्रतीत होने लगते हैं किन्तु पुनः पुनः उपदेश देने के लिये मृत्यु लोक में आया करते हैं। उन का मृत्यु-लोक में अवतीर्ण होने का मन्तव्य होता है—“सद्धर्म की महती वृष्टि करना, सद्धर्म का ढोल पीटना, सद्धर्म की मंत्री ध्वजा फहराना, सद्धर्म का महान् प्रकाश विकीर्ण करना.....” इत्यादि। “जो व्यक्ति बुद्ध का उपदेश सुनता है, जो व्यक्ति किसी प्रकार का धर्माचरण करता है, जो व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करता है वह बुद्ध पदवी को प्राप्त हो जाता है। साथ ही जो व्यक्ति चिन्हों की पूजा करता है, जो स्तूप बनवाता है, जो किसी प्रकार की बुद्ध की रत्न, पाषाण अथवा काष्ठ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करता है, बच्चे भी यदि वे त्रीडा में धूलि के स्तूप बनाते हैं या भित्तियों पर बुद्ध की मूर्तियां बनाते हैं, जो व्यक्ति बुद्ध स्तूपों पर पुष्प अथवा सुगंधित द्रव्य चढ़ाते हैं या उन के सामने नृत्य गान करते हैं अथवा जो एक बार भी संयोगवश भी बुद्ध का आदरपूर्वक स्मरण करते हैं वे समस्त व्यक्ति निर्वाण पद को प्राप्त होकर बुद्ध बन जाते हैं।” शिष्य, अनेक बुद्ध और बोधिसत्व का भेद बाह्य भेद ही है आन्तरिक नहीं इस विषय में सद्धर्म पुण्डरीक में एक बड़ी ही रोचक कथा दी हुई है—“एक ही माता के कई पुत्र हैं। वे सब एक पुराने टूटे-फूटे मकान में रहते हैं। संयोगवश मकान में आग लग जाती है। द्वार एक ही है। पिता में इसनी शक्ति है कि वह अपनी गोद में लेकर पुत्रों को बाहर ले जा सकता है। परन्तु पुत्र अग्नि का भय न जानते हुए पिता के पास आते नहीं हैं किन्तु इधर-उधर खेलते

हुए धूमते-फिरते हैं, पिता उन को खिलौनों के भिन्न-भिन्न प्रलोभन देता है। किसी को बेल गाड़ी, किसी को घोड़ा गाड़ी, किसी को दूसरे प्रकार की गाड़ी देने का प्रलोभन देता और इस प्रकार इन खिलौनों के लोभ में बच्चे बाहर दौड़ आते हैं। पिता उन सबको एक एक प्रकार की बहुमूल्य गाड़ियां प्रदान कर देता है, बच्चे संतुष्ट हो जाते हैं। ठीक यही दशा बुद्ध की भी है। बुद्ध भी अपने तीन प्रकार के शिष्यों को एक ही प्रकार का निर्वाण दान करने हैं यद्यपि प्रलोभन भिन्न प्रकार के देते हैं। बुद्ध की लोकातीत शक्ति का भी प्रतिरंजित वर्णन इन महायान सूत्रों में किया गया है। भगवद्गीता के कृष्ण की ही भांति हमें अनेक स्थानों पर बुद्ध के अनेक रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। सब कुछ वर्णन करने हुए भी बुद्ध की अनिर्वचनीयता शेष ही रह जाती है।

महायान शाखा में बुद्ध के त्रिकाय की कल्पना की गई है:—

(१) धर्मकाय—यही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है। इसमें न आदि है न अन्त है न परिवृत्ति है, न प्रकटीभाव ही है और न अन्तर्धान ही है।

(२) सम्भोगकाय—समयानुसार भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिये बुद्ध महापुरुष का सुन्दर स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस काया में बुद्ध के अनेक प्राचीन जन्मों में अधिगत गुणों का समवाय होता

(३) रूपकाय—सामान्यतः सर्वसाधारण के पथ-प्रदर्शन के लिये बुद्ध एक भौतिक स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार के रूपकाय असंख्य हैं जो कि अनेक लोकों का नेतृत्व करते हैं। गौतम बुद्ध इसी रूपकाय में हैं। इस त्रिकाय कल्पना ने सर्वसाधारण के सामने आराधना का एक विस्तृत क्षेत्र उपस्थित कर दिया। इस धर्म द्वारा सर्वसाधारण को एक बलवती और व्यापक प्रेरणा प्राप्त हुई। बुद्ध के साथ ही अनेक बोधि सत्त्वों की भी पूजा की जाने लगी।

महायान शाखा के अनुसार बुद्ध निर्वाण-पदवी पर स्वतः आरूढ़ नहीं हो जाते, किन्तु उनका यह व्रत है कि जब तक संसार के सभी प्राणी निर्वाण पदवी को प्राप्त नहीं हो जावेंगे, तब तक मैं स्वयं निर्वाण पदवी पर आरूढ़ नहीं हो सकता। बुद्ध कहते हैं—“मैंने यह व्रत अपने ऊपर ले लिया है। सभी प्राणी—नरक में रहने वाले प्राणी भी जो दण्डस्वरूप इन लोकों में भेजे गये हैं—मेरी कहणा के अधिकारी हैं। इन सभी प्राणियों का दुःख भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ, मैं इसे सहन करता हूँ, मैं इससे पीछे नहीं हटता हूँ, मैं इस पर कम्पायमान नहीं होता.....समस्त प्राणियों का भार मुझे वहन करना है, क्योंकि मैंने समस्त प्राणियों के उद्धार का व्रत लिया है। मैंने समस्त जीवित प्राणियों को जन्म, जीवा, रोग, मृत्यु, पुनर्जन्म के घने जंगल में होते हुए सुरक्षित रूप में निर्वाण पद तक ले जाने का व्रत लिया है। अतएव मैं समस्त प्राणियों का दुःख भार अपने ऊपर ले लेता हूँ। मैं अपने मोक्ष का विचार नहीं करता हूँ, किन्तु समस्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान का साम्राज्य प्रदान करना चाहता हूँ। मैं

समस्त प्राणियों का दुःख-भार अपने ऊपर लेता हूँ..... क्योंकि यह अधिक अच्छा है कि सभी प्राणियों के स्थान पर मैं ही दुःख-भार अपने ऊपर ले लूँ ।

..... मैं समस्त प्राणियों के लिये ही कष्ट अपने ऊपर ले लेता हूँ ।” इसीलिये बुद्ध त्रिकाय में स्थित हैं । धर्मकाय संसार में व्यापक है, सम्भोगकाय की सत्ता केवल स्वर्ग में है और तब तक स्थित रहेगी, जब तक विद्व के समस्त पदार्थ धर्मकाय में विलीन नहीं हो जावेंगे । रूपकाय का ही जगतीतल में आविर्भाव होता है ।

आगे चलकर महायान शाखा भी दो भागों में विभक्त हो गई—(१) मन्त्र-यान और (२) वज्रयान । मन्त्रयान में मन्त्रों द्वारा बुद्ध भगवान् की आराधना तथा भक्ति ही पर्याप्त मानी गई, जबकि वज्रयान वाले एक पग और आगे बढ़ गये । वज्रयान के अनुसार बुद्ध और बोधिसत्व की शक्ति ही रचना में कारण है । बुद्ध और बोधिसत्व पुरुष हैं और उनकी शक्ति स्त्री है । बुद्ध चैतन्यस्वरूप और निर्लेप हैं तथा उनकी शक्ति क्रियाशील है । बुद्ध (परमात्मा) तक पहुँचने के लिये देवियों (प्रकृति या शक्ति) का माध्यम अपनाना चाहिये । प्रपञ्च रचना दाम्पत्य संयोग और सुरत के द्वारा होती है । इसीलिए इन विचारों के विस्तार के साथ दाम्पत्य-संयोग तथा सुरत धर्म के प्रधान अंग बन गये और उनका उपदेश धर्म के रूप में दिया जाने लगा । हीनयान ने ध्यान और आत्मनिग्रह द्वारा व्यक्तित्व के ह्रास का उपदेश दिया था । महायान ने बुद्ध तथा बोधिसत्वों की कृपा के द्वारा मोक्ष प्राप्ति उसमें और जोड़ दी थी । नवीन सम्प्रदाय वज्रयान में मोक्ष प्राप्ति के लिये देवियों की उपासना तथा आंतरिक विधियों से उनका वशीकरण आवश्यक बतलाया गया । वज्र शब्द के अनेक अर्थ हैं । रत्न, इन्द्रायुध, शून्य, विज्ञान इत्यादि अनेक अर्थों के साथ वज्र का अर्थ पुरुष का लिंग भी है । यही अर्थ शाक्तों और वज्रयानियों की रहस्यात्मक प्रवृत्ति में कारण बना ।

वज्रयान शाखा वालों ने जिन देवियों की कल्पना की थी, उनमें प्रमुख थी, तारा अर्थात् तारने वाली । परमात्मा की शक्ति का आश्रय लेकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसीलिये इस शक्ति को तारा कहते हैं । निम्नकोटि की भी कतिपय देवियाँ हैं, जिनमें अधिकतर निम्न जाति की स्त्रियाँ ही हैं । इन देवियों को जिस साधना से वश्य किया जाता था, उसे तन्त्र (वश में करने वाला) कहते थे, इसी से तन्त्र विद्या का उदय हुआ । शक्ति धर्म के समान वज्रयानियों की भी साधना के चार अंग थे । इस प्रकार बौद्ध धर्म की शिक्षा इस काल तक आते-आते सर्वथा परिवर्तित हो गई थी ।

उपर बौद्ध धर्म के धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । जैन-धर्म की कथा इससे सर्वथा विपरीत थी । जैन धर्म का विस्तार ईसा की तीसरी शताब्दी पर्यन्त उत्तर से दक्षिण तक प्रायः समस्त भारत में हो

गया था। जैनियों ने अनेक बार राजाश्रय भी प्राप्त किया और कई राजा लोगों को स्वधर्म में दीक्षा भी दी। किन्तु जैन धर्म कभी भी सर्वसाधारण धर्म न तो बन ही सका और न जैन धर्म ने इस बात की चेष्टा ही की। वस्तुतः जैन धर्म व्यक्तिगत साधनापरायण धर्म है। इसमें उदाराशय आत्मसंयमी व्यक्तियों के लिये ही अवसर है और ऐसे व्यक्ति प्रत्येक काल में बने ही रहते हैं। यही कारण है कि अपने जन्म से लेकर आज तक जैन-धर्म सर्वदा ही बना रहा। किन्तु इसके अनुयायियों ने सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी। ये अपने सीमित क्षेत्र में ही सन्तुष्ट रहे। केवल इतना अवश्य हुआ कि जैनियों ने बौद्ध तथा हिन्दू-धर्म से होड़ लेने के लिए तीर्थकरों की प्रार्थना में स्तोत्र बनाये और अन्य देवी-देवताओं पर तीर्थकर का महत्त्व भी स्थापित किया। इसमें आगे बढ़कर इन साधकों ने तीर्थकरों की माधुर्योपासना के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझी। अतएव कृष्ण-सम्प्रदाय के विकास में इन महात्माओं का केवल इतना ही हाथ रहा कि ये भी हिन्दू धर्म की प्रतिद्वन्द्विता में खड़े हुए और इन्होंने भी तीर्थकरों की उपासना की ओर जनता को किमी-न-किसी रूप में आकृष्ट करने की चेष्टा अवश्य की। अतएव इस नवीन उत्थान में उनका योग नहीं के बराबर रहा है।

भारतीय धर्म साधना को प्रभावित करने वाला तीसरा धर्म था मुसलमान धर्म। मुसलमान बहुत पहले दक्षिण भारत में आ गये थे और वहाँ उनका पर्याप्त प्रसार हो गया था। दक्षिण के अनेक व्यक्तियों ने मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था। उत्तर भारत में भी सिन्ध, मुल्तान और पंजाब में मुसलमानों के राज्य स्थापित थे ही। गजनवी के वार्षिक आक्रमणों से इनका प्रायः समस्त उत्तर भारत में प्रसार हो गया। यद्यपि महमूद गजनवी ने भारत में राज्य स्थापित करने की चेष्टा नहीं की तथापि जहा-जहा उसने विजय प्राप्त की वहाँ-वहाँ स्वभावतः उसके कुछ अनुचर छूटते गये। जब दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है, तब आदान-प्रदान प्रायः अनिवार्य हो जाता है। फलतः मुसलमान धर्म ने भी नवीन धार्मिक आन्दोलन को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया और उसे प्रगति भी दी।

इस्लाम शब्द का अर्थ है—“ईश्वरेच्छा के प्रति आत्मसमर्पण तथा उससे उत्पन्न होने वाली शान्ति।” मुहम्मद साहब ने एक ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, जिसके अतिरिक्त न तो कोई देवता है और न कोई दूसरा पूजा के योग्य है। ईश्वर को अल्लाह कहा जाता है जिसका अर्थ है—“केवल एक श्रेष्ठतम देवी शक्ति।” मुहम्मद साहब का आदेश था—“केवल एक ही ईश्वर की सत्ता है, न तो कोई उसका सहचर है न सहयोगी। कोई भी दूसरा व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ पूजनीय है ही नहीं, केवल ईश्वर की पूजा करो।” इस्लाम धर्म का मूल सूत्र है—“ईश्वर के अतिरिक्त और कोई देवता नहीं है और मुहम्मद ईश्वर के दूत हैं।” हमें विश्व में

जो अनेकरूपता के दर्शन हो रहे हैं उसमें एकसूत्रता का अनुमन्धान परम आवश्यक है। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियों को दैवी एकता का सौन्दर्य समझाने के लिये एक मनोमोहक चित्र प्रदान करता है। ईश्वर एक है न तो उसकी समानता की कल्पना ही की जा सकती है और न उसकी समानता विद्यमान ही है। न उसका कोई प्रतिद्वन्दी है न सहचर। ईश्वर की एकता सत्ता की एकता की परिचायिका है। जीवन के सौन्दर्य, शक्ति तथा ज्ञान सब एक ही है और यह एकता ईश्वर की एकता में ही पर्यवसित होती है। अब प्रश्न उद्भूत होता है कि हम भव-सागर के प्राणी ईश्वरीय ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ? हम उसके निकट किस प्रकार पहुँच सकते हैं ? हम ईश्वर पर विश्वास किस प्रकार कर सकते हैं ? दृश्यमान जीवन का आध्यात्मिक चिन्तन ही ईश्वरीय ज्ञान का साधक होता है। प्रकृति, क्रिया कटाप तथा मानव जीवन के शक्तिमय आनन्द के चिन्तन से हमारे अन्तःकरणों में ईश्वर के कतिपय गुणों का स्फुरण हो जाता है। यही ईश्वरीय गुण ईश्वरीय ज्ञान के साधक होते हैं। ईश्वर का सर्व धान गुण जो हमारे हृदयों में स्फुटित होता है वह है उसकी दयालुता। मनुष्य जाति की संख्यातीत बढ़ी-चढ़ी आवश्यकतायें ही ईश्वर की दयालुता को सिद्ध करती हैं तथा उसका अनुभव सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है। पवित्रता ईश्वर का दूसरा गुण है। मनुष्य जाति की यातनाओं पर विचार करने से यह बात निश्चित रूप में सिद्ध हो जाती है कि ईश्वरीय नियमों की अवहेलना मानव जाति पर आपत्ति लाने वाली होती है। ईश्वर ने सद्धर्म के नियम बना दिये हैं, जिनके द्वारा उसकी कृष्णा बिना किसी भेद भाव के चारों ओर को विस्तारित होती है। यह कृष्णा सभी जातियों, सभी वर्गों और सभी प्राणियों के लिये एक समान होती है। किन्तु नियम की अवहेलना मानव को दण्ड की ओर ले जाने वाली होती है। मुहम्मद साहब ने ईश्वरीय दूत के रूप में इस सत्य मार्ग का दिग्दर्शन कराया है।

ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग है प्रार्थना और भक्ति। न तो महात्माओं की प्रार्थना करो, न मध्यवर्ती व्यक्तियों की और न पैगम्बरों की केवल ईश्वर की प्रार्थना करो। ईश्वर-प्रार्थना को ही सर्वोपरि मानकर समस्त दिन को प्रार्थना के आधार पर विभाजित कर दिया गया है, जिससे सांसारिकता मनुष्य को अधिक व्यथित न कर सके और समय-समय पर परमात्मा की प्रार्थना का ध्यान आता रहे। ईश्वर-उपासना के अग्र के रूप में ही व्रत, उपवास और तीर्थ यात्रा का भी महत्व पर्याप्त मात्रा में इस्लाम में स्थापित किया गया है। डा० ताराचन्द ने मुसलमान धर्म का परिचय इन शब्दों में दिया है—“मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का उपदेश दिया वह अत्यधिक साधारण था। इसमें कम-से-कम सिद्धान्त निरूपण और कर्म-काण्ड पर कम-से-कम बल दिया गया था, क्योंकि कुरान के अनुसार ईश्वर मनुष्य के भार को सरल और हल्का करना चाहता था। उसका प्रधान तत्त्व ईश्वर का एक होना है और

सबसे प्रधान कर्म-काण्ड दैनिक प्रार्थना है । व्रत-दान, तीर्थ-यात्रा और ईश्वर के पैगम्बर के रूप में मुहम्मद साहब पर विश्वास ये ही इस्लाम धर्म के प्रधान आधार-स्तम्भ हैं । ईश्वर के एकत्व के सिद्धान्त से बहु-देवोपासना तथा मूर्ति-संस्करण का सर्वथा प्रत्याख्यान हो गया । इस्लाम धर्म के उद्बोधन के प्रधान तत्त्व थे, परमात्मा की सार्वकालिक निकटता तथा उसकी सर्व-व्यापिनी शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव, ईश्वरेच्छा की प्रतिकूलता से उत्पन्न होने वाले भयानक परिणामों से भय, परमात्मा के लिये सर्वभावेन आत्मोत्तमर्ग का विचार और उसकी कृपा तथा अनुकम्पा पर परिपूर्ण निर्भरता ।

सामान्य रूप से इस्लाम धर्म का यही मूलतत्त्व था । हजरत मुहम्मद साहब ने अही कल्याण मार्ग प्रदर्शित किया था । किन्तु काल-क्रम से मुसलमान धर्म अनेक आखा भेदों में विभाजित हो गया । इनमें शिया लोगों का प्रमुख स्थान था । इन शिया लोगों में अनेक वर्ग ऐसे थे जो हिन्दू धर्म से बहुत अधिक साम्य रखते थे । वे गुलूब और तक्सीर में विश्वास करते थे । गुलूब गुणातिरेक को कहते हैं, जिससे मनुष्य ईश्वर हो सकता है और तक्सीर दोषों को कहते हैं, जिसके द्वारा ईश्वर भी मनुष्यता को प्राप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त कतिपय वर्गों में पुनर्जन्म (तमासुख) तथा अवतार (तस्वीह) जैसे सिद्धान्त भी माने जाने लगे । ये लोग इमाम की दिव्यरूपता को अंगीकार करते हैं और इनमें से कुछ ऐसे थे जो कुरान के प्रकट अर्थ को न स्वीकार कर रूपक के रूप में उसकी व्याख्या करते थे । इनके मन में प्रार्थना का अर्थ है, इमाम की प्रार्थना, जकात का अर्थ है इमाम के लिये दान और हज (तीर्थयात्रा) का अर्थ है इमाम के स्थानों के दर्शन । शिया लोगों के सभी वर्गों का एक तत्त्व यही है कि वे दैवी भावापन्न व्यक्ति की सत्ता कल्याण मार्ग के लिये अनिवार्य मानते हैं । इस सत्ता को इमाम के नाम से अभिहित करते हैं । अली तथा उनके पुत्र हसन तथा हुसेन की मृत्यु से इन लोगों का राजनीतिक नेतृत्व समाप्त हो गया था किन्तु उनका धार्मिक नेतृत्व अक्षुण्ण बना रहा है । अली तथा उनके उत्तराधिकारी इस्लाम के अनिवार्य नेता बन गये । इनमें प्रकाश विद्यमान था । अतः ये सर्वथा निर्दोष थे और दूषण इन में कभी आ ही नहीं सकता था । ये परमात्म-शक्ति से परिपूर्ण अवतार माने जाते थे । इन्हीं शिया लोगों में अब्द अल्लाह इब्ने मयूम द्वारा प्रवर्तित एक वर्ग आविर्भूत हुआ जो हिन्दू धर्म के समान ही ईश्वर को निर्गुण, निर्विकार, निराकार मानता था । इनके मत में वही निर्विकार ब्रह्म गृष्टि के पहले विद्यमान था और उसने अपनी इच्छा से ही एक दूसरी सगुण शक्ति संसार की रचना और नियन्त्रण के लिये उत्पन्न की । इस प्रकार ब्रह्म तथा ईश्वर की भावना इन लोगों में विद्यमान थी ।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग शिया सम्प्रदाय में एक प्रकार की अवतार-निष्ठा, पुनर्जन्म की

भावना और देवी शक्ति में मानवी भाव-प्राप्ति के प्रति आस्था विद्यमान थी। इस विचार धारा में हिन्दू विचार-धारा के बहुत से तत्त्व विद्यमान थे।

(ग) दार्शनिक स्थिति

वैदिक काल और जैन बौद्ध काल पर्यन्त उत्तर भारत धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक इत्यादि क्षेत्रों में समस्त भारत का नेतृत्व करता रहा किन्तु ८वीं शती के आस-पास यह नेतृत्व अकस्मात् परिवर्तित हो गया और इन समस्त क्षेत्रों में दक्षिण भारत का नेतृत्व समस्त भारत में स्वीकार कर लिया गया।

विक्रम की ८वीं शताब्दी में श्री शंकराचार्य जी का आविर्भाव मालावार में हुआ। उस समय दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समस्त धार्मिक जगत् अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के रूप में भक्ति की भूमिका प्रस्तुत की जा चुकी थी। किन्तु साम्प्रदायिक संघर्ष धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता जा रहा था। श्री शंकराचार्य जी ने उचित समय में रंगमंच पर अवतीर्ण हो कर समस्त मतवादों और सम्प्रदायों के एकीकरण के लिये अपना महत्त्वपूर्ण ब्रह्मवाद स्थापित किया। वैसे तो भेदमें अभेद दर्शन समस्त चिन्तन-धाराओं का मूल तत्त्व है तथापि भगवान् शंकर ने अभेद दर्शन की जो महत्त्वपूर्ण पराकाष्ठा ब्रह्मवाद के रूप में प्रतिष्ठित की है उसकी तुलना अन्यत्र विश्व में दुर्लभ है। “धार्मिक विचार-धारा से सर्वथा पृथक् केवल शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से ही विचार करने पर, श्री शंकराचार्य जी के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त भारतीय भूमि पर उत्पन्न सभी प्रकार की दार्शनिक चिन्तन-धाराओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक आनन्ददायक है। न तो वेदान्त का ही शंकर के सिद्धान्त से पृथग्भूत कोई सिद्धान्त और न वेदान्त के अतिरिक्त कोई भी दार्शनिक विचार अपनी शक्ति, गम्भीरता, सूक्ष्मता और विचारशीलता में शंकर की तुलना में खड़ा हो सका है।” शंकराचार्य जी ने एक ओर अद्वैत ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा कर ज्ञान के क्षेत्र में अभेद-वाद की स्थापना की दूसरी ओर अविद्या के क्षेत्र में आकर लौकिक दृष्टि में वैयक्तिक साधना का भी सर्वथा प्रत्याख्यान नहीं किया। एक ओर शंकर का ब्रह्मवाद व्यक्ति को सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर उस में असीमित ब्रह्मरूपता का आधान करता है और दूसरी ओर माया के व्यवधान से आभासित होने वाले चैतन्य में जीवत्व और ईश्वरत्व की स्थापना कर व्यक्तिगत साधना को महत्त्व प्रदान करता है।

ब्रह्म की अद्वैतता और जगत् की मायिकता ही शंकर के दर्शन का सार है। तुरीयावस्था में जीव और प्रकृति दोनों ही इहामय प्रतीत होने लगते हैं और उस समय सर्वथा अभेद तथा अद्वैत दृष्टि का आविर्भाव हो जाता है। बुद्धि-भेद सर्वथा तिरोहित हो जाता है। माया के आवरण में प्रतिभासित होने वाली समूहावलम्बना चैतन्य सत्ता ही ईश्वर की संज्ञा से अभिहित होती है। यह ईश्वर उपासना का

विषय भी हो सकता है और इसी आधार पर शंकर मतानुयायियों ने भी समय-समय पर विभिन्न देवताओं की उपासना की है तथा तन्निमित्तक स्तोत्रों की रचना की है किन्तु इस उपासना में दो दोष आते हैं—एक तो उपासना के लिये उपास्य-उपासक का तात्त्विक भेद अनिवार्य होता है जा कि अद्वैत मत में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि जिसको हम ईश्वर के नाम से अभिहित करते हैं वह भी तो वस्तुतः माया अथवा अविद्या से आवृत है। जब हमें उसकी अविद्या-जन्यता तथा अविद्या से आवृत होना प्रतीत ही होता रहता है तब उसके प्रति वास्तविक उपास्य बुद्धि को प्रश्रय प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी दशा में अद्वैत-वाद दार्शनिक दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी भक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं पड़ता इसी लिये अद्वैतवाद के प्रतिकूल वेदान्त सूत्र के दूसरे व्याख्याकारों और वैष्णव सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। इस काल के वेदान्त-सूत्रों के व्याख्याकारों में तीन प्रमुख हैं—रामानुज, माध्व और निम्बार्क। इन व्याख्याकारों ने भेदवाद को किसी न किसी रूप में तात्त्विकता प्रदान की।

रामानुज का लक्ष्य शंकर के विवर्तवाद और मायावाद का खंडन करना था। इनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उसे ईश्वर, पुष्पोत्तम इत्यादि अनेक नामों से पुकारा जाता है। विश्व की रचना, संरक्षण और विनाश उसी के क्रिया-कलाप हैं। रामानुज शून्य से विश्व की उत्पत्ति नहीं मानते। क्योंकि ऐसी दशा में विश्व के प्रतिभास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। रामानुज के परिणाम-वाद का सार यह है कि प्रारम्भ में ब्रह्म सर्वथा अद्वैत था। ब्रह्म से ही प्रकृति और जीव की उत्पत्ति हुई। प्रकृति और जीव दोनों सत्य हैं और ईश्वरेच्छा से प्रवृत्त होने वाले हैं। जीव नित्य, शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यस्वरूप और इन्द्रियातीत होता है तथा इसकी सत्ता ईश्वराधीन होती है। जीव ईश्वर को दो उपायों से प्राप्त कर सकता है—भक्ति के द्वारा तथा प्रपत्ति के द्वारा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लिये भक्ति का मार्ग है और शूद्रों के लिये प्रपत्ति का। भक्ति और प्रपत्ति का लक्ष्य है मोक्ष प्राप्त करना। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर के समीप्य का आनन्दानुभव करता है। इस अवस्था में जीव के अन्दर सृष्टि-रचना के अतिरिक्त समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ आ जाती हैं। जीव पांच प्रकार के माने जाते हैं।

- (१) निश्च—वे जीव होते हैं जो कभी संसार चक्र में पड़ते ही नहीं।
- (२) मुक्त—वे जीव होते हैं जो संसार के बन्धन को तोड़ कर ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं।
- (३) केवल—जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध कर जीवन-मरण के बन्धन से रहित हो जाते हैं।
- (४) मुमुक्षु—जो मुक्ति की इच्छा करते हैं और उनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। और,
- (५) बद्ध—जो संसार के सम्बन्ध में अब तक पड़े हुए हैं।

इस प्रकार रामानुज ने उच्च वर्णों की महत्ता स्वीकार करते हुए भी शूद्रों तथा अन्त्यजों के लिये भी प्रपत्ति के द्वारा मोक्ष मार्ग सुलभ बना दिया ।

वेदान्त सूत्रों के दूसरे प्रतिष्ठित भाष्यकार हैं आचार्य माध्व । इनका जन्म रामानुज के बाद में हुआ था । इन्होंने शंकर के अद्वैतवाद तथा मायावाद का खण्डन कर द्वैतवाद की स्थापना की । इन्होंने पांच प्रकार का भेद माना है जो सत्य है और जिसके ज्ञान होने से ही जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है । पांच भेदों के कारण ही संसार को प्रपंच कहते हैं । माध्व के मत में परमात्मा अनन्त गुणयुक्त है, प्रत्येक गुण असीम है । ईश्वर आठ प्रकार के कार्य करता है—सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, आवरण, बोधन, बन्धन और मोक्ष-लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न चेतन द्रव्य है । यह परमात्मा के आधीन रहती है और परमात्मा के संकेत पर उक्त आठ कर्मों का सम्पादन करती है । प्रकृति दो प्रकार की होती है—अजड़ तथा जड़ । अजड़ प्रकृति लक्ष्मीरूपा है जा भगवान् की पत्नी के रूप में है । सीता, रक्मिणी इत्यादि उसके रूप हैं । जड़ प्रकृति काल, त्रिगुण, महत् इत्यादि का कारण तथा इनसे भिन्न है । लक्ष्मी इत्यादि अधिष्ठात्री हैं । सृष्टि को रचना करने के लिये भगवान् इन्हे तीन गुण-नामक भागों में विभाजित करते हैं । इन्हीं से महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, इत्यादि की प्रपत्ति होती है । परमात्मा के अनुग्रह से जीव को ज्ञान मिलता है और भगवान् के अनन्त कल्याण समूह का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । फिर भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है । इसी प्रेम का नाम परमा भक्ति है । भगवान् के परम अनुग्रह में जा, परमात्मा के लोक तथा अपने स्वरूप में पहुँचता है तथा मध्यम और अधम अनुग्रह से स्वां इत्यादि को प्राप्त करता है । प्रकृति तथा अविद्या के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भगवान् की कृपा प्राप्त करना है ।

निम्बार्क या निम्बादित्य माध्व के समकालीन और रामानुज के परवर्ती थे । डाक्टर भण्डारकर ने इनका समय ११६२ दिया है । इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—वेदान्त-पारिजात-सौरभ तथा दश-श्लाकी । प्रथम पुस्तक ब्रह्म-सूत्रों पर भाष्य है तथा दूसरी पुस्तक में ज्ञेय पञ्चक का निरूपण किया गया है । इनका एक सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज भी प्रसिद्ध है, जिसमें २५१ श्लोक हैं । इनके मत में जीव ब्रह्म का भेद भी है और अभेद भी । ब्रह्म चित् और अचित् से भिन्न है, परन्तु दोनों ही तत्त्व ब्रह्मात्मक हैं । जिस प्रकार दीप और वृक्ष से रहित रहकर उनकी प्रभा तथा पत्र-कार्य नहीं कर सकते उसी प्रकार दोनों ही तत्त्व ब्रह्माश्रित ही रहते हैं । मुक्त अवस्था में जीव परस्पर मित्र रहते हुए भी ब्रह्म से अद्वैत हो जाते हैं । जीव ईश्वर से अविभाज्य तथा उसका अंश है । प्रकृति भी मकड़ी के जाले की भाँति ब्रह्म से अविभाज्य तथा तदंश ही है । इस प्रकार विभाग-सहिष्णु अविभाग ही ब्रह्म, जीव और प्रकृति का सम्बन्ध है । निम्बादित्य

के मत में तत्त्व के तीन भेद हैं—चित्, अचित् और ब्रह्म । ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अच्युत विभव से पूर्ण है । ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है । यह पराख्या, जीवाख्या तथा मायाख्या इन तीन शक्तियों से सम्बन्ध रखता है । वह स्वाधिष्ठित अपनी शक्ति को विक्षिप्त करके जगदाकार में अपनी आत्मा को परिणत करता है । इस मत में कृष्ण ही ब्रह्म हैं । कृष्ण की शक्ति अचिन्त्य तथा अनन्त है । वे ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों के आश्रय हैं । रमा, लक्ष्मी और भू उनके ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री हैं और गोपी तथा राधा उनके प्रेम तथा माधुर्य की । यही ब्रज के कृष्ण जो प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी शक्ति गोपियों से परिवेष्टित रहते हैं, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य हैं । चित् तत्त्व जीवात्मा है । यह देहादि अचित् पदार्थों से भिन्न ज्ञानस्वरूप होते हुए भी नित्य ज्ञाता और ज्ञान का आश्रय है । यह अणु परिमाण तथा कर्ता है । यह प्रत्येक शरीर में भिन्न है तथा जीवन, बन्धन और मुक्ति की योग्यता से मुक्त है । ईश्वर प्रेरक, जीव प्रेर्य, ईश्वर व्यापक जीव व्याप्य, ईश्वर अंशी तथा जीव अंश है । जीव दो प्रकार के होते हैं—बद्ध और मुक्त । मुक्त भी दो प्रकार के होते हैं—नित्य-मुक्त तथा साधन-मुक्त । देव मनुष्य आदि में अनादि कर्म रूपिणी माया से आबद्ध जीव बद्ध-जीव कहलाते हैं । मद्गुरु के बताये मार्ग का अनुसरण करने से भगवान् की अहैतुकी कृपा और प्रसाद प्राप्त होते हैं । फिर जीव भगवान् की कृपा के फलस्वरूप मोक्ष लाभ करता है । मुक्ति दो प्रकार की होती है—क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति । कर्मादि के द्वारा स्वर्गादि का भोग करते हुए कल्पान्त में जो सायुज्य लाभ होता है वह क्रम-मुक्ति कहलाती है और श्रवणादि भक्ति के आधार पर जो बन्धन-मुक्त हो जाते हैं वे सद्योमुक्ति के भागी होते हैं । जो सकाम भक्ति करते हैं उन्हें ऐश्वर्यानन्द-प्रधान मुक्ति मिलती है तथा जो निष्काम भक्ति करते हैं, उन्हें सेवानन्द-प्रधान मुक्ति प्राप्त होती है । भगवान् की अनादि अनन्त इच्छारूप शक्ति मुक्त जीवों के देह का संस्थान करती है । कर्मादि के बन्धन की अवस्था में जीव की नित्य देह आवृत्त रहती है । जब जीव भगवत्-कृपा से उसका सामीप्य प्राप्त करता है तभी वह अपने प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर अपने नित्य चित् देह को प्राप्त करता है । भगवत्-प्रसाद के द्वारा प्राप्त देह निर्विकार तथा भगवत्-सेवा के योग्य होती है । नित्य-मुक्त जीव सदैव भगवत् स्वरूप गुणादि का अनुभव करने वाले तथा स्वभावनः भगवदनुभावित होते हैं । गरुड, सनकादि नित्य-सिद्ध तथा नित्य-मुक्त जीव हैं । अचित् तत्त्व तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, अप्राकृत और काल । प्राकृत त्रिगुणात्मक हैं । कारण अवस्था में नित्य तथा कार्य-अवस्था में अनित्य है । महत् तत्त्व से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त विश्व प्राकृत तत्त्व का ही कार्य है । इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । भगवान् की अपेक्षा रखती है । सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के द्वारा प्रकृति आत्मा की देहेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि आदि के

रूप में परिणत होकर जीव का बन्धन करती है। प्रकृति का यह कार्य जीव के मोक्ष का प्रतिबन्धक है। अप्राकृत तत्त्व अचित् का शुद्ध अंश है। यह प्रकृति तथा काल से भिन्न है। नित्य विभूति, विष्णु-पद, परम-व्योम, परम-पद, ब्रह्म-लोक अप्राकृत तत्त्व के दूसरे नाम हैं। यह भगवान् के संकल्पमात्र से अनेक रूप लेने वाला है। भगवान् तथा उनके आश्रित नित्य-मुक्त जीवों के भोगों का उपकरण तथा उनके निवासस्थान के रूप में इस शुद्ध तत्त्व के अनेक रूप होते हैं। काल के प्रभाव से रहित होने के कारण यह परिणाम तथा विकार से भी रहित है। काल, जड़, तत्त्व, सृष्टि का सहकारी तथा प्राकृत सम्पूर्ण पदार्थों का नियामक है। काल सर्वदा भगवान् के आधीन है। यह तत्त्व नित्य तथा विभु है।

भगवान् की कृपा से ही दैन्यादि भाव की भक्ति उत्पन्न होती है। निर्भारक मत में भगवान् की कृपा का फल भगवान् की शरण का प्राप्त करना है। भगवान् की कृपा के बल से उनकी शरण मिलने के बाद भक्त भी भक्ति-रस का आस्वादन करता है। नवधा-भक्ति के अभ्यास से भगवान् के प्रति प्रेम या रति मिलती है। प्रेम-भक्ति पांच प्रकार की मानी गई है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्ज्वल भक्ति को ही इस सम्प्रदाय में प्रमुखता दी गई है तथा कृष्ण के साथ राधा की स्तुति की गई है।

इन व्याख्याकारों के अतिरिक्त दक्षिण के सन्तों और महात्माओं की एक बहुत बड़ी परम्परा है। वस्तुतः दक्षिण भारत में सातवीं शती से १२ वीं शती पर्यन्त दो प्रकार के महात्मा हुए—एक तो अडियार जिन्होंने शैव मत का प्रचार किया और दूसरे आल्वार जिन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार किया। इन्हीं लोगों के सतत प्रयत्न से दक्षिण में परवर्ती धार्मिक भावना का बीजारोपण हुआ। दक्षिण से ही भक्ति का प्रचार वृन्दावन, महाराष्ट्र, बंगाल, तथा समस्त उत्तर भारत में हुआ। बाद की कई शताब्दियों तक भारतीय काव्य-जगत् इन्हीं महात्माओं की विचार-धारा से अनुप्राणित रहा।

ऊपर जिन सामयिक परिस्थितियों का वर्णन किया गया है उनसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

(१) तृतीय चरण के प्रारम्भिक काल में भारत की राजनीतिक स्थिति अव्यवस्थित थी। देश के छोटे-छोटे राज्यों में एकसूत्रता तथा सहयोग का अभाव था और वैदेशिकों (मुसलमानों) का आतंक तथा प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

(२) संस्कृतियों के सम्पर्क से पारस्परिक आदान-प्रदान अनिवार्य हो गया था। साथ ही एक प्रगस्त मार्ग की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था जिसको दोनों सम्प्रदायवादी अंगीकृत कर सकें।

(३) धार्मिक साधना में सदाचार पालन के स्थान पर पूजा का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। बौद्ध धर्मानुयायी बुद्ध के उपदेशों को पालन करने के स्थान

पर भगवान् बुद्ध की पूजा में ही कर्णव्य की इतिश्री समझने लगे थे। महावीर स्वामी तथा जैनियों के दूसरे तीर्थकरों की भी उपासना प्रारम्भ हो गई थी।

(४) जनता में अनाचार का पूर्ण प्रसार हो चुका था। तन्त्रवाद के नाम पर अनेक दुराचारों को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था। ऐसे अवसर पर इस बात की आवश्यकता बनी हुई थी कि जनता की शृंगारिक भावना को भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख कर दिया जावे। भगवद् विषयक रति भाव के आस्वादन में तत्कालीन समाज के बहुत कुछ दुर्गुणों के दूर हो जाने की सम्भावना का अनुभव किया जा रहा था।

(५) शंकर के मायावाद और ब्रह्मवाद के प्रतिरोध के रूप में अनेक आचार्य उत्पन्न हो गये थे। इन आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर भक्ति का प्रतिपादन कर दिया था। विशेष रूप से कृष्णभक्ति के प्रसार की दिशा में इन आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था।

सामान्य विशेषताएं

इस काल में द्वितीय उत्थान काल की भांति नर-काव्य का ही प्राधान्य रहा। उसी प्रकार का आलम्बनोद्दीपनादि का चित्रण, वे ही अनुभाव, वे ही संचारी भाव और स्थायीभाव साहित्य जगत् में अखण्ड साम्राज्य स्थापित किये रहे। प्रकृति अब भी कवियों की दृष्टि से व्यवहित ही रही। अन्तर केवल इतना हुआ कि अभी तक कल्पित नायक-नायिकाओं के प्रसंग में शृंगार आदि रसों का चित्रण होता था, अब विशिष्ट आलम्बन उनके स्थान पर आरूढ़ हो गये। अभी तक प्राकृत काव्य लिखा जाता था अब दिव्य अथवा दिव्यादिव्य रूप में उसका परिणामन हो गया। इस काल पर सबसे अधिक प्रभाव श्रीमद्भागवत का रहा है। वैसे हमारे साहित्य में कृष्ण के अनेक रूप पाये जाते हैं। वेदों में कृष्ण ऋषि रूप में आते हैं। कौषीतकी ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् में घोर आंगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख वेद-वेदांग के ज्ञाता के रूप में हुआ है। महाभारत में कृष्ण बलवान् योद्धा अदम्य साहसी, निपुण राजनीतिज्ञ, कुशल वक्ता तथा महान् कर्मवीर के रूप में आये हैं। गीता में कृष्ण कुशल वक्ता के रूप में आते हैं और समस्त उपनिषदों का सार अर्जुन को अर्पित करते हैं। आगे चलकर भगवान् का यह लोक-रक्षण रूप समाप्त हो जाता है और उनका लोक-रंजन का रूप सामने आता है। हरिवंश पुराण में, जो कि महाभारत का ही परिशिष्ट है, कृष्ण के बाल चरित्र का प्रथम बार उल्लेख किया गया है और कृष्ण को गोपियों से सम्बद्ध किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण और श्रीमद्भागवत में कृष्ण की कथा विस्तार के साथ कही गई है। पद्म पुराण, वायु पुराण और वामन पुराण में भी कृष्ण की कथा आई है, किन्तु अत्यन्त संक्षेप में। इन पुराणों में महाभारत तथा गीता के कर्मवीर कृष्ण दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और भगवान् की प्रेम मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं। भगवान् की उपासना

रस रूप में की गई है और रसों में भी शृंगार रस ही प्रमुख है । असुरों के वध में अन्य रसों का संकेत मात्र दे दिया गया है ।

कृष्ण चरित्र का सर्वाधिक रमणीय और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्रण श्रीमद्-भागवत में किया गया है । इसमें राधा को छोड़कर कृष्ण चरित्र के सभी प्रेममय रूप विद्यमान हैं । प्रस्तुत काल पर श्रीमद्भागवत का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है । किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा का भागवत के कृष्ण से अविच्छिन्न और अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया । इस काल में हमें कृष्ण-साहित्य के दो रूप अधिगत होते हैं । कुछ कवि तो, जिनमें हमारे मूर्धन्य कवि जयदेव और विद्यापति भी हैं, सामान्य नायक-नायिका के रूप में कृष्ण का चित्रण करते हैं । नाम-मात्र से ही हम इसे कृष्ण-साहित्य में सन्निविष्ट कर सकते हैं अन्यथा इसकी योजना सामान्य नायक-नायिकाओं में भी पूर्ण सफलता के साथ की जा सकती है । दूसरे कवि कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं, जो कि सामान्य चरित्र से कृष्ण को सर्वथा पृथक् कर देती हैं । इस प्रकार के कवि भागवत के विभिन्न चरित्रों को लेकर मुक्तक रचना में प्रवृत्त हुआ करते थे । उन चरित्रों में प्रधानता गोचारण, चीर हरण, रास लीला और भ्रमर गीत की हुआ करती थी । कुछ कवियों का काव्य तो भागवत के अनुवाद के रूप में अवतीर्ण हुआ था । इनमें मंयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का पूर्ण तन्मयता के साथ चित्रण किया गया है । शृंगार रस के शास्त्रीय दृष्टि से सभी रूप कृष्ण चरित्र में मिल जाते हैं । स्वकीया और परकीया दोनों रूपों में गोपियों के दर्शन किये गये हैं । शृंगार रस के अतिरिक्त वात्सल्य का भी इन काव्यों में पूर्ण परिपाक हुआ है । माखन चोरी इत्यादि में इसी वात्सल्य के दर्शन होते हैं । राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण के प्रेम के अतिरिक्त मुक्तक काव्य के क्षेत्र में दूसरे आलम्बन भी प्रतिष्ठित हुए, जिनमें राम तथा शिव मुख्य हैं । किन्तु कृष्ण चरित्र की व्यापकता के सामने दूसरे चरित्र प्रभार न पा सके । जैसा कि बतलाया जा चुका है इस काल में व्यक्तित्व की उपासना का प्राधान्य बढ़ रहा था । वैष्णव धर्म के लिये यह मिद्धान्त विदेशी नहीं था । वासुदेवोपासना बहुत प्राचीन काल से भारत में चल रही थी और कृष्ण का गोप रूप भी ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था । गाथा मत्तशती की कनिष्य गाथायें कृष्ण-गोपी प्रेम के विषय में लिखी गई थी और कालिदास ने भी गोप वेष विष्णु का उल्लेख किया है । समय आने पर यही गोप रूप शृंगार रस के रूप में अपना लिया गया । इससे दो लाभ हुए । तान्त्रिक युग की घृणित चरित्रहीन परम्पराओं के स्थान पर एक ओर शुद्ध भक्ति का प्रचार हुआ और दूसरी ओर दुर्व्यसनों में ग्रामवत जन-समूह भगवद् भक्ति की ओर उन्मुख किया गया ।

इस क्षेत्र में अधिकतर महात्माओं के द्वारा ही कार्य हुआ । ये महात्मा किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे और निवृत्ति मार्ग के अनुयायी थे । भगवल्लीला विषयक

रचनार्थे गा-गा कर नृत्य करते थे जिम से सभी दर्शक गए मुग्ध हो जाते थे। इस परम्परा में परकीया प्रेम ही आदर्श प्रेम माना गया है क्योंकि प्रेम की जितनी तीव्रता परकीया प्रेम में होती है उतनी दूसरे प्रकार के प्रेम में नहीं। नारद भक्ति सूत्र में लिखा है “ब्रज गोपियों के समान भगवान् में समस्त आचारों का अर्पण कर देना और भगवान् के वियोग में परम व्याकुलता का अनुभव करना ही सच्ची भक्ति है। किन्तु इस अवस्था में भी भगवान् के माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति नहीं होनी चाहिये क्योंकि उस अवस्था में वह प्रेम जारों का जैमा हो जाता है।” यह भक्ति वास्तव में निवृत्तिपरक होती है क्योंकि—“इस में लोक और वेद के व्यापार का परित्याग हो जाता है, प्रियतम भगवान् में अनन्यता उत्पन्न हो जाती है और विरोधी विषयों में उदासीनता भी होती ही है अतः यह भक्ति कामनायुक्त नहीं हो सकती।” इस भक्ति परम्परा में सदाचार का भी माहात्म्य है। नारद भक्ति सूत्र में लिखा है—“दुस्संग का तो सर्वथा परित्याग कर ही देना चाहिये क्योंकि इस से काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश तथा सर्वनाश उत्पन्न होते हैं। ये काम-क्रोध इत्यादि यद्यपि तरंगों की भांति हृदयों में उठते हैं किन्तु धीरे-धीरे समुद्र बन जाते हैं।.....एकान्त सेवी, निस्त्रेगुण्य और योगक्षेम का त्याग करने वाला ही लोक बन्धन का उन्मूलन कर सकता है। जो व्यक्ति कर्म फलों का भी छोड़ देता है, कर्मों को भी छोड़ देता है, वेदों का भी परित्याग कर देता है, केवल भगवान् के प्रति अनुराग को धारण करता है वही व्यक्ति स्वयं भी तरता है और लोकों को भी तार देता है।” भक्ति सूत्रों में लिखा है कि भगवान् में सभी चरित्रों का अर्पित कर देना चाहिये और यदि काम-क्रोध इत्यादि करना हो तो भगवान् के प्रति ही करना चाहिये।

इन महात्मा कवियों का संदेश है कि भगवान् से किसी न किसी प्रकार का व्यक्तिगत संबन्ध अवश्य स्थापित कर लेना चाहिये। भगवान् की प्रेमरूपा भक्ति ११ प्रकार की बतलाई गई है जिस में भगवान् के साथ अनेक संबन्धों के स्थापित करने की ओर संकेत किया गया है। यह सम्बन्ध दास्य, सख्य, कान्तासक्ति या वात्सल्य रूप में कोई भी हो सकता है। सारांश यह है कि इस परम्परा में भगवान् की अनन्त लीलाओं में आनन्द लिया जाता है जिसका लीलाओं में आनन्द लेने के अतिरिक्त और उद्देश्य नहीं होता और न कोई फल ही होता है, सबसे बड़ा फल निर्वाण भी उन भक्त महात्माओं के लिये सर्वथा हेय ही होता है। काव्य जगत् में भगवान् की लीलाओं में आनन्द दोनों रूपों में प्राप्त होता है—कवि स्वयं भगवत्-प्रेम का आश्रय होकर आया है और विरह-वेदना का आलम्बन भगवान् को बनाया गया है तथा गोपियों को भी आश्रय मानकर भगवत्-प्रेम का वर्णन किया गया है।

इस काल की रचना मनोरंजन के लिये नहीं अपितु सिद्धान्तों का प्रचार

करने के लिये हुई है। वीर गाथा काल में ही धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे जो आगे चल कर पुष्पित और फलित हुए। सर्वप्रथम व्यापक प्रतिष्ठा कबीर ने प्राप्त की। कबीर की शिष्य-परम्परा ने हिन्दी को माध्यम बनाया और धीरे-धीरे हिन्दी सर्वविध विचारों के प्रचार के लिये उपयुक्त हो गई। यह राजनीतिक युग न था। धार्मिकता की प्रधानता थी। इस काल में धर्म को ही भावना या मनोविकार का साधन बनाया गया। भक्तिमूलक धार्मिक आन्दोलनों का नेतृत्व रामानन्द और वल्लभाचार्य तथा उनकी शिष्य-परम्परा ने किया। कबीर के वैष्णव होने में संदेह हो सकता है। उन पर सूफी मत की छाप बतलाई जाती है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय और सूफी मत दोनों में बहुत बातों में साम्य है। सम्भव है दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया हो। कबीर यद्यपि अवतार के विरोधी तथा निर्गुणवादी थे तथापि उनकी रचनायें वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। विद्यापति यद्यपि शैव थे तथापि उनकी रचनायें वैष्णव भक्तों का कण्ठ-हार हैं। चैतन्य महाप्रभु उनके पदों को गाते-गाते भक्ति विभोर हो जाते थे। उनका प्रभाव सूर पर ही नहीं चण्डी-दास जैसे अहिन्दी भाषियों पर भी लक्षित होता है। राम और कृष्ण काव्य-कारों ने काव्य कला को अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। एक ओर पूर्व में विद्यापति के ललित मनोरम पद, दूसरी ओर गिरिधर गोपाल की मतवाली मीरा के महस्थल को भी सुरभित कानन बना देने वाले गीत, सूर की लोकातीत कविता हिन्दी साहित्य की अपूर्व निधि हैं इस में संदेह नहीं। इस काल में धर्म तथा लौकिक रागात्मकता का इतना गहरा सम्बन्ध हो गया था कि दोनों को पृथक् कर सकना सर्वथा असंभव प्रतीत होता है। यही कारण है कि रीति काल के कवियों की शृंगार भावना में भी भक्तों को भगवद् भक्ति की गन्ध आती है। यहां पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि द्वितीय उत्थान काल की प्राकृत जन विषयक प्रवृत्ति के भी दर्शन यदा कदा इस काल में हो जाते हैं। प्रकृति फिर भी उपेक्षित ही रही। उसका उपादान प्रधानतया उद्दीपन रूप में ही हुआ। इस काल में दूसरे छन्दों की अपेक्षा गीत का प्राधान्य रहा और भाषाओं में ब्रज तथा अवधी अपनाई गई। नीचे बहुत ही संक्षेप में इस काल के प्रमुख कवियों का परिचय दिया जाता है।

इस काल के प्रमुख कवि

(अ) कृष्ण काव्य की बृहत्त्रयी

(१) जयदेव—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जयदेव के विषय में लिखा है—“जयदेव का अभिमान कि ‘श्रंगूर और ईल की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है’ बहुत सत्य है। इस मिठाई में न पुरानी होने का डर है न चीटों का डर है। निर्जन में, जंगल में, पहाड़ में जहां बैठने को बिछोना भी न हो वहां गीत गाविन्द सब आनन्द सामग्री देता है। जहां कोई मित्र, भक्त, प्रेमी न हो वहां यह सब कुछ बनकर साथ रहता है। जहां गीत गोविन्द है, वहीं वैष्णव गोष्ठी है, वहीं रसिक समाज है

वहीं वृन्दावन है, वहीं प्रेम सरोवर है, वहीं भाव समुद्र है, वहीं गोलोक है और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द है ।”

जयदेव का केवल एक ही काव्य है गीत गोविन्द । यह कलेवर तथा विस्तार की दृष्टि से बहुत बड़ा काव्य नहीं है । किन्तु इसका जितना प्रभाव हिन्दी वैष्णव साहित्य पर पड़ा है उतना किसी पुस्तक का प्रभाव नहीं पड़ा । इसमें १२ सर्ग हैं । सर्वप्रथम मंगलाचरण और प्रस्तावना तथा कवि परिचय के चार पद्य दिये गये हैं, फिर एक अष्टपदी और एक पद के द्वारा भगवान् के दश अवतारों का वर्णन है । इसके बाद एक अष्टपदी और एक पद्य के द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है । इतना अंश प्राक्कथन कहा जा सकता है । इसके बाद वास्तविक ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है । विरहोत्कण्ठिता राधा के सामने उद्यान-भ्रमण के अवसर पर एक गोपी वसन्त वर्णन करती है और दूर से भगवान् कृष्ण की रास-लीला दिखलाती है जिस में अनेक गोपियां अपनी प्रेममयी चेष्टाओं के साथ भगवान् कृष्ण से विहार कर रही हैं । यह देख कर राधा को ईर्ष्या होती है और वे रुष्ट होकर चली जाती हैं । यह जान कर कृष्ण भी वियोग-व्यथा से पीड़ित होकर अन्य गोपियों का साथ छोड़ कर यमुना तट पर एक कुंज में राधा के विषय में चिन्ता करने लगते हैं । इस के बाद दूती प्रयोग किया जाता है जो कि राधा से कृष्ण की विरहव्यथा का निवेदन करती है । इसी प्रकार राधा भी दूती प्रयोग करती हैं जो कि कृष्ण के सामने राधा की विरहव्यथा का निवेदन करती है । यहां पर हमें प्रोषितपतिका का अच्छा चित्रण प्राप्त होता है । सखी राधा की वियोग व्यथा से पीड़ित होकर कृष्ण को राधा के पास लाने की चेष्टा करती है । इसी समय चन्द्रोदय हो जाता है । कवि ने इस प्रसंग में वासकसज्जा, विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का अच्छा चित्रण किया है । कृष्ण के आगमन में विलम्ब देख कर राधा एकदम उत्पीड़ित हो जाती है । राधा मानिनी हैं, कृष्ण आकर उन्हें मनाने की चेष्टा करते हैं । राधा कलहान्तरिता हैं । सखिया उन्हें समझाती हैं । कृष्ण राधा को मना कर चले जाते हैं । रावि आ जाती है । सखी राधा को अभिसार के लिये प्रेरित करती है । इसके बाद राधा का प्रसाधन प्रारम्भ होता है । राधा की अभिलाषाओं का वर्णन आता है । सखी कृष्ण की उत्कण्ठा का वर्णन कर राधा को अभिसार की शीघ्रता के लिये प्रेरित करती है । इसके बाद अभिसार होता है । फिर स्वाधीनपतिका का वर्णन है । रति-श्रान्त भी कृष्ण से राधा अपने प्रसाधन की अभ्यर्थना करती है । इसके बाद संयोग शृंगार का वर्णन आता है । अन्त में गीतगोविन्द की प्रशंसा के साथ काव्य समाप्त हो जाता है ।

गीतगोविन्द का यही संक्षिप्त कथा-सार है । इतनी छोटी सी पुस्तक का साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि साहित्य की धारा ही बदल गई और काव्य में एक नवीन चेतना स्थायी रूप से घर कर गई । इसका सबसे बड़ा कारण

यह है कि इस पुस्तक में भाषा को छोड़कर और कुछ भी पुराना नहीं है। सभी कुछ मौलिक ही है। गीत शैली में सर्वप्रथम लिखने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। इसके पहले गीत नहीं लिखे गये थे। गीत परम्परा इन्हीं से प्रारम्भ होती है। दूसरी विशेषता है तुकबन्दी की। हिन्दी साहित्य में तुकबन्दी का जो अखण्ड साम्राज्य छाया है उस पर जयदेव की काव्य-कला की बहुत बड़ी छाप है। इनसे पहले तुकबन्दी किसी भी काव्य में नहीं बिखलाई देती और न पुराने आचार्यों ने इसका लक्षण ही लिखा है। अभी तक राधा प्रकाश में नहीं आयी थीं। यह जयदेव का ही प्रभाव था कि राधा-कृष्ण प्रेम का आदर्श केवल काव्य जगत् में ही नहीं हमारे समाज की नसों में भी समा गया। इसी प्रकार शताब्दियों से चली आती हुई मुक्तक-काव्य परम्परा को राधा-कृष्ण प्रेमपरक बना देने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। वैष्णव भक्ति का काव्य से संयोग करा देना भी जयदेव का ही काम था। इनके प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कृष्ण-काव्य के विषय में प्रबन्ध परम्परा ही समाप्त हो गई। भागवत के अनुवाद के नाम पर सूर सागर लिखने वाले महात्मा सूरदास ने भी अपनी रचना को जयदेव की शैली पर सर्वथा गीतात्मक तथा मुक्तक ही रखा है।

इस पुस्तक का गुम्फन बड़ा ही मनोहर तथा विवेकपूर्ण है। भावनाओं का चित्रण गीतों में किया गया है और प्रसंग-योजना तथा कथानक-निर्देश के लिये दूसरे पद्य काम में लाये गये हैं। कहीं-कहीं दूसरे पद्यों द्वारा गीत का सारांश भी व्यक्त कर दिया गया है। गीतों और पद्यों के संयोग से काव्य में नीरसता नहीं आने पाती है। इसकी जैसी ललित कोमल-कान्त पदावली अन्यत्र दुर्लभ है। पण्डितवर ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर ने लिखा है—“इस महाकाव्य गीत गोविन्द की रचना जैसी मधुर, कोमल और मनोहर है, उस प्रकार की दूसरी कविता संस्कृत साहित्य में अत्यन्त अल्प है। वरंच ऐसा ललित पद-विन्यास, श्रवण-मनोहर अनुप्रास-छटा तथा प्रसाद गुण और कहीं नहीं है।” जयदेव जी नितान्त करुण-हृदय और परम धार्मिक थे। भक्ति-विलसित महत्त्व छटा और अनुपम प्रीति व्यंजक उदार भाव ये दोनों उनके अन्तः-करण में निरन्तर प्रतिभासित होते थे।

जयदेव श्री रामादेवी और भोजदेव के पुत्र थे तथा उमापति, शरणा, गोवर्धन और धोयी कवि के साथ बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभा-पण्डित थे। इनका विवाह पद्मावती के साथ हुआ था। कहा जाता है कि इस कन्या के पिता को स्वप्न में भगवान् जगन्नाथ देव ने जयदेव के साथ पुत्री के विवाह करने का वरदान दिया था। जयदेव के विषय में अनेक किवदन्तियाँ प्रसिद्ध हो गयीं। इनके जन्म-स्थान पर प्रति वर्ष मेला लगता था। प्रताप रुद्रदेव ने आदेश दिया था कि उनके राज्य में केवल गीत गोविन्द ही गाया जावे। इस पर अनेक टीकायें तथा अनुवाद ग्रन्थ लिखे गये और यूरोप में सर विलियम जोंस की प्रति से इसका इतना

अधिक सम्मान हुआ जितना कि मेघदूत तथा शकुन्तला का गेटे ने किया था। इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक का प्रभाव केवल काव्य जगत् पर ही नहीं पड़ा अपितु तांत्रिक अनाचारों में फंसे हुए समाज को भी वैष्णव-भक्तिमय कर देने का श्रेय इसी पुस्तक को प्राप्त है। चैतन्य महाप्रभु इत्यादि भक्त गण आनन्द विभोर होकर इसके पद्यों को गाया करते थे और सर्वसाधारण पर इसका अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता था। जयदेव ने अपने काव्य की प्रशंसा में ठीक ही लिखा है कि—‘माध्वीक की (जयदेव की वाणी की तुलना प्राप्त करने की) चिन्ता उचित नहीं है। हे शक्कर ! तुम बड़ी कठोर हो, तुममें उतना माधुर्य कहां ? हे द्राक्षा ! तुम्हें अब कौन देखेगा ? हे अमृत ! जयदेव की वाणी के सामने तुम तो मर गये। हे दूध ! तुम्हारा रस तो जलमय है। जयदेव की वाणी समस्त शृंगार का सार तथा मंगलमय तत्व बिखेर रही है। अतएव हे पक्व आम्रफल ! तुम रोओ, चिल्लाओ और हे कान्ताधर ! तुम तुलना करने का साहस न करो।’

(२) विद्यापति—विसपी जिला दरभंगा के रहने वाले थे। ये शिवसिंह, लखियादेवी, विश्वासदेवी, नरसिंहदेवी तथा मिथिला के कई अन्य आश्रयदाताओं के संरक्षण में रहे थे। शिवसिंह ने इन्हें विसपी गांव तथा अभिनव जयदेव की उपाधि एक ताम्र पत्र द्वारा प्रदान की थी। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और इनकी लिखी हुई संस्कृत की ११ पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। मैथिली भाषा में इनके पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका रूपान्तर बंगाली में बहुत पाया जाता है। इनके पदों की महत्ता इसी से प्रकट है कि बंगाली लोग इन्हें अपनी ओर घसीटते हैं, हिन्दी वाले अपनी ओर और मैथिली वाले अपनी ओर। रसमयता के साथ चमत्कार का संयोग इतना सुन्दर और महत्वपूर्ण बन पड़ा है कि उसकी तुलना हिन्दी-साहित्य में दुर्लभ है। इनकी कविता में शृंगार रस का प्रस्फुटन बहुत ही स्पष्ट हुआ है। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भावों की स्पष्ट प्रतीति होती है। इनके काव्य में बीच-बीच में कृष्ण-विषयक ईश्वरीय अनुभूति नहीं होती, कि तु कृष्ण चञ्चल नायक और राधा चञ्चल नायिका के रूप में दिखाई गई है। इनकी दृष्टि में विश्व के समस्त शृंगार की प्रतिमूर्ति राधा और कृष्ण ही हैं। इनके प्रेम-चित्रण में वासना का रंग बहुत गहरा है। कृष्ण उन्मत्त नायक के रूप में सामने आते हैं और राधा मतवाली नायिका के समान। इनके काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने बाह्य जगत् का ही विशेष वर्णन किया है, अन्तर्जगत् का बहुत कम।

विद्यापति के पदों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—(१) शृंगारिक, (२) भक्ति-सम्बन्धी और (३) विविध विषयक। शृंगार रस के विभाव के रूप में राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ है और भक्ति के विभाव के रूप में शिव-पार्वती का। शृंगार रस का प्रारम्भ यौवन के बाद होता है। शैशव को हटाकर जब यौवन आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, तब शैशव सहसा पराजय स्वीकार नहीं

करता। इसीलिये विद्यापति की कविता में सर्वप्रथम शैशव और यौवन की सन्धि के दर्शन होते हैं। यौवन के आने पर किस प्रकार शारीरिक तथा बाह्य चेष्टा-सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यौवन राजा है। उसके आते ही कर्मचारियों को अपने-अपने स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है। शैशव शीघ्र नहीं हटता, किन्तु धीरे-धीरे उसे पराजित होना पड़ता है। फिर भी कुछ समय तक नायिका शैशव के प्रभाव से भूल कर ही बैठती है। इसके बाद तात्क्षण्य पूर्ण अधिकार कर लेता है, जिससे नायिका की शोभा बढ़ जाती है। विद्यापति ने यौवन-जन्म सौन्दर्य का बड़ा ही विस्तृत तथा रोचक वर्णन किया है। इस दिशा में इनकी उच्चकोटि की एक-एक कल्पनायें दर्शनीय हैं। दोनों स्तन ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो किसी देवता ने चकई-चकवा को भुजपाश में बांधकर रख दिया है कि कहीं उड़ न जायें। कवि ने सद्यःस्नाता का पर्याप्त वर्णन किया है। जब नायिका ने स्नान करने के बाद शरीर पोंछा तो ऐसा निर्मल हो गया जैसे सोने के कटोरी को किसी ने लौटकर रख दिया हो। जब स्तनों पर चन्दन लगा कर ऊपर से हार पहना तो ऐसी शोभा बढ़ गयी मानो भगवान् शंकर ने भस्म रमा ली हो और ऊपर से गंगा जी की धारा गिर रही हो।

धीरे-धीरे नायक नायिका के शरीर को देख लेता है। वायु के वेग से वस्त्र गिर जाता है और नायिक उसे उठा कर ठीक कर लेती है। इस बीच में जो दृश्य दिखलाई पड़ जाता है, कवि ने उसकी उपमा बिजली की चमल से दी है। नायक-नायिका की परस्पर देखा-देखी में बाह्य-सौन्दर्य की ही प्रधानता रहती है। इन प्रसंगों में कवि की एक-से-एक उच्चकोटि की कल्पना के दर्शन होते हैं। दूती की शिक्षा का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है। नायक-नायिका रात भर बिहार करते रहे हैं। प्रातःकाल हो गया है। नायक छोड़ना नहीं चाहता। नायिका समझाती है। इस प्रसंग में प्रातःकाल का अच्छा वर्णन बन पड़ा है। वसन्त का वर्णन भी मनोरम हुआ है। इसके अतिरिक्त त्रिरह-मान भी विद्यापति का महत्त्वपूर्ण विषय है। भावों तथा मनोदशाओं का वर्णन भी यत्र-तत्र सफलतापूर्वक किया गया है। भाव केवल कल्पित ही नहीं, किन्तु अनुभवसिद्ध भी हैं। विद्यापति वास्तव में शृंगारी कवि थे। यद्यपि एक-दो पद्यों में कृष्ण के लोकोत्तर रूप की ओर संकेत भी पाया जाता है और इन्होंने हरिहर का अभेद भी प्रतिपादित किया है, किन्तु यह शैव ही थे। राधा-कृष्ण को इन्होंने केवल शृंगार रस के विभाव के रूप में अपनाया था। कवि की सरसता और सहृदयता में किसी को संदेह ही नहीं हो सकता। नायक और नायिका के प्रेम को लेकर उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन करने में कवि सिद्धहस्त है। इनकी कवितायें पढ़ने वालों के मन में रस का संचार करती हैं। स्वभावोक्ति में तो ये अपना जोड़ नहीं रखते। अलंकारों का प्रयोग बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है। इनकी कविता में भी राधा-कृष्ण सामान्य नायक-नायिका ही बने रहे। कृष्ण के जीवन की विशेष घटनाओं का इन्होंने भी वर्णन नहीं किया।

(३) सूरदास—हिन्दी-मुक्तक-परम्परा ही नहीं समस्त हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य माने जाते हैं। इन्होंने जयदेव और विद्यापति के आदर्श पर गीत काव्य लिखा था। जयदेव और विद्यापति ने भगवान् के लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया था, जिसमें कृष्ण और राधा के नाम को छोड़कर कहीं भी उनकी परमात्मसत्ता के दर्शन नहीं होते और न कृष्ण के प्रेम में जीवन का सर्वांगीण वर्णन ही प्राप्त होता है। कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियों और घटनाओं का स्पर्श जयदेव और विद्यापति ने नहीं किया था। सूर काव्य की दो बहुत बड़ी विशेषतायें तथा मौलिकतायें हैं—एक तो इन्होंने कृष्ण के प्रेममय रूप का पूर्ण तथा सर्वांगीण चित्रण किया है, कृष्ण जीवन की विशिष्ट घटनाओं और परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की, दूसरे इन्होंने जयदेव या विद्यापति के समान केवल राधा-कृष्ण-प्रेम की प्रौढावस्था तथा परकीया रूप का वर्णन नहीं किया, अपितु बचपन से ही राधा-कृष्ण का साहचर्य दिखलाकर प्रेम का बड़ा मनोरम विकास दिखलाया है। साथ ही राधा-कृष्ण का विवाह करा का स्वकीयात्व की भी स्थापना कर दी है।

हिन्दी में कृष्ण-काव्य के विस्तार का बहुत बड़ा श्रेय आचार्य श्री वल्लभ को प्राप्त है। इनके पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर ही सूर इत्यादि कृष्ण-काव्यकारों ने भक्ति-रस की अमृतमयी स्रोतस्विनी बहाई है। शंकराचार्य जी ने भगवान् की निर्गुण सत्ता को सत्य और साकार सत्ता को मायिक तथा व्यावहारिक माना था। इसके प्रतिकूल आचार्य वल्लभ ने भगवान् की साकार सत्ता (कृष्ण रूप) को सत्य और निर्गुण को उसका आंशिक तिरोहित रूप कहा। श्री कृष्ण परब्रह्म हैं। पुरुषोत्तम कृष्ण में आनन्द की चरम अवस्थिति है और इनकी सभी लीलायें नित्य हैं। गोलोक में नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। वहां भगवान् की नित्य लीला होती है। भगवान् की इस नित्य लीला में प्रवेश करना ही जीव की सर्वोत्तम गति है। भगवान् अपने को जीवों के रूप में बिखराकर लीला किया करते हैं। प्रेम साधना द्वारा भगवान् की लीलाओं में आनन्द लेना और उसके द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना पुष्टि कहलाता है। इसी आधार पर वल्लभाचार्य के मिद्वान्त को पुष्टि मार्ग कहते हैं।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति के ११ भेद किये गये थे। इसी आधार पर ११ प्रकार की आसक्ति का वल्लभ-सम्प्रदाय में बिस्तृत विवेचन किया गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के समस्त कवि और विशेषरूप से सूरदास भक्ति के इसी विभाजन को लेकर चलते हैं। सूर के भ्रमर गीत में हमें गुणतादात्म्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम-विरहासक्ति के दर्शन होते हैं। बाल-कृष्ण में रूपासक्ति और वात्सल्यासक्ति के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार गोवर्धनधारण में पूजासक्ति, गोपिकाओं के परस्पर वचनों में स्मरणासक्ति, मुरली-स्तुति में दास्यासक्ति, गोधारण में सख्यासक्ति और गोपी-विहार तथा विरह-वर्णन में कान्तासक्ति के दर्शन होते हैं।

सूर-सागर का दशम-स्कन्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें श्री कृष्ण के प्रति माधुर्य और वात्सल्य भावों की व्यंजना बड़े ही मनोरम रूप में आ गई है। सूर के कृष्ण माधुर्य गौर प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। सर्वप्रथम कृष्ण का बालरूप हमारे सामने आता है। बच्चों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। घुटनों चलना, घर की देहरी को नाघ न पाना, तोतली भाषा में बात करना, मक्खन लेकर मणिखम्भ के प्रतिबिम्ब को खिलाना इत्यादि बच्चों की छोटी-छोटी बातों का बड़े ही मनो-वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया गया है। धीरे-धीरे कृष्ण बड़े होकर एक नटखट बालक के रूपमें तैयार होते हैं। क्रीड़ा क्षेत्र में जाते हैं। इसी प्रसंग में माखन चोरी के मनो-मोहक चित्र उपस्थित किये गये हैं भगवान् का सौन्दर्य सभी गोपियों के लिये आकर्षण केन्द्र है। उनके गोचारण से हम उन्हें मानव से भी आगे बढ़कर पशु-जगत् से सहानु-भूति स्थापित करते देखते हैं। उनकी रासलीला, दानलीला, मानलीला, चीरहरण इत्यादि में हमें शृंगाररस के अभूतपूर्व मधुर चित्र दृष्टिगत होते हैं। विप्रलम्भ शृंगार ही रसों में सबसे अधिक मधुर माना गया है और सूर-काव्य में विप्रलम्भ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है (भ्रमर गीत में प्रेम-साधना तथा मधुरा-भक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गई है।) इस प्रकार सूर में प्रेम-साधना का सर्वांगीण विकास देखा जाता है।

काव्य-कला की दृष्टि से सूर का स्थान बहुत ऊँचा है। कहा जाता है कि जिस विषय में सूर ने जो कुछ कह दिया है, उससे आगे बढ़कर और कुछ कहने का अवसर ही नहीं रहा। उनकी कविता का सबसे बड़ा गुण है माधुर्य। एक तो ब्रज भाषा यों ही मधुर मानी जाती है, फिर सूर की पद-योजना और गीति-शैली ने उसे और अधिक माधुर्य की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। उनकी कविता में हमें मानव के सच्चे उद्गार सुनाई देते हैं। उनके कहने का ढंग भी बहुत अच्छा है। जो कुछ वह कहते हैं, वही पर मानो कथन की समाप्ति हो जाती है। वाक्-चातुर्य भी उनमें उच्चकोटि का है। भ्रमर-गीत वाक्चातुर्य का अच्छा नमूना है। इनका काव्य-ज्ञान भी बहुत ऊँचा है। रस के सभी अंग, सभी प्रकार के संचारी-भाव इनकी कविता में पाये जाते हैं। अनुभावों का भी पर्याप्त विस्तार है। इनके अलंकारों के प्रयोग-विस्तार से इनकी कल्पना-शक्ति और चमत्कारिणी प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। काम की दोनों दशाओं का इनकी कविता में समावेश है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य सूर की रचना से कृतार्थ हो गया है और जब तक हिन्दी-साहित्य है सूर अपनी प्रतिभा के कारण सर्वथा उसके मूर्धन्य बने रहेंगे।

(आ) कृष्ण काव्य के दूसरे कवि

बल्लभाचार्य के बाद उनकी गद्दी पर आचार्य श्री विठ्ठलनाथ जी बैठे। इन्होंने बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर कविता करने वाले ८ कवियों को सम्मिलित कर अष्ट छाप की स्थापना की। इन में सूरदास जी प्रमुख थे। दूसरे थे

परमानन्द बास । ८४ वैष्णव की वार्ता के अनुसार ये कन्नोज के एक दरिद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे । ये स्वभाव से विरक्त थे । इन्होंने विवाह नहीं किया था । प्रारम्भ से ही कीर्तन करने वालों का मण्डल इनके यहां एकत्र रहा करता था । एक बार ये मकर स्नान करने प्रयाग गये और वहां वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आकर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये । ८४ वैष्णव की वार्ता के अनुसार इन्होंने सहस्रावधि पद लिखे थे । इनके पदों का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है । केवल कुछ फुटकल पद ही यत्र-तत्र भक्तों के मुख से सुनाई देते हैं । नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार इन्होंने दान लीला पर एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी थी पर इस का कोई पता नहीं चलता । परमानन्द के वल्लभ सम्प्रदायी पदों में भगवान् की बाल लीला के पद अधिक प्रसिद्ध हैं जिन में जन्माष्टमी, पालना, छठी, अन्नप्राशन, कन-छेदन, मृत्तिका भक्षण दान के पद इत्यादि अनेक विषय सम्मिलित हैं । इसी के साथ इनके स्फुट विषयो पर भी पद मिलते हैं । कांकरीली में एक परमानन्द सागर भी प्राप्त हुआ है जिस में भगवान् की अनेक प्रकार की लीला का वर्णन है ।

अष्ट छाप के तीसरे कवि हैं कुम्भनदास । ८४ वैष्णव की वार्ता के अनुसार ये गोवर्धन पर्वत के निकट रहते थे । इनका विवाह भी हुआ था और ७ पुत्र तथा पुत्र-वधुएं भी थी । ये खेती पर निर्वाह करते थे और निर्धनतामय जीवन व्यतीत करते थे । ये सर्वप्रथम वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आये थे । कहा जाता है कि एक बार अकबर ने अपने दरबार में इन्हें बुलवाया और इस पर इन्होंने यह पद गाया :—

सतन को कहा सीकरी सो काम ।

आवत जात पनंहियां टूटीं बिसरि गयो हरि नाम ।

जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन परी परनाम ॥

कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु यह सब झूठो धाम ॥

कुम्भनदास के पद वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलते हैं । इन के पदों का संग्रह विशेष रूप में कीर्तन संग्रह, राग सागरोद्भव, राग कल्पद्रुम और राग रत्नाकर में किया गया है । इन पदों में भी जन्माष्टमी, वधाई, पालना, इन्द्रमान-भंग, गोवर्धन पूजा, छाक, हिण्डोरा, राखी, धमार, होली, वसन्त, दधिमथन, खण्डिता, सखी वचन, सुरतान्त, स्वामिनी जू के प्रभु के प्रति हास्य वचन इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है

अष्ट-छाप के चौथे कवि कृष्णदास का जन्म गुजरात के एक गाँव में हुआ था । इनके माता पिता शूद्र थे । पर इनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी । कहते हैं कि पिता के असत्य आचरण के विरुद्ध बचपन में ही घर से निकल गये थे । प्रारम्भ में इनकी शिक्षा व्यवस्थित न हो सकी । किन्तु बाद में वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के बाद इनका ब्रज भाषा पर बड़ा अधिकार हो गया । नाभादास ने इनकी कविता को निर्दोष लिखा है । विट्ठलनाथ जी ने इनकी व्यावहारिक बुद्धि से प्रसन्न होकर

इन्हें सारा अधिकार सौंप दिया था। इन के नाम पर कई ग्रंथ प्रसिद्ध हैं पर वे उपलब्ध नहीं होते। इनके कुछ पद ही प्राप्त होते हैं जिन में जन्माष्टमी, बाल-लीला, राधा जी की बधाई, दान, मुरली, रास, पालना, कनछेदन, गोसाईं जी की बधाई, हिहोरा, शृंगार, शयन, इत्यादि के पद सम्मिलित हैं।

सूरदास को छोड़ कर अष्टछाप में नन्ददास का सर्वोच्च स्थान है। ये शुक्ल वंश के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इन के दीक्षा गुरु आचार्य विट्ठलनाथ थे। इनका अध्ययन गम्भीर था और ये अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। कुछ लोग इन्हें गोस्वामी तुलसीदास जी का भाई बतलाते हैं पर यह बात प्रमाणित नहीं है। कहा जाता है कि ये लौकिक प्रेम से भगवद्-भक्ति की ओर झुके थे। ये सूरदासके साथ भी रहे थे। इनके लगभग २२ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। प्रमुख ग्रन्थों में रास पंचाध्यायी एक प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध रचना है। इसके पदों में रास का वर्णन किया गया है। इन्होंने छन्दों में भी रास लीला लिखी है। इन के ग्रन्थों में विरहमंजरी, रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी तथा रूपमंजरी ये पांच मंजरियाँ प्रसिद्ध हैं इन ग्रंथों में विभिन्न विषयों पर सूक्तियों का संकलन किया गया है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक भ्रमरगीत है जिसमें उद्धव और गोपियों का बड़ा ही मनोरंजक संवाद दिया हुआ है। इन्होंने कुछ पद भी लिखे थे जिन में वल्लभ संप्रदाय के अन्य कवियों की भांति जन्माष्टमी, राधा जी की बधाई, दान लीला, मान लीला, बाल लीला रासलीला, हिंडोरा, गोचारण, धमार, कीर्तन इत्यादि अनेक विषयों पर पद लिखे गये थे। भक्तमाल में इनकी रचनाओं को दो भागों में बांटा गया है—रीति विषयक और भगवान् की लीला विषयक। उनकी रस मंजरी, नाममाला, अनेकार्थ मंजरी रूप मंजरी, ये ग्रंथ रस रीति से संबद्ध हैं, शेष कृष्ण लीला से। भक्ति की दृष्टि से रस रीति के ग्रंथों में उस रम-रीति का वर्णन है जिसका पालन नन्ददास ने अपने पदों में किया है और काव्य की दृष्टि से ये ग्रंथ नायक-नायिका भेद तथा भाषा की शक्ति से संबन्ध रखते हैं।

कुम्भनदास के कनिष्ठ पुत्र चतुर्भुजदास जी अष्टछाप के कवियों में एक हैं। भक्त होने के कारण पिता का इन पर सर्वाधिक प्रेम था। इन के दो विवाह हुए थे तथा एक पुत्र भी बतलाया जाता है। पर इन का मन गृहस्थी में नहीं लगता था। बचपन से ही ये गोसाईं विट्ठल नाथ के संपर्क में आ गये थे तथा उनकी सेवा में रत रहते थे। इन के नाम पर भक्तमाल, मिश्र-बन्धु विनोद तथा खोज रिपोर्ट में कई पुस्तकें लिखी हैं। किन्तु इस नाम के कई कवि हुए हैं। कीर्तन संग्रहों में छपे हुए इनके पदों के अतिरिक्त अन्य रचनायें प्रमाणित नहीं होती। इनके रचे हुए पदों में जन्माष्टमी, राधा जी की बधाई, दशहरा, गोवर्धन पूजा, श्याम घटा, छाक, पालना, बाल लीला, दान, रास, वसन्त, धमार, खण्डिता, मान छुड़ाना इत्यादि से संबद्ध १३७ पद उपलब्ध होते हैं। कुछ पद अप्रकाशित भी हैं जिनमें मानापनोदन, सुरतान्त युगल रस वर्णन, भ्रमर गीत इत्यादि विषयों का समावेश है।

अष्टछाप के एक अन्य कवि गोविन्द दास का जन्म भरतपुर के एक सनाढ्य परिवार में हुआ था। ये गृहस्थ थे। इनके एक पुत्र और एक पुत्री का उल्लेख मिलता है। ये बाद में अपनी बहन कानबाई के साथ निरक्त होकर गोवर्धन पर रहने लगे थे। वहीं ये भक्ति के पद बना कर गाते थे। इस कवि की किसी प्रमुख रचना का अभी तक अनुसन्धान नहीं किया जा सका है। केवल कतिपय कीर्तन तथा पद प्राप्त होते हैं जिन में अष्टछाप के सामान्य विषयों का समावेश किया गया है।

छीत स्वामी माथुर चौबे थे और गोवर्धन में कीर्तन करते थे। वार्ता के अनुसार ये वीरवल के पुरोहित थे। वार्ता में लिखा है कि वल्लभ संप्रदाय में आने से पहले ये मसखरा, लंपट और गुण्डा थे। नागरीदास ने इन्हें भगडालू प्रकृति का व्यक्ति लिखा है। वल्लभ संप्रदाय में आने पर ये उच्चकोटि के कवि और भक्त बन गये। इनके इन गुणों की प्रशंसा नाभादास और ध्रुवदास ने भी की है। कहते हैं कि ये एक बार विट्ठल नाथ से मसखरी करने गये थे, किन्तु विट्ठलनाथ जी का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये उनके भक्त बन गये। अष्टछाप के अन्य कवियों की भांति छीतस्वामी के ग्रंथों का भी पता नहीं चलता। केवल वल्लभ संप्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में इनके रचित पद पाये जाते हैं। मिश्र बन्धुओं ने अपने पास इनके ३४ पदों का एक संग्रह बतलाया है। इन पदों के सामान्य विषय जन्माष्टमी, गोसाईं जी की बधाई, आचार्य जी की बधाई, खण्डिता के पद, रास पालना, रास मल्हार, घमार, कलेऊ इत्यादि सम्मिलित हैं।

कृष्ण-भक्त कवियों में अष्टछाप के अतिरिक्त मीरा और रसखान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। मीरा जोधपुर के मेड़ता के राठौर रत्नसिंह की इकलौती बेटी थी। इनका जन्म चौकड़ी नामक ग्राम में हुआ था। इनका विवाह सं० १५७३ में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सीसोदिया कुल-भूषण भोजराज से हुआ था। कहा जाता है कि विवाह के १० वर्ष बाद मीरा के पति का देहान्त हो गया। किन्तु उन्हें पति-मृत्यु से रंच भी दुःख नहीं हुआ क्योंकि इनके हृदय में गिरधर गोपाल की प्रबल भक्ति जागृत हो गई थी। ये रात-दिन गिरधर गोपाल के ही प्रेम में लीन रहा करती थीं। धीरे-धीरे साधु संगति में आने लगीं। इनके घरवालों ने इन्हें साधु संगति से रोकने की बड़ी चेष्टा की किन्तु इनके हृदय में साधु संगति का ऐसा गहरा रंग चढ़ गया था कि इनका मन घर-गृहस्थी की ओर नहीं फिरा। इस विषय में इन्होंने तुलसी को पत्र लिखा और उनका उत्तर पाकर चित्तीड़ से मेड़ता चली गयीं। जब यहां भी मन न लगा तब वृन्दावन गयीं। वृन्दावन में कुछ दिन रहने के बाद द्वारका चली गयी और वहीं रणछोड़ जी के मन्दिर में जाकर मीरा भगवान् की मूर्ति में समा गयी।

मीरा का प्रेम माधुर्य भाव का है। इन्होंने भगवान् के प्रौढ युवा रूप का

वर्णन किया है, बाल रूप का नहीं। इनका भाव एक सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी का नहीं। कहा जाता है कि मीरा एक गोपी का ही अवतार थीं। इन्होंने कई पदों में अपने पूर्व जन्म के साथी का स्मरण किया है। माधुर्य भाव का प्रेम होने के कारण ही इनका ध्यान कृष्ण की बाल लीलाओं की ओर नहीं गया है। सूर की उत्कृष्ट बाल लीलाओं का मुख्य कारण उनका सख्य भाव ही है, जो वात्सल्य से सटा हुआ है। पत्नी अपने पति के बाल रूप में नहीं लीन हुआ करती। उसे उसका प्रौढ़ युवा रूप ही अच्छा लगता है। कृष्ण के नटवर प्रौढ़ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढ़ाया था। मीरा की कविता में भगवान् की रूप व्यंजना अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गई है। प्रेम का प्रारम्भ रूप के प्रति आकर्षण से ही है जो कि मीरा की रूप व्यंजना में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। रूप व्यंजना के बाद दूसरा नम्बर लीला विहार का आता है। मीरा में लीला विहार के हेतु वंशी तथा धेनु चराना ही मुख्य है। जयदेव, विद्यापति और सूरदास जैसे महा कवियों में जिस गोपी-कृष्ण या राधा-कृष्ण प्रेम तथा सम्भोग शृंगार का विशद वर्णन पाया जाता है वह मीरा में खोजने से भी न मिलेगा। कारण यह है मीरा का प्रेम सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है और कोई पत्नी अपने प्रियतम के परस्त्री-रमण की अप्रिय भावना को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकती। हां, विरह व्यथा से भुलमे हुए हृदय से एक-दो उपालम्भ अवश्य निकले हैं। ये कुल की कान और लोक लाज तो श्री गिरधर लाल के चरणों में बार ही चुकी थीं। स्त्री-सुलभ भाव-गोपन की भावना तो बनी ही रहेगी। जहां कहीं मिलन की हल्की सी व्यंजना है वहां भी प्रेम की प्रफुल्लता द्वारा ही प्रकट किया गया है आलिंगन इत्यादि उपकरणों द्वारा नहीं। सात्विक लक्षणों का भी कम उल्लेख मिलता है। रोमांच, वैवर्ण्य, प्रकम्प, प्रस्वेद इत्यादि के बहुत ही हल्के चित्र मिलते हैं। वैष्णव कवियों में गोपियों के विरहानल का वर्णन विशेष रूप से मिलता है और वे गोपियों की विरह वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। गोपियों की स्थिति में अपने को रख कर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव और व्यक्त करने में उन्हें कुछ सुगमता हो जाती है। किन्तु मीरा की भक्ति-साधना में गोपियां मध्यस्थ नहीं बनी हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपनी सारी आकांक्षा और अभिलाषा श्री-कृष्णार्पण कर दी है। मीरा ने कृष्ण को गोपी-वल्लभ या राधा-वल्लभ के रूप में नहीं अपितु गिरधर लाल और श्याम सुन्दर के रूप में स्मरण किया है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है व्यापक कम। उसमें न प्रकृति के साथ तन्मयता स्थापित करने की चिन्ता है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस स्त्री के विरह के समान है, जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिलकर अधरों पर चुम्बन का दाग छोड़कर सदा के लिये परदेश चला गया हो। जब-जब मेघ घिर आते हैं, बूँदें रिम-रिम बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुध हरी हो जाती है

और हृदय डावांडोल हो जाता है। फागुन में जब सखियां धमाचौकड़ी मचाने लगती हैं, रंग रलिया करने लगती हैं और प्रियतम के मिलने की तैयारी में लग जाती हैं, उस समय मीरा के हृदय में अपने परदेशी के लिये एक गहरी व्यथा उमड़ आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है, उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट ज्वलन्त उदाहरण है। मीरा के अधिक पद विरह-वेदना के ही हैं। विरह-वेदना में उनका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगत होता है। मेघों के गर्जन और मधुमास की छटा विशेष रूप से उद्दीपन के रूप में गिनाई गई है। सखियों की आनन्द केलि भी कष्टदायक हो जाती है। किन्तु यह भावना आनन्द विधायक है। श्रुधु धारा की तह में आनन्द की रेखायें स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। मीरा का प्रेम रहस्योन्मुख है। ये न तो कबीर की भांति ज्ञानी ही थीं और न जायसी की भांति कवि। ये एक मात्र प्रेम की पुजारिन थीं। उनकी प्रेमानुभूति में जायसी की भांति व्यापकता भले ही न हो निगूढ़ता कम नहीं थी। गोपियों के प्रेम में व्यापकता है, मीरा के प्रेम में गम्भीरता, गोपियां प्रेयसी हैं मीरा पत्नी, मीरा का प्रेम प्रेम है गोपियों का प्रेम रूपासक्ति।

रसखान का कृष्णभक्त कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगों का विचार है कि इनका जन्म पिल्हानी में हुआ था और इनका पुराना नाम सैयद मुहम्मद इब्राहीम था। प्रेम वाटिका के एक दोहे से ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध बादशाही घराने से था। कहा जाता है कि ये अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े विषयी तथा कामुक थे और भगवान् का चित्र देखकर इन्हें भगवान् की ओर आकर्षण हुआ था। प्रेम वाटिका के एक दोहे से ज्ञात होता है कि इनकी प्रेमिका मानिनी थी। अतएव उससे विरक्त हो, ये भगवान् की भक्ति में लीन हुए थे। “२५२ वैष्णवन की वाती” के अनुसार इनका प्रेम एक साहूकार के लड़के से था। बाद में विरक्त होकर ये भगवान् की ओर आकृष्ट हुए थे। इनकी दो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—प्रेम-वाटिका तथा सुजान-रसखान। प्रथम पुस्तक में दोहे हैं और दूसरी में कवित्त-सवैये। इनकी कविता में प्रेम टपकता है। यद्यपि ये वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे तथापि उस सम्प्रदाय की इनकी रचनायें नहीं हैं। इन्होंने भगवान् के बाल रूप का कहीं वर्णन नहीं किया है। रसखान ने मुरली-मनोहर की मधुर मुरली का शब्द अपने अन्तःकरण में नहीं किन्तु बाह्य श्रवणों से सुना था। उन्होंने वृन्दावन-विहारी की बांकी भांकी भौतिक चक्षुओं से देखी थी, केवल दिव्य चक्षुओं से नहीं। इनकी कविता में राधा कृष्ण प्रेम, मुरली के प्रति सपत्नी-भाव, सखी तथा दूती सम्बाद, रास और विलास तथा व्यंग्य और तानों का पर्याप्त वर्णन है। सखियों की कुब्जा के प्रति ईर्ष्या-भाव का भी पर्याप्त वर्णन है, इनकी भाषा बड़ी मनोहर तथा परिमार्जित है। भाव सच्चे तथा हृदयस्पर्शी हैं। मुसलमान होते हुए भी रसखान ने भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम की जो व्यंजना की है वह हिन्दी साहित्य की अमर सम्पत्ति है इसमें संदेह नहीं।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के द्वारा भी कृष्ण भक्ति का पर्याप्त विस्तार हुआ । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे हितहरिवंश । कहते हैं कि राधा ने स्वप्न में इनको नया सम्प्रदाय चलाने का आदेश दिया था । ये तथा इन की शिष्य परम्परा के अनेक कवि कृष्ण काव्य रचना में प्रवृत्त हुए और इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया । इनके शिष्यों में ध्रुवदास का विशेष महत्त्व है ।

मुक्तक काव्य परम्परा की अमरनिधि इसी कृष्ण काव्य में सुरक्षित है । हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, उच्च वर्ण के हिन्दू तथा शूद्र और अछूत सभी प्रकार के व्यक्तियों ने इस काव्य धारा को कृतार्थ किया था । इस काव्य धारा की महत्ता से आकृष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदास को भी कृष्ण गीतावली लिखनी पड़ी । रहीम, केशव, गंग इत्यादि हिन्दी के उच्चकोटि के कवियों ने सामान्य शृंगार धारा के साथ कृष्ण काव्य का भी स्थान-स्थान पर समावेश किया था । किन्तु इन्हें हम भक्त कवियों तथा महात्माओं में स्थान नहीं दे सकते । कारण यह है इन कवियों की कवितायें भक्ति भावना से प्रवृत्त नहीं हुई थीं अपितु परम्परा निर्वाह मात्र के उद्देश्य से लिखी गयी थीं । इस काव्य धारा के अन्य प्रमुख कवियों में सूरजदास, मदन-मोहन, 'युगल शतक' के लेखक श्री भट्ट, स्वामी हरिदास जी, गदाधर भट्ट, गोविन्द दास इत्यादि का नाम लिया जा सकता है ।

(इ) आलम्बनेतर विषयक काव्यकार

सगुण भक्ति धारा की दो प्रमुख धारायें राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रही हैं । इनमें राम-काव्य का माध्यम प्रबन्ध रहा और कृष्ण काव्य का मुक्तक । इसी प्रकार कवियों ने राम के लोक रक्षक रूप के दर्शन किये और कृष्ण के लोक रंजक रूप को अपनाया । जहां हमें कृष्ण के प्रसंग में कोमल और मधुर भावनाओं के दर्शन होते हैं तथा कृष्ण का प्रेममय रूप हमारे सामने आता है वहां राम का मर्यादा-पालक रूप ही काव्य का विषय बना है । किन्तु राम काव्य परम्परा में भी थोड़ी बहुत मुक्तक रचना हुई है । जहां गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रबन्ध-काव्य में प्रमुख स्थान है वहां उन्होंने सफल मुक्तक भी पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं । उनकी कृष्ण गीतावली का उल्लेख किया जा चुका है । राम के विषय में उन के रमात्मक मुक्तक संग्रह हैं राम गीतावली, राम लला नहछू और बरवै रामा-यण । यद्यपि इन ग्रन्थों का संकलन कथा सूत्र के आधार पर किया गया है तथापि ये हैं सब मुक्तक-रचनाओं के संकलन ही । गोस्वामी जी ने समय-समय पर जिन पद्यों या गीतों की रचना की उन्हीं को कथा सूत्र के आधार पर संकलित कर दिया । इसी कारण इन ग्रन्थों में कथा का संक्षिप्त संकेत मात्र पाया जाता है । रचना अव्यवस्थित है । परिमाण भी नियमित नहीं । कथा भाग भी उच्छिन्न सा ही है । अतएव ये ग्रन्थ मुक्तक संग्रह ही माने जाते हैं प्रबन्ध काव्य नहीं ।

गीतावली में गीतों का संकलन है और कवितावली में कवित्त तथा सवैय्यों

का । इस विषय में गोस्वामी जी ने अपने समय की प्रचलित परम्परा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व किया है । उस समय कृष्ण काव्यके प्रसंग में गीत लिखे जाते थे तथा उन में कोमल भावनाओं का चित्रण होता था और राज दरबारों में कवित्त-सवैया में प्रशस्तियां लिखी जाती थीं जिन में वीरता का वर्णन होता था । इसी आधार पर गीतावली में राम चरित्र के कोमल भावों का प्राधान्य है और कवितावली में कठोर भावों को प्रमुखता प्रदान की गई है ।

गीतावली में कृष्ण-काव्य का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है । कुछ गीत केवल नाम परिवर्तन के साथ सूर सागर से ज्यों के त्यों उठा कर रख दिये हैं । इस में राम की बाल लीला का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । यद्यपि होली, चांचर इत्यादि घटनायें राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप के अनुकूल नहीं पड़तीं फिर भी जान बूझ कर उनकी योजना चित्रकूट के वर्णन में तथा उत्तर कांड में की गयी है । बाल काण्ड में राम के सौन्दर्य वर्णन की प्रधानता है । प्रारम्भ में राम के बाल सौन्दर्य का वर्णन है और अन्त में जनकपुर की स्त्रियों का आकर्षण दिखलाया गया है । अयोध्या काण्ड में भी मार्ग में स्त्रियों का आकर्षण ही दिखलाया गया है अन्य वर्णन प्रायः उपेक्षित से हैं । कृष्ण काव्य में साम्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही चित्रकूट में चांचर और होला के वर्णनों की योजना की गई है । अरण्य काण्ड में कथा विस्तार की सर्वथा उपेक्षा है । केवल गीध और शवरी का विस्तृत वर्णन किया गया है । इस काण्ड में करुण रस का अच्छा परिपाक है । किष्किन्धा काण्ड में शृंगार, वीर, रौद्र तथा शान्त रसों को लेकर गीतों की रचना की गई है । सीता के वियोग शृंगार का अच्छा चित्रण है । वाटिका विध्वंस तथा लंका दहन की प्रधान घटनायें छोड़ दी गई हैं । लंका काण्ड में युद्ध का वर्णन बहुत कम है । लक्ष्मण के शक्ति लगने पर करुण रस का परिपाक हुआ है । उत्तर काण्ड में राम कथा के साथ राम का विलास, हिंडोला, नखशिख इत्यादि का वर्णन कृष्ण काव्य से प्रभावित है । गीतावली में कोमल रसों की ही प्रधानता है । इस में हमें तुलसी की मधुर अनुभूति तथा गीति काव्य के अनेक गुणों के दर्शन होते हैं ।

जिम प्रकार गीतावली में कोमल स्थल छाटे गये हैं उसी प्रकार कवितावली में कठोर स्थलों का पर्याप्त विस्तार है । इस में राम के ऐश्वर्य और शक्ति का ही प्रधानतया वर्णन किया गया है । किन्तु राम के सौन्दर्य का भी यथास्थान वर्णन कर दिया गया है । राम के बाल रूप तथा वन गमन में मार्ग के वर्णन में शृंगार तथा कोमल रसों का भी वर्णन है । वीर, रौद्र भयानक, वीभत्स जैसे कठोर रसों के अनुकूल प्रकारगों का अधिक विस्तार है । लंका दहन और युद्ध वर्णन इस सग्रह में पर्याप्त मात्रा में आये हैं । भयानक रस का भी इसमें अच्छा परिपाक है ।

रामलला नहछू में स्त्रियों के गाने के गीत हैं । इसका राम कथा से कम सामान्य वर-वर्णन में अधिक सम्बन्ध है । इस में नाइन, वारिन, मालिन इत्यादि का

शृंगार वर्णन किया गया है और राजा दशरथ का उनके प्रति आकर्षण दिखलाया गया है। ये सब मर्यादा के विपरीत हैं। तथापि विवाह इत्यादि में इतना वर्णन क्षम्य ही माना जाता है। बरवै रामायण में बरवै छन्दों में राम कथा कही गयी है। यह ग्रंथ स्फुट रचना के रूप में लिखा गया है। प्रबन्धात्मकता का ध्यान भी नहीं रखा गया है। राम जन्मादि का वर्णन ही नहीं है। बाल काण्ड में सीता सौन्दर्य तथा स्वयंवर का ही वर्णन किया गया है। उत्तर काण्ड में शान्त रस की रचनायें हैं। यदि उत्तर कांड को छोड़ दिया जाये तो सम्पूर्ण ग्रंथ अलंकार निरूपण की दृष्टि से लिखा हुआ ज्ञात होता है।

राम को आलम्बन मान कर मुक्तक रचना करने वाला कोई और प्रसिद्ध कवि दृष्टिगत नहीं होता। केवल नाभादास जी के कुछ पद प्राप्त हुए हैं, जिनका निर्देश आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में किया है। राम के अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म को भी प्रेम का आलम्बन बनाने वाले कबीर, दादू, नानक इत्यादि बहुत से सन्त कवि हुए हैं। किन्तु एक तो ये कवि प्रायः अशिक्षित थे तथा सत्संग के बल पर ही थोड़ा बहुत ज्ञानोपार्जन कर उपदेश देने लग गये थे। दूसरे बिहारी के समय तक पढ़ें-पढ़ें-पढ़ें उनकी परम्परा समाप्त प्रायः हो चुकी थी। इन कवियों की वाणी प्रायः अटपटी है और काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। निर्गुण को प्रेम का आलम्बन बनाना अशक्य भी है। यही कारण है कि बिहारी पर इनका प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ा। अतएव यहां पर उनका विवेचन प्रसंग-बाह्य समझ कर छोड़ दिया गया है।

(ई) पुरानी परम्परा के कवि

ऊपर जिन कवियों का उल्लेख किया गया है वे भक्त और महात्मा कवि थे तथा आराध्य देव की मधुर तथा कोमल लीलाओं में आनन्द लेते थे। किन्तु इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्हें महात्मा तथा भक्त कवि की सजा नहीं प्राप्त हो सकती; जो भक्ति के क्षेत्र से बाहर रह कर ही कविता करते थे। ये कवि हाल के समय में चली आती हुई उस परंपरा को जीवित रखे हुए थे जिस में कल्पित नायक-नायिका की प्रेमलीला का रसास्वादन किया जाता था, जिसमें वर्णित घटना भी कल्पित ही होती थी और जो किसी भी नायक और नायिका के विषय में लागू हो सकती थी। विशिष्ट आलम्बन और विशेष रूप में राधा-कृष्ण को लेकर रचना करने की उस समय की सामान्य प्रवृत्ति थी। अतएव ये कवि भी जहां-तहां राधा-कृष्ण का नाम निर्देश कर देते थे और कभी-कभी कृष्ण की विशिष्ट लीलाओं का भी वर्णन किया करते थे। तथापि इन्हें कृष्ण-भक्त कवियों का स्थान नहीं दिया जा सकता। कारण यह है कि एकतो कृष्ण संबंधी इन की रचना परिमाण में इतनी न्यून है कि इनको कृष्ण-भक्त कवियों में स्थान दिला ही नहीं सकती तथा परंपरा पालन का उपचारमात्र रह जाती है। दूसरे कृष्ण-भक्तों के क्षेत्र में आने के लिये

जिस साधनामय जीवन की आवश्यकता थी और जो त्याग-तपस्यामय जीवन कृष्ण-भक्त कवियों का था उसका इन में अत्यन्ताभाव है। यही कारण है कि इन कवियों को भक्त कवियों की कोटि में न रख कर आचार्य शुक्ल ने सामान्य भक्तिकाल के फुटकर कवियों की कोटि में रखा है। ऐसे कवियों में प्रमुख हैं गंग, रहीम, सेनापति और केशव।

(१) गंग अकबरी दरबार के कवि थे। उनका साहचर्य रहीम, वीरबल, मानसिंह इत्यादि से था। ये इकनौर जिला इटावा के रहने वाले ब्रह्म भट्ट थे। इनकी अकबर के दरबार में पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। कहा जाता है कि रहीम की प्रशंसा में इन्होंने एक छप्पय लिखा था जिस पर प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हें ३६ लाख रुपये का पारितोषिक दिया था। इसी प्रकार मानसिंह और वीरबल से भी ये पुरस्कृत हुए थे। इन्होंने अकबर के पुत्र और रहीम के दामाद दानियाल शाह की भी प्रशंसा की है। ये जहांगीर के समय तक जीवित रहे और अपने जीवनकाल में इन्होंने अनेक उत्थान-पतन देखे। एक राजा की आज्ञा में इन्हें हाथी के पैर से कुचलवाकर मार डाला गया था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट (सं० १९३२-३४) में गंग रचित तीन पुस्तकों का उल्लेख किया गया है—गंग पदावली, गंग पचीसी और गंग रत्नावली। गंग पदावली में मात सौ इक्कीस पद्य बतलाये जाते हैं और गंग रत्नावली में १४सौ। इसके अतिरिक्त याज्ञिक संग्रहालय में भी गंग के कुछ पद्य सुरक्षित हैं। किन्तु अभी तक इनका कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है।

गंग ने विभिन्न विषयों में कविता की है—भक्ति भावना, राम कृष्ण महिमा, गंगा यमुना वर्णन, भक्ति भाव की अनन्यता तथा व्यग्रता इनके छन्दों के विषय हैं। किन्तु कवि का विशेष रूप में प्रिय विषय शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष हैं। कवि ने शृंगार के अन्तर्गत नख-शिख वर्णन स्वतन्त्र रूप में किया है जो सर्वथा स्वतन्त्र है और उस पर मूर के समान न तो भगवद्-भक्ति की छाप है न जायसी के समान रहस्य भावना ही व्यक्त की गई है। इनके प्रकृति वर्णन अधिकतर उद्दीपन रूप में हैं। इस प्रकार गंग की कविता स्वाभाविक, सुन्दर और चित्ताकर्षक है। कवि ने लाक्षणिक और व्यंग्यात्मक शैली को भी अपने काव्य में स्थान दिया है। कहीं-कहीं इन्होंने समस्या पूर्ति भी की है। इनमें अलंकारों का स्वाभाविक समावेश हुआ है। उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना-वैचित्र्य भी इनमें पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। संयोग-वियोग वर्णन में कहीं-कहीं राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण का भी उल्लेख कर दिया गया है।

(२) रहीम बैराम खां खानखाना के पुत्र थे। रहीम की ४ वर्ष की आयु में ही बैराम खां को एक पठान ने कत्ल कर दिया था। बाद में अकबर ने ही इनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। कहा जाता है कि इन्होंने ११ वर्ष की आयु से ही

ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर दी थी। अकबर ने अपनी धाय की पुत्री से इनका विवाह करा दिया था तथा अनेक प्रतिष्ठित पद प्रदान किये थे। ये बड़े वीर थे। इन्होंने अनेक किले जीते थे। रहीम की कार्यकुशलता, योग्यता और बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर अकबर ने इन्हें अजमेर की सूबेदारी और रणथम्भौर का किला प्रदान किया था। अकबर के बाद जहांगीर ने भी इनका वैसा ही सम्मान रखा। किन्तु अन्तिम समय में उत्तराधिकार के संघर्ष में इनका तूरजहां से मतभेद हो गया। तूरजहां अपने दामाद शाहजादा शहयार को बादशाह बनाना चाहती थी और इन्होंने खुर्रम (शाहजहां) का समर्थन किया था। इस पर रुष्ट होकर जहांगीर ने इन्हें अपदस्थ कर दिया। तब इन्हें बड़ी आर्थिक विपमता का सामना करना पड़ा। बाद में रहीम के क्षमा-प्रार्थना कर लेने पर इन्हें दुबारा खानखाना का पद दिया गया और कन्नौज की सूबेदारी भी प्रदान की गई। रहीम में बहुत बड़े गुण थे। वे बड़े बुद्धिमान् और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इन्हें अनेक भाषाओं तथा शास्त्रों का ज्ञान था। इन्होंने हिन्दू शास्त्रों का भी पर्याप्त मनन किया था। हिन्दी में अनेक कवियों ने इनकी दानशीलता, लोकप्रियता और काव्य-प्रेम का परिचय दिया है। इनके दान के पात्र सर्वदा हिन्दी के कवि ही थे। अतः हिन्दी के कवियों ने जैसी इनकी प्रशंसा की है वैसी फारसी कवियों ने नहीं की।

रहीम के कई सग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें रहिमत, विलास, रहिमत, विनोद, रहीम-कवितावली, रहीम-चन्द्रिका, रहीम-रत्नावली इत्यादि प्रमुख हैं। रहीम रत्नावली मायाशंकर याज्ञिक द्वारा संकलित की गई है और इसमें रहीम कृत सभी पुस्तकों का समावेश है। रहीम का बरवै नायिका भेद सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं उनमें मतिराम के दोहों भी सम्मिलित है जिससे इस पुस्तक में पूर्णता आ गई है। इसके अतिरिक्त रहीम के १०१ बरवै और पाये जाते हैं। यह रचना बरवै नायिका भेद से अधिक प्रौढ़ है। इनकी एक और पुस्तक मदनाष्टक है, जिसमें संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली में रचना की गई है। एक रचना नगर वर्णनपरक भी है जिसमें शृंगारिक भावना का परिचय मिलता है। इसमें अनेक जाति की कंथिन, जौहरिन, वारिन, रंगरेजिन इत्यादि का वर्णन है। सम्भव है इसके लिखने में कवि को मीना बाजार से प्रेरणा प्राप्त हुई हो। बरवै नायिका भेद में नायिका के स्वकीया, प्रोषितपतिका, उत्तमा, मध्यमा इत्यादि भेदों के साथ नायको के भेद भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इसमें स्वप्न इत्यादि दर्शन-भेद, मखी-कर्म, शिक्षा-उपात्तम्भ, परिहास इत्यादि का भी वर्णन सम्मिलित है। फुटकर छन्दों में शृंगार रस और विशेष कर विरह का वर्णन मिलता है। इस वियोग वर्णन पर बारहमासा की छाप प्रतीत होती है। इसमें विरहिणी की दीन दशा का सजीव चित्रण हुआ है। बरवै छन्दों में व्यक्त विरहकी भावना उत्कृष्ट कला की द्योतक है। मदनाष्टक पुस्तक में कृष्ण की मुरली का व्यापक प्रभाव, गोपियों की विह्वलता, कृष्ण के रूप सौन्दर्य द्वारा उद्दीप्त गोपियों की

तीव्र आकांक्षा का वर्णन किया गया है। यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत स्मृति संचारी के रूप में हुआ है। गोपियों का प्रेम कृष्ण के वंशीनाद, मधुर चाल, रूप माधुरी इत्यादि से उद्दीप्त हुआ है। इनके पदों में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मधुर भाषा में हुआ है। भाव और भाषा दोनों दृष्टिकोणों से ये पद सूर से मिलते हैं। कवित्त-सवैय्यों में भी कृष्ण के बाल रूप, गुण-कथन इत्यादि का वर्णन है और सोरठों में भी शृंगारिक वर्णन आया है।

(३) सेनापति के लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—काव्य कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर। काव्य कल्पद्रुम अभी प्रकाश में नहीं आया है। कवित्त रत्नाकर में पूर्ण छन्दों की संख्या ३६४ है पर कुछ में पुनरुक्ति है।

कवित्त-रत्नाकरकार ने रस ध्वनि को अपना लक्ष्य माना है, किन्तु पुस्तक पढ़ने से प्रतीत होता है कि कवि अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सका। अलंकारों की ओर कवि की विशेष प्रवृत्ति लक्षित होती है और चमत्कार-विधान ही कवि का मुख्य साध्य बन गया है; यहां तक कि कवि ने अपने पहले प्रकरण को श्लेष वर्णन की सज्ञा प्रदान की है। श्लेष का बहुतायत से प्रयोग किया गया है। इस पुस्तक में शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक तथा शान्त रस सम्बन्धी कविता दी गई है। स्वभावतः अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार का बाहुल्य है। शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका का वर्णन थोड़ा होते हुए भी सजीव है। कवि ने अपनी रुचि के अनुसार कतिपय नायिकायें चुन ली हैं और उन पर कवित्त लिखे हैं, जो थोड़े-बहुत अच्छे बन पड़े हैं। कवि ने क्रिया विदग्धा और वचन विदग्धा के उदाहरणों में व्यंजनाओं का अच्छा परिचय दिया है। पर सेनापति ने ऐसे अवसर पर श्लेष से काम चलाया है। श्लेष में कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। सेनापति ने परकीया का वर्णन अधिक किया है, पर स्वकीया का महत्त्व अक्षुण्ण रखा है। उद्दीपन विभाव के रूप में नख-शिख का वर्णन किया गया है किन्तु उनमें प्रचलित उपमानों का ही वर्णन पाया जाता है। सेनापति का ध्यान संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग शृंगार की ओर अधिक है। उनका विरह-वर्णन प्रधानतया प्रवासहेतुक और विरहहेतुक है। ईष्यहेतुक भी वियोग पाया जाता है। विरह वर्णन में अस्वाभाविक उक्तियां कम कवित्तों में पाई जाती हैं अधिकतर स्वाभाविक उक्तियां ही हैं। विरह के उद्दीपन के लिये ऋतु वर्णन से विशेष सहायता ली गई है। ऋतु वर्णन स्वतन्त्र रूप में भी किया गया है। विरह वर्णन में सचारियों का वर्णन अधिक नहीं है। राम कथा पर जो कवित्त लिखे गये हैं, उनमें वीर रस की प्रधानता है। सेनापति युद्ध वर्णन में इतने प्रवृत्त नहीं हुए हैं जितने तैयारी के वर्णन में। भयानक रस भी दो-तीन छन्दों में पाया जाता है।

(४) केशव पर संस्कृत साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव परिलक्षित होता है। केशव संस्कृत साहित्य के पंडित अवश्य थे। परन्तु जिस संस्कृत साहित्य का उन पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ा वह पिछले काल का था जबकि संस्कृत साहित्य के पतन

के दिन थे। भावों की वह गम्भीरता, हृदय की विशालता जो संस्कृत के पुराने कवियों में थी, इन पिछले कवियों में न रह गई थी। भाव-गम्भीरता के स्थान में शाब्दिक चमत्कार तथा अलंकार योजना के वैचित्र्य को महत्त्व दिया जाने लगा था। संस्कृत के साहित्य से तथा अपने आसपास की परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था। केशव की अपनी रुचि भी गम्भीरता की ओर उतनी न थी। वे स्वयं भी चमत्कार विधान को अधिक महत्त्व देते थे। केशव की भाव व्यंजना में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उन्होंने भाव को स्वशब्द-वाच्य बना दिया है। हास्य रस तथा बीभत्स रस इत्यादि में स्वशब्द-वाच्यता एक दोष माना जाता है। पर केशव ने इस बात का ध्यान नहीं रखा है। दूसरी बात यह है कि इन्होंने शृंगार को रसराज सिद्ध करने में सभी रसों का समावेश शृंगार रस में दिखला दिया है। कुछ रस तो शृंगार के विरोधी हैं और उनका साहचर्य भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन्होंने शृंगार के बड़े ही निम्न चित्र खींचे हैं। परकीया नायिका को शृंगार का आलम्बन बनाना एक दोष माना गया था। किन्तु इस दोष से बचने के लिये कृष्ण चरित्र में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। लौकिक तथा स्थूल दृष्टि से नायिका यद्यपि परकीया थी, किन्तु जीव ब्रह्म के पारमार्थिक प्रेम का प्रतीक होने के कारण-गोपी कृष्ण प्रेम दोष नहीं माना गया था। किन्तु केशव का राधा-कृष्ण प्रेम दोष की सीमा तक पहुँच जाता है। बलराम की वर्षगांठ के अवसर पर सभी स्त्रियाँ आमोदप्रमोद में लगी हुई हैं। उस समय राधा-कृष्ण के एकान्त विहार तो कोई बड़ी बात नहीं किन्तु जब गाँव में आग लगी हो, चारों ओर आहि-आहि मच रही हो उस समय कृष्ण का राधा को चम्पा की माला के समान हृदय में लगाना और स्वच्छन्द विहार करना केशव की ही समझ में समीचीन हो सकता है।

कही-कहीं पर भावाभिव्यक्ति उच्च कोटि की बन पड़ी है और कल्पनायें भी अच्छी हैं। इस से ज्ञात होता है कि इन्हें कवि-हृदय प्राप्त था। परन्तु ये व्यंजना अथवा ध्वनि को अच्छे काव्य का अंग नहीं मानते थे। इसी लिये हृदय के गम्भीर भावों के उद्घाटन तथा अभिव्यंजन की आवश्यकता उन्हें प्रतीत नहीं हुई। साहित्य में अलंकारों का महत्त्व अवश्य है पर जब वे इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि भावों को पैर टेकने का स्थान भी नहीं मिलता, तब वे काव्य को उच्च आसन से पतित कर देते हैं।

केशव ने बारहमासा, षड्ऋतु, समुद्र, पृथ्वी इत्यादि का भी वर्णन किया है। १२ महीनों का वर्णन आक्षेप अलंकार के उदाहरणों में किया गया है। प्रत्येक मास में कोई न कोई नायक परदेश जाने को उद्यत है। उसकी प्रेयसी उसे कोई न कोई बहाना बना कर रोकती है। केशव के अलंकारों में चाहे उतनी सहृदयता न मिलती हो परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उनकी सूझ व प्रतिभा विस्तृत तथा गम्भीर थी। एक-एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, संदेह और रूपक की लड़ी सी बांध देते थे। केशव का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण है इसमें संदेह नहीं।

उत्तम कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा में और भी अनेक कवि हुए हैं। अकबर का राज्य काल इस प्रकार के कवियों से भरा पूरा था। करणेश के करणा-भरण, श्रुति भूषण और भूप भूषण इसी काल की रचना हैं। नरहरि कवि ने भी अन्य विषयों के साथ रूख सौन्दर्य, गोपी विरह, राधा कृष्ण प्रेम इत्यादि विषयों पर कुछ पद्य लिखे थे। ब्रह्म कवि या राजा वीरबल का अकबर से सम्बन्ध प्रसिद्ध है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के छीतस्वामी का शिष्यत्व अंगीकार किया था। इनके रसात्मक पदों में बाल लीला, मान, संयोग-वियोग शृंगार, मुरली माधुर्य, राधा कृष्ण केलि, रास, कृष्ण प्रवास, गोपी विरह इत्यादि का वर्णन पाया जाता है। कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण भी किया गया है। इन्होंने इत्र, फुल्ल, आभूषण इत्यादि का पर्याप्त वर्णन किया है और इनकी रचनाओं में विपरीत रति का वर्णन पाया जाता है। इनकी ब्रज भाषा परिष्कृत है और भाव उच्च कोटि के हैं।

दूसरी और विदेशी परम्परा में भी साहित्य रचना हो रही थी। खड़ी बोली को उर्दू का नाम दे दिया गया था। उसमें भेदक तत्व अरबी फारसी के शब्दों का बहुत प्रयोग ही था। इसके अतिरिक्त काव्य में सारा वातावरण, सारे अप्रस्तुत विधान, और समस्त आदर्श विदेशी ही अपनाये गये थे। कविता में सभी पुराने विषय रखे जाने थे केवल रचना कौशल ही उसमें नवीनता का संचार करने वाला होता था। इस काव्य की विशेषतायें थीं—अत्युक्ति, रचना कौशल, विरोधात्मक, अनुप्रास इत्यादि का बहुल प्रयोग। इस कविता में शृंगार का पोषण, बीभत्स के द्वारा भी किया जाता था। प्रायः दिल के कतरे, खून, मांस इत्यादि का वर्णन होता था।

ऊपर रसात्मक मुक्तक परम्परा का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

(१) रसात्मक मुक्तक परम्परा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—प्रकृति काल, प्राकृत काल और भक्ति काल।

(२) इस परम्परा के प्रारम्भिक काल में प्रकृति पर मानव-भावनाओं का आरोप कर उसे रसास्वादन का विषय बनाया जाता था। ये भावनायें कोमल भी होनी थी और कठोर भी।

(३) वैदिक युग के अन्तिम चरण में मानव-भावनायें प्रत्यक्ष रूप में रस-निष्पत्ति का विषय बनने लगी थी। किन्तु प्रधानतया प्रकृति-काव्य की ही रही।

(४) धीरे-धीरे आलवन के रूप में प्रकृति-वर्णन तिरोहित हो गया और उसका उदात्त उद्दीपन अथवा अलंकार के रूप में रह गया।

(५) हान के समय से काव्य की दिशा बदल गई। प्राकृत-जनविषयक रस काव्य का प्रधान विषय बन गई। कल्पित नायक-नायिकाओं के कल्पित क्रिया-कलापों का वर्णन किया जाने लगा जो कि किसी भी व्यक्ति के विषय में घट सकता था।

(६) नायक, नायिका, दूती, सहायक, विभिन्न चेष्टायें, सहकारी भाव इत्यादि का एक निश्चित पद्धति पर वर्णन होने लगा जिसका विस्तृत विवेचन काव्य-शास्त्र में किया गया ।

(७) इस काल में कामसूत्रों के आधार पर भावनाओं के घात-प्रतिघात दिखलाये जाते थे ।

(८) ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त में धार्मिक संघर्ष तथा विदेशियों के प्रवेश के फलस्वरूप नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी । महापुरुषों के उपदेशों को पालन करने के स्थान पर उनके प्रति श्रद्धा रखने में ही जगत् अपनी इतिकर्तव्यता का अनुभव कर रहा था ।

(९) बौद्ध धर्म शाखाओं-प्रशाखाओं में बट गया था और सर्वसाधारण को स्वधर्म दोषा देने की भोंक में अनेक प्रकार के अनाचार समाज में प्रविष्ट हो गये थे ।

(१०) मुसलमान धर्म की प्रेम-साधना का भारतीय धर्म-साधना पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था ।

(११) दक्षिण के अनेक विद्वान् महात्माओं ने दार्शनिक पद्धति पर परमात्म-तत्त्व का विवेचन किया था और शंकर के मायावाद के प्रतिरोध के लिये अनेक संप्रदाय उठ खड़े हुए थे ।

(१२) रामानुज, माध्व और निम्बार्क ने किसी न किसी रूप में भेदवाद की स्थापना कर भक्ति मार्ग को प्रशस्त बना दिया था ।

(१३) परिस्थितियों के प्रसाद के रूप में कृष्ण-भक्ति का आविर्भाव हुआ था ।

(१४) कृष्ण-भक्ति शाखा के दो रूप पाये जाते हैं—कुछ कवि नाम मात्र को ही कृष्ण और राधा का नाम जोड़ देते थे । उनका शृंगार वर्णन सर्वसाधारण का ही शृंगार होता है । इसके प्रतिकूल कुछ कवि कृष्ण चरित्र को विशिष्ट परिस्थितियों का भी समावेश कर देते हैं ।

(१५) कृष्ण-काव्य के रूप में नायक-नायिका निरूपण चल पड़ा था । कृष्ण सौन्दर्य वर्णन में नख-शिख की परंपरा चल पड़ी । कृष्ण की रासलीला, होली, चांचर इत्यादि को लेकर ऋतु वर्णन तथा बारहमासा चल पड़ा । इस प्रकार कृष्ण काव्य के रूप में रीतिशास्त्र का परिशीलन प्रारम्भ हो गया था ।

(१६) कृष्ण के चरित्रों में बाललीला और किशोरलीला ही मुख्य हैं । अमर गीत तथा राम की प्रधानता है ।

(१७) कुछ कवियों ने कृष्ण की लीलाओं से आनन्द न लेकर उन्हें अपने प्रेम का आलंबन बनाया और भगवान् को अपने प्रियतम के रूप में देखा । मधुरा भक्ति के साथ वात्सल्य, सख्य, दास्य इत्यादि प्रकार की भक्ति भी की गई ।

(१८) कृष्ण-भक्ति पर पुष्टि मार्ग का विशेष प्रभाव पड़ा ।

(१६) राम भक्ति शाखा प्रबन्धात्मकता के अनुकूल ही रहा । इस में मुक्तक रचना अधिक नहीं हुई ।

(२०) निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति भी संप्रदाय विशेष की विशेषता रही । पर बिहारी के समय तक आते-आते उस का लोप हो गया था ।

(२१) कृष्ण भक्ति परंपरा के साथ ही पुरानी परंपरा में भी कविता होती रही । उसका अत्यन्ताभाव कभी नहीं हुआ ।

(२२) इस काल के शृंगारिक काव्य में अधिकतर आध्यात्मिकता का पुट पाया जाता है । दार्शनिकता प्रायः सर्वत्र दृष्टिगत होती है ।

(२३) दूसरी ओर मुगल दरबारों में उर्दू कविता को महत्त्व दिया जाता था जिसमें सारा वातावरण विदेशी था और अत्युक्ति तथा वियोग शृंगार के पोषण में बीभत्स का प्रयोग जिसके विशेष गुण थे ।

यही रसात्मक मुक्तक परंपरा का संक्षिप्त परिचय है ।

— — —

अध्याय—३

रसेतर मुक्तक

(१) धार्मिक मुक्तक

धार्मिक मुक्तक परम्परा का मूल स्रोत हमें ऋग्वेद में ही समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद में हमें दोनों प्रकार के धार्मिक मुक्तक प्राप्त होते हैं—स्तोत्र रूप में भी और सिद्धान्त प्रतिपादन सम्बन्धी भी। यास्क ने धार्मिक दृष्टि से वैदिक साहित्य को जो तीन भागों में विभक्त किया था भारतीय धार्मिक जगत् में यह परम्परा सदा अपना अधिकार बनाये रही और उनके प्रवृत्ति-निमित्त भी सर्वदा वही रहे जो यास्क ने स्थापित किये थे। परवर्ती स्तोत्रों में भी कहीं देवताओं की लोकोत्तर महत्ता, कहीं उनसे लौकिक तथा पारलौकिक सुख-भोग की याचना और कहीं आध्यात्मिकता दृष्टिगत होती है। वैदिक स्तोत्रों में जिस प्रकार प्रस्तुत देवता की महत्ता के प्रतिपादन में अन्य देवों के प्रति हीन भावना अभिव्यक्त की गई है और अन्य देवों को प्रस्तुत देव का वशवर्ती सिद्ध करने की चेष्टा की गई है तथा किसी अन्य देव के प्रस्तुत होने पर इस देव को भी साधारण कोटि में सन्निविष्ट कर दिया गया है^१ ये ही सब बातें हमें पौराणिक देवों के प्रति प्रयुक्त स्तोत्रों में भी दृष्टिगत होती हैं। महत्ता की स्थापना में एक बहुत बड़ा अन्तर यह पड़ गया कि इन पौराणिक स्तोत्रों में यथास्थान उन समस्त दार्शनिक विचारों की छाप पाई जाती है जिनका विकास कुछ तो वैदिक काल के परवर्ती युग में उपनिषत्साहित्य के प्रभाव से हुआ था और कुछ बाद में सूत्र ग्रन्थों की परम्परा के कारण इस विचारधारा ने प्रसार प्राप्त किया था। यह भी एक कारण था जिससे प्राकृतिक तत्वों से उद्भूत देवताओं का परित्याग कर तथा उन्हें गौण स्थान प्रदान कर उनसे उच्च कोटि के दूसरे देवों ने काव्य-जगत् में पदार्पण किया। उन देवों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश मुख्य हैं। इन समस्त देवों का तादात्म्य परमात्म-सत्ता अथवा परब्रह्म-सत्ता से स्थापित किया गया है। साथ ही सांख्य दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रकृति अथवा माया भी आराध्य देवों की श्रेणी में सन्निविष्ट हो गई। पहले तो शिव-शक्ति (शिव की अर्धांगिनी) के रूप में पूजी जाती थी किन्तु बाद में दुर्गा देवी के रूप में उसका स्वतन्त्र विकास हो गया। सांसारिक सुखभोग की

कामना से आराधक गए इसी शक्ति की उपासना करने लगे और इसका चित्रण परा मातृ-शक्ति, समस्त देवों की संगठित शक्ति तथा समस्त देवों को आश्रय देने वाली के रूप में होने लगा। तन्त्रविद्या का भी शक्ति-पूजा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। दूसरे पौराणिक देवों में गरुड, गंगा इत्यादि मुख्य हैं। जहां महत्ता प्रतिपादन की दिशा में आध्यात्मिकता का आरोप मुखर हो उठा था वहां याच्य वस्तुओं में मोक्ष प्राप्ति और परलोक हित मुख्य रूप से प्रतिष्ठित हो गए थे। अब साधक-गण अपने आराध्यों से केवल लौकिक सुख समृद्धि मात्र की आशंसा से ही सन्तुष्ट नहीं होते थे किन्तु आगे बढ़कर परलोक और मोक्ष की कामना करते थे। इन स्तोत्रों में प्रायः पाठ का फल स्तोत्रों के साथ ही दे दिया जाता था। कहीं-कहीं लौकिक और पारलौकिक सुखभोग के स्थान पर देवता की ओर प्रवृत्त करने मात्र की भी कामना प्रगट की गई है।

इन पौराणिक स्तोत्रों की संख्या गणनातीत है। बहुत से स्तोत्र प्रबन्ध के अंग के रूप में लिखे गये हैं और पौराणिक साहित्य में बिखरे पड़े हैं। दूसरे स्तोत्र मुक्तक काव्य के रूप में भी लिखे गये हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार इन स्तोत्रों का महत्त्व रसमय कविता की अपेक्षा कुछ घट कर है और अनेक स्तोत्रों के विषय में यह बात सत्य भी है। किसी-किसी स्तोत्र में देवताओं की केवल नामावली दे दी जाती है। किन्तु कुछ स्तोत्र वस्तुतः अच्छे हैं और उनमें काव्य-कौशल पर्याप्त रूप में अधिगत होता है।

ऊपर जिन पौराणिक स्तोत्रों की बात कही गई है उनके अतिरिक्त कुछ जैन-बौद्ध स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं। वस्तुतः जैन धर्म में न तो भक्ति को कोई स्थान प्राप्त हो सकता है और न इनमें स्तोत्र साहित्य का कोई अवसर है। प्रत्येक जीव विकास-क्रम से अपनी साधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह जिस प्रकार कर्म करने में स्वतन्त्र है उसी प्रकार फल भोगने में भी स्वतन्त्र ही है। “ईश्वर के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता देकर जीव को कर्म करने और फल भोगने दोनों में स्वतन्त्र बनाना जैन धर्म की अपनी विशेषता है।” न तो हमें सासारिक सुखभोग ही किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त हो सकता है और न कोई दूसरा व्यक्ति हमें मोक्षा ही प्रदान कर सकता है। अतएव किसी की स्तुति करना सर्वथा व्यर्थ है। किन्तु जैन साहित्य का परिशीलन करने वाला कोई भी व्यक्ति सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि जैन साहित्यकारों की दृष्टि साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति की ओर रही है। जैनियों की यह एक प्रधान चेष्टा रही है कि किसी भी व्यक्ति को साहित्य के किसी भी अंग का अध्ययन करने के लिये परमुखापेक्षी न होना पड़े। यही कारण है कि हमें कहानी, उपन्यास, पुराण, महाकाव्य, चम्पू, नाटक इत्यादि के सभी अंग जैन साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। सम्भवतः इसी मन्तव्य को लेकर जैन साहित्य में स्तोत्रों की रचना की गई है। एक बात और है। जैन-धर्म-प्रचार ही जैन साहित्य का मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त रहा है। ब्राह्मण-धर्मानुयायी जन-वर्ग में पौराणिक स्तोत्रों का बड़ा महत्त्व

था और अनेक फुटकर स्तोत्रों का प्रचार बढ़ रहा था। वहाँ भक्ति और स्तोत्र दोनों का पूरा अवसर था। साधारण जन इन स्तोत्रों को गा कर शान्ति लाभ करता था और उसे एक सहारा सा प्राप्त हो जाता था। जैन साहित्यकारों ने स्वमतानुयायियों को इस लाभ से वंचित रखना उचित नहीं समझा। इसीलिये जैन तीर्थङ्करों की प्रार्थना में अनेक स्तोत्रों की रचना की गई। दृढता के साथ कहा जा सकता है कि जैन धर्म में न तो समर्पण बुद्धि का कोई अवसर है न भक्ति का ही। जैन मत के अनुसार सभी प्रकार के लगाव समाप्त हो जाने चाहियें। संन्यासमग्नि में वैयक्तिक प्रेम जला दिया जाना चाहिये। किन्तु तर्क कितना ही प्रतिरोध क्यों न करे दुर्बल हृदय व्यक्ति तीर्थङ्करों के प्रति एक प्रकार की समर्पण-बुद्धि को विकसित करने के लिये बाध्य होता है एक साधारण जैन धर्मानुयायी को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उसकी नैतिक और धार्मिक अवस्था के अनुकूल एक व्यवस्था और एक परम्परा का विकास किया जाय। जब जैन धर्म अपनी जन्मभूमि (मगध) से बाहर फैलने लगा तब साधारण व्यक्ति के धार्मिक जोग को पूरा करने का प्रश्न अधिक आवश्यक हो गया। अन्यथा दूसरे धर्मों के उपासक जैन धर्म में परिवर्तित किये ही नहीं जा सकते थे। जिस प्रवृत्ति ने राम और कृष्ण परम्पराओं को जैन धर्म में सन्निविष्ट करने की ओर अग्रसर किया था उन्ही प्रवृत्ति के अनुसार स्तोत्र ग्रन्थों की रचना भी हुई। इन स्तोत्रों को हम प्रगीत मुक्तक कह सकते हैं।

सर्वप्रथम जैन साहित्यकारों की प्रवृत्ति प्राकृत में ही रचना करने की थी और ये लोग संस्कृत को सर्वदा ठुकराते रहे। किन्तु प्राकृत भाषा बोलचाल की भाषा थी। एक समय में उस भाषा के माध्यम के द्वारा जन-सम्पर्क अवश्य स्थापित किया जा सकता था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा परिवर्तनों और परिवर्धनों के फेर में पड़कर जनता का सम्पर्क खो देती है तथा विनाश की ओर अग्रसर होने के लिये बाध्य अवश्य होती है। इसीलिये ब्राह्मण धर्म के साहित्य की रचना संस्कृत में हुई थी जो स्थायी साहित्य के निर्माण के लिये एक अत्यन्त उपयुक्त भाषा थी। दूसरी बात यह भी थी कि संस्कृत सर्वसाधारण में पूज्य दृष्टि से देखी जाती थी और “संस्कृतं प्रमाणम्” की भावना बद्धमूल हो चली थी। इसके अतिरिक्त अनेक राज-दरबारों में आश्रय प्राप्त कर लेने के कारण संस्कृत का साहित्य भी नितान्त सम्पन्न हो गया था और प्रत्येक विषय में उसमें रचना भी पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। संस्कृत सारे देश में बोली जाती थी। अतएव जहाँ प्राकृत का साहित्य एक प्रदेश विशेष की सम्पत्ति हो सकता था वहाँ संस्कृत का उपयोग सारे देश में किया जा सकता था। सम्भवतः इन्हीं कारणों से जैनियों ने प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत का भी पल्ला पकड़ा। जहाँ अन्य विषयों के लिये संस्कृत अपनायी गई वहाँ इन स्तोत्रों की रचना भी अधिकतर संस्कृत में ही हुई है। किन्तु प्रादेशिक भाषाओं का भी पूर्ण बहिष्कार नहीं हुआ और संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी स्तोत्रों

की रचना होती रही। जैन धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी साहित्य-रचना प्रत्येक प्रादेशिक भाषा में हुई है !

जैन धर्म के स्तोत्र अधिकतर महावीर स्वामी की प्रशंसा में ही लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे तीर्थङ्करों और जैनाचार्यों की प्रशंसा में भी कुछ स्तोत्र अवश्य विद्यमान हैं। “कतिपय स्तोत्र केवल परम्परा निर्वाह के लिये ही लिखे गये हैं और कुछ इसके प्रतिकूल प्रगती मुक्तक-काव्य के रूप में प्रतिष्ठित और प्रशंसित होने के अधिकारी हैं।” कुछ स्तोत्र बहुत छोटे हैं और कुछ पर्याप्त विस्तृत हैं। स्तोत्रों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें जैन स्तोत्र-संग्रह, स्तोत्र-रत्नाकर, पञ्च-प्रतिक्रमणादि स्तोत्राणि अधिक प्रसिद्ध हैं।

जो बात जैन स्तोत्रों के विषय में कही गई है वही बात बौद्ध स्तोत्रों के विषय में भी कही जा सकती है। सर्व साधारण में धर्म-प्रसार के मन्तव्य से जैनियों और ब्राह्मणधर्मानुयायियों से होड़ लेकर बौद्ध साधकों ने भी अनेक स्तोत्रों की रचना की। कुछ स्तोत्र ललित विस्तर इत्यादि महान् प्रबन्धों में सन्निविष्ट हो गये और फुटकर स्तोत्रों के रूप में ही विद्यमान रहे। इसके लिये बौद्धोंने भगवती तारा नामक एक देवी की कल्पना की और तारा की प्रार्थना में अनेक स्तोत्र लिखे जिनमें ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म की पद्धति का अनुसरण कर तारा की महत्ता और शरणागत-वत्सलता का प्रतिपादन किया गया है। यहां पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणधर्मानुयायी स्तोत्रों में जैन तीर्थङ्करों और बौद्धों के देवताओं का उल्लेख नहीं मिलता जबकि जैन-बौद्ध स्तोत्रों में स्वच्छन्दतापूर्वक अपने आराध्यों से ब्राह्मण-धर्मावलम्बी देवी-देवताओं का कहीं-कहीं तादात्म्य और कहीं-कहीं अधिकता प्रतिपादित की गई है।

इस प्रकार इस समस्त स्तोत्र-साहित्य को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) पौराणिक स्तोत्र—इनमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश इत्यादि के स्तोत्र आते हैं और कहीं-कहीं पुरानी वैदिक परम्पराके भी कुछ अवशेष दृष्टिगत होते हैं। (२) जैन स्तोत्र—इनमें जैनियों के तीर्थङ्करों के प्रति लिखे हुए स्तोत्रों का समावेश होता है और (३) बौद्ध स्तोत्र—इनमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी स्तोत्र आते हैं। ये स्तोत्र संख्यातीत हैं। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से कतिपय प्रौढ स्तोत्रों का यहां पर परिचय दिया जाता है।

(क) पौराणिक स्तोत्र

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम हमारे सामने बाण भट्ट का चण्डी शतक आता है। बाण भट्ट कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष के सभा-रत्न थे। उनका जन्म वात्स्यायन वंश में विक्रम की सप्तम शताब्दी में हुआ था जैसा कि इनके हर्षचरित और ह्वैत्साग के यात्रा विवरणों से अवगत होता है। बाण भट्ट गद्य-काव्य के सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध हैं और अतिद्वयी कथा (कादम्बरी) के रचयिता भी यह प्रतिष्ठा सर्वथा उचित ही है किन्तु चण्डी-शतक में हमें कादम्बरीकार की कला के दर्शन नहीं होते।

न तो इसमें काव्य का अभिनिवेश है और न यह रचना बाण भट्ट की धार्मिक मनोवृत्ति की परिचायिका है। चण्डी शतक का भक्तों के हृदय पर प्रभाव भी नाम मात्र को ही पड़ता है। मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र की गुणरत्नचन्द्र लिखित टीका से ज्ञात होता है कि यह स्तोत्र मयूर के सूर्य शतक के अनुकरण पर बनाया गया था। कहा जाता है कि मयूर ने सूर्य शतक बनाकर कुष्ठरोग से निर्मुक्ति प्राप्त की थी। इस बात को देखकर बाण भट्ट ने अपने हाथ-पैर काट डाले और चण्डी स्तोत्र बनाकर अपने हाथ पैरों को वंसा ही बना लिया। इस कथानक का आशय यही है कि बाण भट्ट ने मयूर का अनुकरण कर चण्डी की महत्ता स्थापित करने के लिये इस स्तोत्र की रचना की थी। इस स्तोत्र में प्रधानतया चण्डी के महिषासुरवध को लेकर प्रशंसा की गई है तथा स्थान-स्थान पर इसमें रक्षा इत्यादि की प्रार्थना भी की गई है। यद्यपि हम इस स्तोत्र से बाण की भक्ति तथा धर्मानुराग से प्रभावित नहीं होते तथापि कही-कही पर कवि की कला के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। किन्तु अधिकतर पद्य काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। इसके उद्धरण शार्गधर पद्धति, सरस्वती कण्ठाभरण, वाग्भट-लिखित काव्यानुशासन और अर्जुन बर्मदेव लिखित अमरु शतक की टीका में समुपलब्ध होते हैं। इसमें अधिकतर देवों के निरस्त हो जाने पर पार्वती द्वारा महिषवध का वर्णन किया गया है। अनेक स्थानों पर देवों की गर्हणा भी की गई है और पार्वती द्वारा अनायास ही महिषवध का वर्णन किया गया है। इस प्रपंग में पृथक्-पृथक् अंगों का वर्णन किया गया है। पार्वती के वर्ण का यह कितना मुन्दर वर्णन है—“सर्व प्रथम सारे संसार को कल्पान्त काल से व्याकुल देखकर पार्वती का वर्ण काला पड़ गया, बाद में जब महिषासुर के विषाण का स्पर्श हुआ और उन्हें इस दैत्य का ज्ञान हुआ तब उनके शरीर का वर्ण क्रोध से लाल हो गया। जबकि महिषासुर को पैर से पीम दिया और वह जीवहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा तब अपने स्वाभाविक गौर वर्ण में आ गई। इस प्रकार काले, रक्त और श्वेत वर्ण को धारण करने वाली पार्वती जी अपने पति शंकर जी के नेत्रों की प्रतिमूर्ति सी प्रतीत हो रही थीं, वे पार्वती आप सब लोगों की रक्षा करें।”

स्तोत्र साहित्य में दूसरी पुस्तक मयूर का सूर्य शतक है। यह रचना बाण के चण्डी शतक की अपेक्षा अधिक सफल और काव्यात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कहा जाता है कि मयूर बाण के साले या श्वशुर थे। एक बार बाण की पत्नी ने असमय में इनके उपस्थित होने के कारण रस-भंग हो जाने से इन्हें शाप दे दिया था और ये कुष्ठी हो गये थे। इस कुष्ठ रोग से छुटकारा प्राप्त करने के लिये इन्होंने सूर्य शतक की रचना की और इन्हें कुष्ठ से निर्मुक्ति प्राप्त हुई थी। कुछ लोगों का कहना है कि सूर्य शतक महाराज हर्ष के पिता-पितामह की सूर्य-भक्ति के उपलक्ष्य में बनाया गया था। बाण के हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि हर्ष के पिता ने सूर्योपासना के फलस्वरूप ही राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री को प्राप्त

किया था। हर्ष स्वयं बौद्ध होते हुए भी सूर्य का उपासक था। इस स्तोत्र में कविता अच्छी है और कवि की भक्ति-भावना पर प्रकाश भी पड़ता है।

मयूर की प्रवृत्ति धार्मिक कविता लिखने की ओर ही थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि मयूर के नाम पर जो पद्य प्राप्त हुए हैं उनमें सर्वत्र धार्मिकता ही पाई जाती है। यदि कहीं शृंगारिक भावना का भी समावेश हुआ है तो वह भी विष्णु और लक्ष्मी अथवा शिव और पार्वती के नाम पर ही हुआ है। इस शतक में सूर्य के अश्व, रथ, मंडल इत्यादि का वर्णन किया गया है। सूर्य को मुक्तिदाता माना गया है और सूर्य की किरणों को मोक्ष मार्ग का यान कहा गया है। ये सूर्य भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकता के प्रतीक तथा विश्व के पोषक माने गये हैं और अरुण की तुलना नाटक के सूत्रधार से की गई है। मयूर कवि यमक तथा अनुप्रास के परम भक्त हैं। उपमा, रूपक तथा उच्च कोटि की अतिशयोक्ति इनके प्रिय अलंकार हैं। शब्द विषयानुसार कोमल तथा कठोर होते रहते हैं तथा कभी-कभी एक ही पद्य में ध्वनि का परिवर्तन भी हो जाता है। इन्होंने व्याकरण के कुछ अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी किया है और अलंकारों के परम भक्त प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर अपनी दार्शनिकता के लिये ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु दार्शनिकों ने स्तोत्र साहित्य की रचना में तोत्साह भाग लिया है। वे पारमार्थिक सत्ता के रूप में सर्वदा इस प्रकार की प्रवृत्ति के विरोधी थे तथापि लौकिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र में वे इसे आवश्यक समझते थे। शंकराचार्य जी के नाम पर अनेक स्तोत्र प्रसिद्ध हैं जिनमें अधिकतर साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। किन्तु सभी स्तोत्र एक ही व्यक्ति की रचना नहीं जान पड़ते। शंकराचार्य जी भी तो अनेक हुए हैं। शंकर की गद्दी प्रसिद्ध ही है। किन्तु इनमें कुछ अवश्य आदि शंकर के रचे हुए होंगे। विष्णुपादादि केशान्त वर्णन स्तोत्र इन्हीं आदिम शंकराचार्य का बनाया हुआ कहा जाता है। शंकर विजय के चौदहवें सर्ग में लिखा है कि मृत्यु शय्या पर स्थित माता जी के आदेश से शंकराचार्य जी ने विष्णु स्वरूप का वर्णन किया था। कहा जाता है कि वह विष्णु स्तुति यही है। आर्य विद्या सुधाकर के अनुसार शंकराचार्य का आविर्भाव काल ईसा की ८वीं शताब्दी है। किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् उनका समय इससे पूर्व ६ठी या ७वीं शताब्दी मानते हैं। इस स्तोत्र में विष्णु के नख-शिख का वर्णन किया गया है और साथ ही अस्त्रों का भी वर्णन है। “मेघ के समान श्याम वर्ण की भगवान् की बाहु में आनन्द करने वाली जिस तलवार की मूर्ति युद्ध में उठाये जाने पर मेघ में विस्फुरित होने वाली विजली की शोभा धारण करती है, जो तलवार त्रास से व्याकुल नेत्रों वाले राक्षसों के रक्त का आस्वाद लेने में दक्ष है और जो मधुमथन भगवान् विष्णु के मन को आनन्द देने वाली है वह हम लोगों को नित्य आनन्द देने वाली हो।” इसी प्रकार भगवान् के नेत्रों का वर्णन करने में सूर्य और चन्द्र से उनके नेत्रों का अद्वैत स्थापित

मेरी मति निरन्तर भावना नामक नाटिका का अभिनय करती रहे। भगवान् के केश-पाश के विषय में सन्देह भी बड़ा सुन्दर है। भगवान् के कुवलय कलित केश-पाश ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों अमरवेष्टित माला की पंक्ति हो अथवा मानो शंकर जी के मस्तक पर गिरने वाली गंगा जी धारा की स्पर्धा से कालिन्दी भगवान् के सिर पर चढ़कर गिर रही हो अथवा ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त चन्द्र कला की भ्रांति से अन्तःकरण में चंचल होकर राहु मुख की ओर आ रहा हो। इस प्रकार भगवान् के केश पाश जो समस्त लोगों द्वारा इस प्रकार देखे जाते हैं आप सब लोगों को मंगल प्रदान करें।”

शकराचार्य जी के दूसरे स्तोत्रों में भवान्यष्टक और आनन्द लहरी अधिक प्रसिद्ध हैं। इन स्तोत्रों में काव्य की छटा है, नाद सौन्दर्य है, अलंकारों का ललित प्रयोग है और भावना की उच्चता है। भवान्यष्टक अथवा अम्बाष्टक में कोई अर्थ-चमत्कार प्रधान नहीं है। इसमें अप्रचलित शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है जिससे प्रसाद गुण सर्वथा लुप्त हो गया है। इसे हम उच्च कोटि के काव्यों में स्थान नहीं दे सकते। मृ के दृष्टिकूट पदों के समान ही इससे कवित्व के स्थान पर पाण्डित्य अधिक प्रकट होता है।

पंचस्तवी अथवा दुर्गा स्तोत्र किसी अज्ञात नामा कवि की कृति है। इस स्तव के पांच भाग हैं लघुस्तव, चर्चास्तव, घटस्तव, अम्बास्तव, और सकल-जननीस्तव। इन पांच स्तवों का संकलन पंच स्तवी के नाम से पुकारा जाता है। इस स्तोत्र के संग्रहकर्ता का भी नाम ज्ञान नहीं है। लघुस्तव के दो तीन टीकाकार हुए हैं जिन्होंने इसके तन्त्रपरक ही अर्थ किये हैं। इसके एक टीकाकार नित्यानन्द ने इस स्तोत्र के कर्ता का नाम धर्माचार्य दिया है। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि यह उपाधि ही है अथवा नाम है। यह ग्रंथ प्राचीन प्रतीत होता है क्योंकि इसके एक पद्य का उद्धरण सरस्वती-कण्ठाभरण में दिया गया है और एक दूसरा पद्य कुवलयानन्द में आया है। इसी पद्य का तृतीय चरण काव्य प्रकाश के दशम उल्लाम में दिया गया है। इन स्तोत्रों में कवि की मनोवृत्ति का भी पता चलता है। प्रारम्भिक स्तवों में कवि ने भौतिक कामनायें कीं और प्रधान रूप से देवी जी से सुन्दरी स्त्रियों के प्रदान करने की प्रार्थना की गई है तथा इस बात पर संतोष भी प्रकट किया गया है कि कवि को भगवती की कृपा से सभी कुछ प्राप्त है। किन्तु क्रमशः यह स्वर क्षीण होता जाता है और कवि का भुकाव दार्शनिकता की ओर हो जाता है। मुक्ति प्रधान काम्य हो जानी है तथा पर्यवसान भक्ति में हो जाता है। तांत्रिक विधि का सर्वत्र प्राधान्य है और देवी जी के बीज मन्त्र का आश्चर्यजनक चमत्कार बतलाया गया है। उसका ध्यान करने से असंख्य कामनाओं की सिद्धि प्राप्त होने की बात कही गई है। कवि बनने के लिये भी देवी जी के बीज मन्त्र का अनुशीलन अनिवार्य बतलाया गया है। जो व्यक्ति देवी जी के सारे विश्व में व्याप्त अपूर्व तेज का क्षण-

भर ध्यान करते हैं उनके वश में त्रस्त-कुरंग-शाव-नयनी कामपीडित ललनायें प्रकट रूप में वश्य हो जाती हैं। उनके घर में सम्पत्तियाँ स्थायी हो जाती हैं। इसके प्रति-कूल जिनके हाथ भगवती दुर्गा की आराधना में व्यस्त नहीं हुए उनकी हाथों की रेखाओं के राजचिन्ह भी उन्हें राजा नहीं बना सकते। द्वितीय तथा तृतीय स्तवों में अधिक प्रौढ़ रचना है तथा शब्द-चमत्कार भी यत्र-तत्र प्रचुरता के साथ दृष्टिगत होता है।

कालिदास के नाम पर भी अनेक स्तोत्र प्राप्त हुए हैं। किन्तु ये स्तोत्र प्रसिद्ध कालिदास के लिखे नहीं जान पड़ते। या तो ये कोई अन्य कालिदास होंगे अथवा जैसा कि राजशेखर ने लिखा है काव्यकार परीक्षा में परीक्षित अनेक व्यक्तियों को कालिदास की उपाधि प्रदान की गई थी। उन्हीं में किसी कालिदास ने इन स्तोत्रों की रचना की होगी। इन अनेक स्तोत्रों में श्यामला दण्डक (गद्य-पद्यमय), सरस्वती स्तोत्र और यमलाष्टक तंजौर के तिब्बती रूप से ग्रहण किये गये हैं। कालिदास के ही नाम पर नवरत्न माला नामक एक नौ पद्यों का एक देवी स्तोत्र भी प्राप्त होता है जिसमें शब्द चमत्कार पर अधिक ध्यान दिया गया है। अर्थ चमत्कार विशेष नहीं है। एक उदाहरण लीजिये :—

सारिगमपधनिरतां तां वीणासंक्रान्तकान्तहस्तान्ताम् ।

शान्तां मृदुलस्वान्तां कुचभरतान्तां नमामि शिवकान्ताम् ॥

श्यामला दण्डक किस कालिदास की रचना है इसका ठीक पता नहीं चलता। इसमें तन्त्र विद्या की प्रधानता है। आरोहक भदन्त जल्लण संगृहीत मुक्तावली और हरि कवि संगृहीत हारावली में राजशेखर के नाम पर एक श्लोक दिया हुआ है जिस से ज्ञात होता है कि राजशेखर के समय तीन कालिदास हो चुके थे। चौथे एक कालिदास अकबर के समय में हुए थे। ज्ञात नहीं हो सका कि यह श्यामला दण्डक किन कालिदास का लिखा हुआ है। यह दण्डक मातंगी देवी की स्तुति में बनाया गया है। इसमें पाद के प्रारम्भ में सर्वत्र दो रगण और बाद में अनियत संख्या वाले रगण हैं। अतः इसका नाम मत्तमातंग लीलाकर है। इसमें पांच पाद हैं (सम्भवतः एक पाद लेखक के प्रमाद से बढ़ गया है। अन्यथा चार पाद ही होने चाहियें)। मातंगी देवी भगवान् शंकर की प्रियतमा हैं, सुधा-समुद्र से उठने वाले मणि द्वीप में उत्पन्न विल्वा-टवी में कल्पवृक्ष के समान कदम्ब वृक्षों के वन में निवास करती हैं। देवी जी की नख शिख शोभा का वर्णन किया गया है। देवी जी के बीज को सर्वतन्त्रात्मक, सर्वमन्त्रात्मक, सर्वयन्त्रात्मक, सर्वत्रिद्यात्मक, सर्वशक्त्यात्मक, सर्वयोगात्मक, सर्वनादात्मक, सर्वशंकात्मक, सर्वविश्वात्मक तथा सर्वव्यापक बतलाया गया है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के नाम पर भी एक देवी स्तोत्र उपलब्ध होता है, जिसकी प्रामाणिकता अधिक है। यद्यपि इसमें रस की अपेक्षा अलंकारों को प्रधानता दी गई है, किन्तु इसका समाधान इस प्रकार हो जाता है कि उन्होंने स्वयं स्तोत्रों में

रस को गीण ही माना है। यह स्तोत्र इस बात को प्रमाणित कर देता है कि समालोचक अच्छे कवि नहीं होते। उत्पल देव की स्तोत्रावली लगभग ६२५ में लिखी गई जिसमें शिवविषयक २० छोटे-छोटे स्तोत्रों का संग्रह है। कुछ प्रार्थना के पद्य भी हैं। कुछ अच्छे हैं, किन्तु उच्च कोटि का काव्यत्व इनमें नहीं पाया जाता। लगभग इसी समय कुलशेखरनृपति ने मुकुन्द-माला लिखी। इसमें भगवान् कृष्ण की स्तुति की गई है। इसके कई एक पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसकी कई एक प्रतियां प्राप्त हुई हैं जिनकी पद्य संख्या समान नहीं है। पुस्तक में प्रधान रूप से भगवान् कृष्ण की भक्ति को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। 'न तो मेरी आस्था धर्म में है न सम्पत्तियों के समूह में है और न कामोपभोग में ही है। इन विषयों में जो होने वाला हो वह पूर्व-कर्मनुसार होता रहे। मुझे सबसे अधिक यही प्रार्थना करना अभीष्ट है कि जन्म-जन्मान्तर में भी तुम्हारे दोनों चरण-कमलों में मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।' शरीर के प्रति कवि को कोई मोह नहीं। यह शरीर तो अवश्य नष्ट होगा। औषधि सेवन की कोई आवश्यकता नहीं। एकमात्र कृष्णरसायन का ही पान करना चाहिये। किन्तु कवि लौकिक भावना से सर्वथा विरत नहीं है। उसे विश्वास है कि भगवद्भक्ति उसके समस्त मनोरथों को पूरा करने वाली होगी। संसार की यातनाओं पर विचार कर भय नहीं करना चाहिये। जब श्रीधर भगवान् हमारे स्वामी हैं तब हमारे ऊपर ये यातनाएं अधिकार कर ही किस प्रकार सकती है? आलस्य छोड़कर भगवान् की ही प्रार्थना करनी चाहिये। जो भगवान् लोक की आपत्तियों को दूर करने में समर्थ है वह क्या अपने भक्तों की ही उपेक्षा करेगा? भगवान् ने सर्वदा भक्तों की रक्षा की है। प्रह्लाद, विभीषण, द्रौपदी, अहिल्या, ध्रुव इत्यादि अनेक निदर्शन विद्यमान हैं। भगवान् की त्राण करने वाली शक्ति पर ही विश्वास करके मोक्ष के विषय में भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आश्चर्य है कि भगवद्भक्ति के विद्यमान रहते हुए लोग श्रृंगाररसमयी कविताओं में लगे रहते हैं और भगवान् में अपना चित्त नहीं लगाते। "आश्चर्य है कि मनुष्य लोक में लोग अमृत को छोड़ कर विषपान करने में लग जाते हैं।" मूर्ख कवि लाट देश की स्त्रियों के नेत्रों के सौन्दर्य, पयोधर तट, रेवातट, कुञ्ज, चन्दन वृक्ष इत्यादि के वर्णन में अपना समय बिताया करते हैं किन्तु जिन्होंने अपना मन भगवान् में ही लगा दिया है उन पुरुषों का समय गोविन्द, जनार्दन, जगदीश्वर, कृष्ण इत्यादि शब्दों का उच्चारण करने में लगता है। अन्त में कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है, "जिन राजा के शास्त्रज्ञ, कवि-जगत् में प्रसिद्ध, द्विजवश के कल्याण कारक दो मित्र हुए उन कमलनयन भगवान् के चरण-कमलों में पदपद के समान रमण करने वाले कुलशेखर नामक राजा ने यह स्तोत्र बनाया है।"

विल्वमंगल के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। इनका कृष्णामृत या वृष्ण-कणामृत नामक स्तोत्र भारत में बहुत प्रसिद्ध है तथा संग्रह ग्रंथों में इसके उद्धरण दिये गये हैं। इसकी रचना में प्रमाद गुण पूर्ण शैली अपनाई गई है। इसमें भगवान् के वृन्दावन विहार के विषय में अनेक पद्य हैं।

१२वीं शताब्दी में लक्ष्मण सेन के दरबारी कवियों में जयदेव के साथ अन्य कवियों के कुछ स्तोत्र प्रसिद्ध है। इनका संग्रह रूप गोस्वामी ने पद्यावली में किया है। ये स्वयं भगवद्भक्त थे तथा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे। इसमें एक पद्य लक्ष्मण सेन के नाम पर भी लिखा हुआ है। धोई, धोमी कविराज, श्रुतधर, श्रुतिधर इत्यादि नामों से कुछ पद्य प्राप्त हुए हैं जो एक ही कवि की रचना ज्ञात होते हैं। ज्ञात होता है कि श्रुतधर का ही बिगड़ा हुआ रूप धोई है।

दूसरे बहुत से स्तोत्रों में शिव महिम्न स्तोत्र आता है। भक्तजनों में इसकी बहुत अधिक प्रतिष्ठा है और शिव मंदिर में जब दो-चार विद्वान् मिलकर आनन्द विभोर होकर इस स्तोत्र का गान किया करते हैं तब एक समा-सा बन्ध जाता है। कुछ लोगों ने इसे पुण्यदत्त का बनाया हुआ विष्णु महिम्न स्तोत्र कहा है। किन्तु इसका ज्ञान न्याय मंजरीकार जयन्त भट्ट को भी था। अतएव इसे हम नवीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं कह सकते। लक्ष्मणाचार्य की चण्डी कुच पंचाशिका बाद की रचना है, जिसमें धार्मिक अभिनिवेश के विशेष रूप से दर्शन होते हैं। इसी प्रकार शिवदास या उत्प्रेक्षा-वल्लभ का लिखा हुआ भिक्षाटन काव्य भी धार्मिकता से विशेष रूप से भरा हुआ है। इसमें स्वर्ग में शिव के भिक्षाटन का वर्णन है। उनके प्रति श्रृंगारियों का आकर्षण तथा प्रेम दर्शाया गया है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि कवि ने इसमें अपने कामशास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है।

कतिपय स्तोत्र पुराने ऋषियों के नाम पर भी प्रसिद्ध हैं जिनमें दुर्वासा के लिखे ललिता स्तव-रत्न तथा त्रिपुरमहिम्न स्तोत्र अधिक प्रसिद्ध हैं। ललिता स्तव-रत्न की एक प्रति जयपुर के राज पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। इसमें तन्त्र विधि से श्री ललितादेवी के ध्यान करने के स्थानों का वर्णन किया गया है। सोने का पर्वत है, जिसका निर्माण जगत् चक्र के द्वारा किया गया है और इसकी सोने की कुंजों में देवियों के गीत सुनाई देते हैं। इसके प्रान्तों में दिक्पाल रहते हैं और तीन शिखरों पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश निवास करते हैं। उन तीनों शृंगों के मध्य में एक बड़ा ही सुन्दर शिखर है जिसके प्रान्त भागों का निर्माण रत्नों की सी कान्ति धारण करने वाली मञ्जरियों से किया गया है। यह शृंग ४०० योजनों के विस्तार में है और वहां पर आदि विद्या का ४०० योजन का विस्तृत नगर है, जिसका निर्माण विश्व-कर्मा ने किया है और इस पर अनेक साल वृक्ष विराजमान हैं जिससे शिखर अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है। इन्हीं साल वृक्षों का तथा उनके मध्य भाग का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है तथा विभिन्न भागों में विराजमान देवियों का ध्यान बतलाया गया है। अन्त में देवी जी का कवच दिया हुआ है। इसमें २१३ पद्य हैं। त्रिपुर महिम्न स्तोत्र दुर्वासा की दूसरी रचना है। टीकाकार ने लिखा है कि ये दुर्वासा अत्रि और अनसूया से उत्पन्न हुए थे। किन्तु स्तोत्र के अन्त में दुर्वासा की प्रशंसा की गई है, इससे ज्ञात होता है कि ये दुर्वासा कोई दूसरे होंगे अथवा किसी

दूसरे कवि ने अपनी रचना दुर्वासा के नाम पर प्रसिद्ध कर दी होगी । इस स्तोत्र में भी तान्त्रिक विधियों का प्राधान्य है और त्रिपुर सुन्दरी देवी का महत्त्व बतलाया गया है । कोई कितना ही व्याकरण पढ़े, कितना ही काव्यों को घोटता रहे, कितना ही शब्द-शास्त्र का अध्ययन करे किन्तु तब तक वह कवि नहीं बन सकता जब तक पार्वती देवी जी की चरण-कमल-सरणि का अनुसरण नहीं करता है । आकाश में नक्षत्र कितने ही चमकते रहें किन्तु तब तक अन्धकार का विनाश नहीं होता है जब तक सूर्य भगवान् का उदय न हो, उसी प्रकार अविद्यान्धकार भी कितने ही सिद्धांतों और प्रमाणों के अध्ययन से नष्ट नहीं हो सकता जब तक सूर्य के समान जन्म-विनाशक तेज हृदय में उदित नहीं होता । इसी प्रकार देवी जी के अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया गया है और उसका महत्त्व बतलाया गया है । देवी जी के अनेक आभूषणों का भी वर्णन है । स्तनों के विषय में कहा गया है कि देवी जी के स्तन ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों के द्वारा पिये गये हैं । जो देवी जी के चन्द्रोज्ज्वल मुख का स्मरण करता है वह स्वयं स्मर (काम) रूप हो जाता है तथा विश्व की समस्त रमणियों का आकर्षण केन्द्र हो जाता है । इसी प्रकार आभूषणों और वस्त्रों का भी विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है और महत्त्व तथा अभीष्ट प्राप्ति के लिये देवी जी का ध्यान करना आवश्यक बतलाया गया है । लंकेश्वर (रावण) के नाम पर भी एक शिव स्तुति प्रसिद्ध है । लेखक के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है । स्तोत्र में १० पद्य हैं । इसमें शंकरजी के सर्वांग सौंदर्य का वर्णन किया गया है तथा पार्वती के साथ शृंगार लीला की ओर भी ध्यान दिलाया गया है । लक्ष्मी को छोड़ कर भगवान् शिव में ध्यान लगाने की कामना प्रकट की गई है । पिशाच बन कर शिव के पास जाना अमर सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है क्योंकि इन्द्र इत्यादि तो शंकर जी के भवन की देहरी पर आते हैं और विकट तुण्ड गणों के दण्डों से पिटकर उनकी मुकुट की कोटि टूट जाती है । इसी प्रकार मेरु की अपेक्षा कैलाश को महत्ता प्रदान की गई है । एकमात्र कामना शंकर जी की निकटवर्तिता की ही की गई है । भाषा सरल, सुबोध तथा प्रसाद गुण से पूर्ण है ।

राघव चैतन्य का बनाया हुआ महा गणपति स्तोत्र भी प्राप्त होता है । यह राघव चैतन्य शारंगधर से पहले हुए थे । शारंगधर पद्धति में राघव चैतन्य के नाम पर कुछ श्लोक लिखे मिलते हैं । शारंगधर के पितामह राघव देव हम्मीर चौहान की सभा में थे । हम्मीर का देहवसान १२६५ में हुआ था । ज्ञात होता है कि इन्हीं राघवदेव के मंन्यास ले लेने के बाद इनका नाम राघव चैतन्य पड़ गया होगा । इन्होंने महागणपति स्तोत्र १६छंदों में लिखा और अंत में एक पद्य के द्वारा उसका माहात्म्य बतलाया गया है । स्तोत्र में गणपति का परब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है तथा गणेश जी की पूजनीयता, वदान्यता, सौन्दर्य, शक्ति इत्यादि का वर्णन किया गया है । गणेश जी के ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं का भी वर्णन है और यत्र-तत्र तंत्र का

भी प्रभाव लक्षित होता है। गणेश को शिव तथा विष्णु की मूर्ति बतलाया गया है और कहा गया है कि गणेश देव जी हुंकार मात्र से समस्त दैत्यों का संहार कर देते हैं उनकी आनन्द लहरी के द्वारा समस्त लहरें फीकी पड़ जाती हैं।

संग्रह ग्रंथों में भी कुछ ऐसे पद्य दिये हुए हैं जो कि स्तोत्रों से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु तत्सम्बद्ध स्तोत्र पूर्ण रूप में अधिगत नहीं हो सके हैं। साथ ही अनेक कवियों का भी परिचय प्राप्त होता है। इनमें से कुछ पद्य बहुत अधिक प्रचलित हो गये हैं। विश्वामित्र के नाम पर भी कुछ पद्य प्राप्त हुए हैं पर ये कौन से विश्वामित्र हैं यह जानना कठिन प्रतीत होता है। विश्वामित्र के नाम पर जो पद्य प्राप्त हुए हैं वे एक कवि की कृति नहीं हो सकते।

जैन स्तोत्र—पौराणिक स्तोत्रों के अनुकरण पर लिखे हुए जैन स्तोत्रों की संख्या भी बहुत अधिक है। मुख्य स्तोत्रों का परिचय नीचे दिया जा रहा है:—

(१) **उवसगगहर स्तोत्र**—यह पांच पद्यों की पार्श्वनाथ की स्तुति है और कहा जाता है कि यह भद्रबाहु की बनाई हुई है। इसका उल्लेख प्रो० जैकोबी ने भद्रबाहु की कल्पसूत्र की भूमिका में किया है। कहा जाता है कि स्तोत्रों में यह सबसे प्राचीन है।

(२) **भक्तामर स्तोत्र**—यह सर्वाधिक प्रतिष्ठित स्तोत्रों में एक है। इसके रचयिता मेरुतुंग जैन साहित्य के एक प्राचीन कवि हैं। कुछ लोग इन्हें तीसरी शताब्दी का मानते हैं, कुछ लोग पांचवीं, सातवीं, आठवीं, और नवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। स्तोत्र की एक टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य मानतुंग वृद्ध भोज के समय में बाण और मयूर के सम-सामयिक थे। मेरुतुंग लिखित प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि मानतुंग धारा नरेश के समय में हुए थे। इस स्तोत्र को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों का एक सा आदर प्राप्त है। इससे ज्ञात होता है कि ये प्राचीन कवि होंगे। दिगम्बर ४२ पद्य मानते हैं जबकि श्वेताम्बर केवल ४४ ही पद्य मानते हैं। कहा जाता है कि इस स्तोत्र की रचना मेरुतुंग ने यह सिद्ध करने के लिये की थी कि जैन धर्म में भी अन्य धर्मों की भांति महती शक्ति है। जिस प्रकार मयूर ने कुण्ड से छटकारा प्राप्त करने के लिये सूर्य शतक की रचना की थी और जिस प्रकार बाण ने चण्डी शतक के द्वारा अपने कटे हुए हाथ-पैर जोड़ लिये थे इसी प्रकार उन्हीं की स्पर्धा कर मानतुंग ने भी ४२ जजीरों में बन्ध कर और एक कमरे में बन्द होकर भक्तामर स्तोत्र के ४४ पद्यों की रचना की थी, जिससे उन्हें छुटकारा प्राप्त हो गया।

(३) **भयहर स्तोत्र**—यह भी प्राकृत भाषा में मेरुतुंग का लिखा हुआ स्तोत्र है। इसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है।

(४) **कल्याण मंदिर स्तोत्र**—यह प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर का लिखा हुआ ४४ पद्यों का स्तोत्र है। यह भी पार्श्वनाथ-स्तुति है और भक्तामर स्तोत्र को

ही आदर्श मानकर लिखी गई है। स्तोत्र के अन्त में कवि का नाम कुमुदचन्द्र दिया हुआ है। टीकाकारों का मत है कि सिद्धसेन दिवाकर को दीक्षा के अवसर पर गुरु ने यह उपाधि प्रदान की थी। प्रबन्ध चिन्तामणि में विक्रमादित्य के प्रबन्ध में लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के राज्य काल में उज्जयिनी में आये थे। उसी प्रबन्ध चिन्तामणि से इनका श्वेताम्बर होना भी प्रकट है। दिगम्बर लोग इन्हें दिगम्बर मानते हैं। वाराहमिहिर ने बृहज्जातक के सप्तम अध्याय में सिद्धसेन नामक एक ज्योतिषी का उल्लेख किया है। सम्भवतः ये वही सिद्धसेन हैं। दो-एक और सिद्धसेन जैनियों में हुए हैं। कल्याण मंदिर स्तोत्र को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों एक सा मानते हैं। भक्तामर स्तोत्र की भांति इसकी अनेक टीकायें हैं और प्रत्येक पद्य में मन्त्र तथा उसका प्रभाव दिखलाया गया है। इसमें श्लेष का प्रयोग अधिक किया गया है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र को पढ़ने से उज्जैन में शिव लिंग फट गया था और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई थी।

(५) द्वात्रिंशिका स्तोत्र—यह भी सिद्धसेन दिवाकर का लिखा हुआ महावीर स्वामी का संस्कृत स्तोत्र है। इसे वर्धमान द्वात्रिंशिका भी कहते हैं।

सिद्धसेन दिवाकर द्वारा उपर्युक्त दोनों स्तोत्रों में जैन-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों का उल्लेख कर दिया गया है तथा हिन्दू-धर्म के अनेक देवी-देवताओं का उनसे तादात्म्य स्थापित किया गया है जैसे “आप मोक्षदायक हैं अतः आप शिव हैं। आप बुद्ध है क्योंकि आप ज्ञानवान् हैं।”

इसी प्रकार हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ, जिष्णु इत्यदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है। प्रारम्भ में कवि कहता है—“हे नाथ यद्यपि मैं जड़ आशय वाला हूँ तथापि अशेषगुणाकर आपकी स्तुति करने के लिये मैं उद्यत ही हो रहा हूँ। क्या कोई बालक अपनी दोनों बाहुओं को फँलाकर अपनी बुद्धि से अम्बुराशि की विस्तीर्णता का प्रतिपादन नहीं करता।” इसी प्रकार “हे विभो ! आप अज्ञानान्धकार से सर्वदा रहित हैं। आप के निन्दक भी हरि-हर इत्यादि रूपों में निस्संदेह आपको ही प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। क्या काच-कामला के रोगी श्वेत शख को भी अनेक वर्णों के विपर्यय में नहीं देखते।”

(६) बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र—यह समन्तभद्र का लिखा हुआ २४ तीर्थंकरों का स्तोत्र है। इसे चतुर्विंशति जिन स्तवन कहते हैं। इसमें सर्वप्रथम स्वयम्भू (स्वयम् आविर्भूत होने वाले) जिन देव की स्तुति की गई है। इसीलिये इसे स्वयम्भू स्तोत्र कहते हैं।

(७) पत्रकेसरि स्तोत्र—विद्यानन्द अथवा विद्यानन्दि का लिखा हुआ यह एक ५० पद्यों का महावीर स्तोत्र है।

(८) चतुर्विंशति जिन स्तोत्र—यह वप्पाभट्टिका लिखा हुआ ६६ संस्कृत पद्यों का एक जिन स्तोत्र है। इसके रचयिता वप्पाभट्टिका का समय ८वीं शताब्दी का

उत्तरार्ध तथा नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। कहा जाता है कि इसके लेखक ने कन्नौज के यशोवर्मा के पुत्र और उत्तराधिकारी अमरराज को जैन धर्म में परिवर्तित किया था।

(६) **शोभन स्तुति**—यह दशम शताब्दी के शोभन नामक कवि की लिखी हुई २४ तीर्थकरों की स्तुति है। इसकी रचना अत्यन्त अलंकृत तथा चित्र काव्य के रूप में है। द्वितीय और चतुर्थ चरण एक से ही हैं किन्तु उनके अर्थों में भेद है। इसको शोभन स्तुति इसीलिये भी कहते हैं कि यह शोभन नामक कवि की लिखी हुई है और इसलिये भी कि यह शोभन (सुन्दर) स्तुति है। इसमें केवल शब्द-चमत्कार के दर्शन होते हैं।

(१०) **ऋषभ पञ्चाशिका**—यह शोभन के भाई धनपाल की बनाई हुई ५० प्राकृत छन्दों की स्तुति है। इसमें प्रारम्भ में ऋषभदेव की जीवन घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है और अन्तिम भाग में उनकी प्रशंसा की गई है। “आप चिन्ता द्वारा भी प्राप्त न किये जा सकने वाले मोक्ष फल को देने वाले अपूर्व कल्पवृक्ष हैं। जब आपका अवतार हो गया तब मानो लज्जित होकर कल्पवृक्ष मृत्यु लोक को छोड़कर कहीं जा छिपा।” इसी प्रकार जहां ऋषभदेव जी अभिषिक्त हुए तथा जहां उन्होंने शिव-सम्पत्ति प्राप्त की वे दोनों पर्वत पर्वतकुलों में मूर्धन्य हैं। जो लोग ऋषभदेव के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध नहीं हो जाते वे या तो केवली हैं या हृदय-हीन हैं।”

(११) **अजिय सन्तिथय**—नन्दिषेण का लिखा हुआ यह एक अजितनाथ (द्वितीय तीर्थकर) और शान्तिनाथ (१६वें तीर्थकर) का सम्मिलित स्तोत्र है। सम्मिलित स्तोत्र लिखने का कारण यह बतलाया जाता है कि दोनों तीर्थङ्करों ने अपने वर्षाकाल शत्रुञ्जय पर्वत पर ही बिताये थे। इस स्तोत्र की रचना कवि की उस पर्वत की तीर्थ यात्रा के समय की गई। नन्दिषेण का समय ६वीं शताब्दी से भी पहले कहा जाता है। इस स्तोत्र का अनुकरण अनेक परवर्ती कवियों ने किया है। जिनमें १२वीं शताब्दी के जिन वल्लभ का अजित शान्ति | लघुस्तवन, वीरगणिन की “अजिय सन्तिथय”, जयशेखर का “अजित-शान्ति-स्तव” विशेष प्रसिद्ध हैं।

(१२) **जय तिहुअनस्तोत्र**—इसकी रचना ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि अभयदेव की की हुई बतलाई जाती है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र के द्वारा कवि ने रोग में मुक्ति प्राप्त की थी तथा पादर्वनाथ की छिपी हुई मूर्ति को प्रकाश में लाये थे।

(१३) **वादिराज के दार्शनिक स्तोत्र**—तीन स्तोत्र वादिराज के लिखे बतलाये जाते हैं—(१) ज्ञानालोचन, (२) एकीभाव स्तोत्र और (३) अव्यात्माष्टक। सम्भवतः इनका रचना-काल ११वीं शताब्दी है।

(१४) **बीतराग स्तोत्र**—प्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने कुमारपाल के निर्देश पर इस स्तोत्र की रचना की थी। इसमें छोटे-छोटे २० भाग हैं और पन्धेक भाग में

८ या ९ श्लोक हैं। इसे जैन-धर्म की कवित्वमय परिचय-पुस्तिका कह सकते हैं। इसकी भाषा बड़ी ही सरल, सुबोध और प्रसाद गुण पूर्ण है।

हेमचन्द्र ने दो और स्तोत्र ग्रन्थ लिखे हैं अयोगव्यवच्छेद तथा अन्य योग व्यवच्छेद। इन स्तोत्रों में महावीर स्वामी की स्तुति की गई है। इन स्तोत्रों में हिन्दू धर्म की निन्दा का अभिनिवेश विशेष रूप में दृष्टिगत होता है। जो लोग धर्म-हेतु की गई हिंसा को हिंसा नहीं मानते उनको अपने पुत्र को मारकर राज्य प्राप्ति की इच्छा रखने वाला बतलाया गया है। जो लोग प्रादेशिक शासनों के द्वारा जिन देव के शासन का उल्लंघन करना चाहते हैं, उनकी ऐसी ही चेष्टा है जैसे खद्योत का एक छोटा सा बच्चा सूर्य मंडल की बिडम्बना करना चाहे। “मद-मान, मनोभव, क्रोध, लोभ और सम्मद से बलात् पराजित देवों के साम्राज्य का रोग व्यर्थ ही जैन धर्म के विरोधियों को लगा है। दूसरे लोग अपने कण्ठपीठ में कठिन कुठार रखकर कुछ भी कहते रहें किन्तु जो मनीषी हैं, वीतराग जैन तीर्थंकरों में ही अपना मन लगाते हैं।”

चौदहवीं शताब्दी के आसपास भी अनेक स्तोत्र ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रारम्भ में जिन प्रेमसूरि ने चतुर्विंशति जिन स्तुति लिखी। इसमें एक-एक पद्य में एक-एक तीर्थंकर का वर्णन है। इनके लिखे हुए दूसरे स्तोत्रों में पार्श्व स्तव तथा श्री वीर निर्वाण कल्याणक स्तव मुख्य हैं। वीर निर्वाण में महावीर स्वामी का वर्णन किया गया है। मुनि सुन्दर का जिन स्तोत्र भी १४वीं शताब्दी में लिखा गया। यह स्तोत्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र के भी अनुकरण पर अनेक स्तोत्र लिखे गये, जिनमें भावप्रभ का भक्तामरम् प्रसिद्ध है। देवेन्द्र के शिष्य धर्म-घोष ने “यमक स्तोत्र” और चतुर्विंशति जिन स्तुति नामक दो स्तोत्रों की रचना की। धर्मघोष के ही नाम से ‘इसि मंडल स्तोत्र’ (ऋषि मंडल स्तोत्र) भी प्रसिद्ध है। हो सकता है ये कोई दूसरे धर्मघोष हों। रत्नाकर के नाम पर “वीतराग स्तोत्र” अथवा “रत्नाकर पंचविंशतिका” नामक एक स्तोत्र भी प्रसिद्ध है। किन्तु इसके रचनाकाल का पता नहीं। मदनकीर्ति की बनाई हुई एक दूसरी स्तुति शासन चतुस्त्रिशिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त में “दिग्वाससां शासनम्” आया है। इसीलिये इसे शासन चतुस्त्रिशिका कहते हैं। इसमें एक अनुष्टुप के अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीडित छन्द हैं। इस स्तोत्र में तीर्थङ्कर स्तवन किया गया है। एक दूसरा ग्रन्थ मुनि रत्नसिंह का प्राणप्रिय काव्य है। इसका प्रारम्भ प्राणप्रिय शब्द से होता है, इसलिये इसका नाम प्राणप्रिय काव्य रक्खा गया है। इसमें भक्तामर स्तोत्र के चतुर्थ चरण की पूर्ति की गई है। यह प्रसाद गुण पूर्ण उत्तम काव्य है। इनके अतिरिक्त मल्लिषेण प्रशस्ति में वज्रनन्दि के नव स्तोत्र का उल्लेख मिलता है, जिसमें समस्त अर्हत वचन को अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।

शब्द-चमत्कार तथा काव्य-कौशल प्रदर्शन की दृष्टि से भी जैन स्तोत्र साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। देवानन्दि के सिद्धिप्रिय स्तोत्र में श्लेष का चमत्कार दिखलाई

पड़ता है। प्राकृत के महावीर स्तव में एक ही शब्द तीन-तीन बार आया है और प्रत्येक बार उसका भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। नेमि जिन स्तव में द्वि-अक्षर पद्यों का प्रयोग किया गया है, जिनमें “ल” और “म” केवल इन दो व्यञ्जनों का प्रयोग हुआ है। जय तिलक सूरि के चतुरहारावली चित्र स्तव में पद्यबन्ध, मुरज बन्ध, स्वस्तिक, सर्वतोभद्र इत्यादि चित्र काव्यों का प्रयोग किया गया है। १२ वीं शताब्दी के ‘षड्भाषा निर्मित पार्श्वजिन स्तव’ में और १४ वीं शताब्दी में जिन पद्म के षड्भाषा-विनिर्मित-शान्तिनाथ-स्तव में एक ही स्तोत्र में संस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैंशाची और अपभ्रंश इन ६ भाषाओं का प्रयोग किया गया है। जैनस्तोत्र साहित्य का यही संक्षिप्त परिचय है।

बौद्ध स्तोत्र साहित्य

हमें कनिष्क के राज्यकाल में दो महान् बौद्ध स्तोत्रकारों का परिचय प्राप्त होता है—एक हैं अश्वघोष और दूसरे हैं मातृचेता। तिब्बत के ऐतिहासिक विद्वान् अश्वघोष का ही दूसरा नाम मातृचेता भी मानते हैं तथा इन दोनों महाकवियों की एकता का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। मातृचेता अश्वघोष की अपेक्षा पूर्ववर्ती थे और उन्हीं के समय से कुछ पहले हुए थे। अश्वघोष के आश्रयदाता कनिष्क ने मातृचेता को दरबार में बुलाया था जिस पर मातृचेता ने वृद्धावस्था का कारण बतला कर उपस्थित होने में असमर्थता प्रकट की थी। यह पत्र आजकल के विद्वानों को प्राप्त हुआ है जिसमें ८५ पद्य हैं। इस पत्र में एकान्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय प्रकट किया गया है। सातवीं शताब्दी में इत्सिंग को मातृचेता की बड़ी प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ी थी। इत्सिंग ने एक प्रसिद्धि का उल्लेख किया है कि एक बार बुद्ध शिष्यों के साथ कही घूम रहे थे। उस समय एक कोकिल कहीं बोल रहा था, जो ऐसा मालूम पड़ रहा था मानो बुद्ध का यशोगान कर रहा हो। बुद्ध ने कहा कि यह कोकिल एक दिन मातृचेता के रूप में जन्म लेगा। इस प्रसिद्धि से ही मातृचेता की ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। इनकी लिखी हुई पुस्तकें बहुत अधिक पढ़ी जाती रही हैं और आज भी बौद्धों में इनका बहुत अधिक सम्मान है। असंग और वसुबन्धु जैसे बौद्धों ने भी इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है। इनकी लिखी हुई दो पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं—चतुःशतक स्तोत्र और शतपञ्चाशिका। यह स्तोत्र साधारण अनलंकृत भाषा में लिखे हुए स्तोत्रों का संग्रह है। किन्तु भाषा सुन्दर है और विचार बड़े ही उच्चकोटि के हैं। इत्सिंग ने इन स्तोत्रों को संन्यासियों की सभा में गाते हुए सुना था और लिखा है कि ‘ये पद्य सुन्दरता में स्वर्गीय पुष्पों के समान हैं और उच्च सिद्धान्त उनमें सुरक्षित हैं। वे अपनी महत्ता में हिमालय की उच्च चोटियों की तुलना में रखे जा सकते हैं। अतएव भारत में जो भी स्तोत्रों की रचना करता है वह इनको साहित्य का पिता मानकर इनके आदर्श पर रचना करने की चेष्टा करता है। वसुबन्धु और असंग

जैसे बौद्ध महात्माओं ने भी इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है। सारे भारत में जो भी संन्यास लेता है जैसे ही वह ५ और १० आर्य सत्यों को सुना देता है उसे इनके दो स्तोत्र अवश्य सुनाने पड़ते हैं। यह पाठ्य विषय के रूप में हीनयानियों और महायानियों दोनों में प्रचलित है।” इत्सिंग को इनकी प्रशंसा के शब्द नहीं मिलते। उन्होंने लिखा है कि प्रसिद्ध दिङ्नागाचार्य नामक बौद्ध तार्किक ने इसके प्रत्येक पद्य के पहले एक पद्य बनाकर रखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार ३०० पद्यों का एक मिलित स्तोत्र तैयार हो गया।

कनिष्क के राज्य के दूसरे कवि हैं अश्वघोष। इनके विषय में कहा जाता है कि ऐसा कोई प्रश्न नहीं था जिसको अश्वघोष हल न कर देते, ऐसा कोई तर्क नहीं था, जिसका खण्डन न कर सकते। वे अपने प्रतिवादी पर उसी प्रकार प्रायः विजय प्राप्त कर लेते थे जैसे एक शक्तिशाली वायु जीर्ण-शीर्ण वृक्षों को तोड़ डालता है। अश्वघोष के नाम पर गण्डी-स्तोत्र-गाथा नामक एक ही स्तोत्र ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जोकि चीनी अनुवाद के आधार पर संस्कृत में परिवर्तित किया गया है। यह स्तोत्र अश्वघोष की प्रतिभा के अनुकूल ही है। बौद्ध स्तोत्र पूर्ण रूप से शैव और वैष्णव स्तोत्रों के आधार पर लिखे गये हैं।

कुछ उच्चकोटि की कलात्मक तथा काव्यात्मक कृतियाँ हैं, कुछ चित्र काव्य हैं और कुछ नामावली हैं। नागार्जुन का चतुःस्तव तिब्बती अनुवाद में प्राप्त हुआ है। हर्षवर्धन भी अपने अन्तिम जीवन में बौद्ध हो गये थे। इन्होंने बौद्ध धर्म के विषय में ह्वेनत्सांग से बहुत कुछ सीखा था। इन्होंने सुप्रभात नामक एक स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र में २४ पद्य हैं। साथ ही उन्होंने ५ पद्यों का एक महा श्रीचैत्य-स्तोत्र भी बनाया।

वज्रदन्त कवि देवपाल की देख-रेख में रहते थे। इन्होंने ९वीं शताब्दी में अवलोकितेश्वर शतक की रचना की। कहा जाता है कि यह शापवश कोढ़ी हो गये थे। तब उन्होंने एक स्रग्धरा पद्य श्री अवलोकितेश्वर की सेवा में प्रतिदिन लिखना प्रारम्भ किया। जब १०० पद्य पूरे हो गये तब बुद्ध भगवान् ने इन्हें दर्शन दिये और इनका रोग दूर हो गया। इस उच्चकोटि के स्तोत्र में नख-शिल्प, उनके पचास नाम, अनेक गुण, उनका प्रेम और दया का वर्णन है।

परमार्थ नाम संगीति एक स्तोत्र है। प्राचीन भारतीय साहित्य में नामावली गिनाने की परम्परा रही है। इसी प्रकार की नामावलियाँ हमें यजुर्वेद, महाभारत तथा दूसरे पुराणों में भी मिलती हैं। परमार्थ नाम संगीति में भी इसी परम्परा का पालन किया गया है। ९ पद्यों का एक सप्त बुद्ध स्तोत्र मिलता है, जिसमें कई बुद्धों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार नेपालीय देवता के प्रति कल्याण पञ्चविंशतिका एक अज्ञात कवि अमृतानन्द के द्वारा लिखा गया। इसमें २५ पद्यों में नेपाली देवता की नामावली दी गई है।

बहुत से स्तोत्र बौद्ध देवी तारा के विषय में भी प्राप्त होते हैं। तारा का अर्थ है रक्षिका अथवा तारने वाली। तारा विषयक एक स्तोत्र कश्मीरी कवि सर्वज्ञ-मित्र ने लिखा है। इसको स्रग्धरा स्तोत्र या आर्य तारा स्रग्धरा स्तोत्र कहते हैं। इस में उच्चकोटि की काव्य शैली अपनाई गई है। स्रग्धरा देवी का भी विशेषण है और इसमें स्रग्धरा छन्द भी अपनाया गया है। कहा जाता है कि कवि सर्वज्ञमित्र कश्मीर के राजा के दामाद थे। ये इतने उदार थे कि इन्होंने अपना सर्वस्व दान कर संन्यास ले लिया था। एक दिन जब वे घूम रहे थे, एक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री के विवाह के लिये इनसे कुछ रुपये मांगे। इन्होंने अपने को एक राजा के हाथ बेच दिया। राजा सौ व्यक्तियों का पुरुषमेघ करना चाहता था। जब इन्होंने सौ व्यक्तियों के रोने चिल्लाने का शब्द सुना तब इन्होंने इस स्तोत्र की रचना की और तारा ने सौ बन्धियों की रक्षा की। आर्य तारा नामाष्टोत्तर शतक स्तोत्र में तारादेवी की नामावली है। एक विंशति स्तोत्र में २१ पद्य हैं तथा इसकी रचना शिथिल है।

रामचन्द्र कवि भारती ने भक्ति शतक नामक एक स्तोत्र लिखा। ये बंगाली ब्राह्मण थे और सीलौन के पराक्रमबाहु (१२५०) के संस्करण में गये तथा बौद्ध बना लिये गये। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म का भक्ति सिद्धान्त किस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रवेश पा रहा था। इसकी शैली हिन्दु स्तोत्रों जैसी है और हीनयान तथा महायान दोनों के द्वारा अपनाई जा सकती है।

स्तोत्र साहित्य का सिंहावलोकन

जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है आनन्दवर्धन के मत में स्तोत्र साहित्य में रसानुभूति गौण होती है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने स्तोत्र साहित्य के इतना विस्तृत होते हुए भी भगवद्भक्ति को रसों में स्थान नहीं दिया। यद्यपि भक्ति के मूलभूत सिद्धान्तों तथा उसकी प्रवृत्तियों का भक्ति सूत्रों के चिरपूर्व निरूपण हो चुका था और महायान शाखा के विकास के साथ-साथ भक्ति को प्रधानता प्राप्त होती जा रही थी तथापि इन स्तोत्रों में हमें भक्ति की वह प्रगाढ़ता तथा गम्भीरता दृष्टिगत नहीं होती जो उत्तरवर्ती भक्ति काव्य में प्रधानतया प्रतिष्ठित हो गई थी। न तो इनमें वह हृदय की वेदना ही दृष्टिगत होती है और न उतनी भावविभोरता ही। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इन स्तोत्रों में हृदय-तत्त्व है ही नहीं। अनेक स्तोत्रों में भक्तों के सच्चे हृदयोद्गार हैं और चाहे वे देवता हों, चाहे तीर्थंकर अथवा अवलोकितेश्वर हों उन्होंने हमारे साथ जो उपकार किये हैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करने तथा उनकी महत्ता के विषय में उनमें श्रद्धा रखने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं। कृतज्ञता तथा श्रद्धा दोनों प्रकार की भावनाओं में एक अभूतपूर्व आनन्द होता है, एक अनिर्वचनीय उल्लास होता है और यह आनन्द व्यक्तिगत न होकर सामाजिकता से परिपूर्ण होता है। कृतज्ञ या श्रद्धालु व्यक्ति सर्वदा अपनी भावनाओं में समस्त समाज को सम्मिलित कर लेने के लिये उत्सुक रहता है और दूसरों के साथ

मिलकर ही अपनी भावना का आस्वादन करना चाहता है। हमें इस स्तोत्र-साहित्य में सर्वत्र इस कृतज्ञता, इस श्रद्धालुता तथा इस सामाजिक मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि अनेक स्तोत्रों का मूल समस्त अनुशीलनकर्ताओं के प्रति आशीर्वाद-परक है और कहीं-कहीं उपदेशात्मक भी है। जहाँ कहीं व्यक्तिगत सुख-भोग अथवा मोक्ष की कामना की गई है वहाँ भी कवि लोक के प्रतिनिधि के रूप में ही दृष्टिगत होता है। इस प्रकार रसानुभूति तत्त्व गौण होते हुए भी पर्याप्त प्रभावशाली है और भक्तों को अपनी ओर आकर्षित करने में पर्याप्त रूप से सक्षम है। इन स्तोत्रों में भी एक आनन्दमयी भावना ओतप्रोत है जो पाठकों को सर्वदा आप्यायित करती रही है।

ये स्तोत्र ठीक रूप में वैदिक सूक्तों की परम्परा में आते हैं और उसी प्रकार उपास्य की महत्ता, व्यक्तिगत कामना अथवा आध्यात्मिकता इत्यादि को लेकर चलते हैं। इन स्तोत्रों में वैदिक सूक्तों की ही भांति उपास्यों की अनेकता दृष्टिगत होती है। साथ ही उसी प्रकार प्रस्तुत उपास्य का अन्य देवों पर आधिपत्य दिखलाया गया है और इस प्रस्तुत उपास्य की शरण्याता तथा भक्तवत्सलता का विषय दूसरे देवों को भी बनाने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार जब दूसरे देवता का अवसर आया है तब इस उपास्य को भी उसके सामने नतमस्तक होना पड़ा है। वस्तुतः ये समस्त देव उस एक महती शक्ति के ही विभिन्न अंग हैं तथा उस शक्ति के मूर्तरूप हैं और जिस समय शक्ति के किसी विशेष स्वरूप की आराधना की जाती है, उस अपेक्षणीय स्वरूप के सामने सभी स्वरूप गौण हो जाते हैं। इसके साथ ही एक बात और है। इस युग में समस्त धार्मिक समुदाय विभिन्न वर्गों में बटा हुआ था। इन वर्गों में परस्पर संघर्ष की भावना भी पर्याप्त मात्रा में तीव्रता धारण कर चुकी थी। बौद्धों और ब्राह्मण धर्मानुयायियों का संघर्ष प्रसिद्ध ही है। जैन धर्म भी पीछे नहीं है। ब्राह्मण धर्म के भी अनेक अंग हो गये थे, जिनमें प्रधान रूप से शिव, शक्ति और विष्णु की उपासना प्रचलित थी। यद्यपि गरुडेश, गंगा तथा सूर्य इत्यादि के प्रति भी अनेक स्तोत्र लिखे गये थे किन्तु मात्रा में ये स्तोत्र इतने अधिक नहीं हो पाये थे कि इनके आधार पर सम्प्रदायों की कल्पना की जा सकती। वैदिक देवता अपना गौण स्थान प्राप्त कर ही चुके थे। अपने-अपने सम्प्रदाय में अधिक-से-अधिक जन समुदाय को दीक्षित करने की धुन सभी में विद्यमान थी। सर्व साधारण उसी सम्प्रदाय के प्रति आकर्षित हो सकता था, जिसके देवता में अधिक-से-अधिक लोकोत्तर शक्ति हो, अधिक-से-अधिक कृतार्थ करने की क्षमता हो और जिससे अधिक से अधिक लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त किया जा सके। अतएव इन स्तोत्र-कारों का दृष्टिकोण एक ओर ऐसे स्तोत्रों की रचना करना था, जिनको गा-गाकर सर्वसाधारण उनके सम्प्रदाय में आनन्द का अनुभव कर सके दूसरी ओर उनके उपास्यों की लोकोत्तर महत्ता अन्य देवों की अपेक्षा विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो सके। इसीलिये इन स्तोत्रों में सर्वत्र दूसरे देवों से या तो तादात्म्य की भावना अर्पित की जाती थी या अधिकता प्रतिष्ठित की जाती थी। कहीं-कहीं दूसरे

सम्प्रदायों की निन्दा भी की जाती थी। स्तोत्र साहित्य की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि सर्वसाधारण में इनके लोकोत्तर चमत्कार का चारों ओर प्रसार किया जाता था। एक ओर ब्राह्मणधर्मानुयायी मयूर के स्तोत्र द्वारा मयूर के कुष्ठ निवारण की बात कहते थे और बाणभट्ट के चण्डीशतक द्वारा उनके कटे हुए हाथ-पैरों के जुड़ जाने का प्रचार किया जाता था दूसरी ओर जैन धर्मावलम्बी आचार्य मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र के द्वारा मानतुंग की ४२ जंजीरों के टूट जाने और बन्दीगृह की कोठरी स्वतः खुल जाने की बातें करते थे। कई स्तोत्रों के विषय में कहा जाता था उनके प्रभाव से शिवलिंग फट गया और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रकट हो गई। तीसरी ओर बौद्ध देवी तारा का समर्थन किया जाता था और स्तोत्र के प्रभाव से सौ व्यक्तियों के बन्दीगृह से मुक्त होने तथा बन्दीगृह में डालने वाले राजा के पराजित हो जाने की बात कही जाती थी। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इन स्तोत्रों में कवियों की आन्तर-वृत्ति स्वयं नहीं रमती थी। हमें इन स्तोत्रों में धार्मिक उत्साह और विश्वास के दर्शन होते हैं। स्तोत्रकार कवियों को अपने आराध्यों की लोकोत्तर शक्ति पर विश्वास था। वे समझते थे कि इन आराध्यों की अनुकम्पा के बिना न तो उन्हें लौकिक सुखभोग ही प्राप्त हो सकता है, न परलोक ही बन सकता है, न मोक्ष की ही प्राप्ति हो सकती है और न कवित्व ही स्फुटित हो सकता है। अतएव ये कवि उत्साह के साथ कविता में प्रवृत्त होते थे और जहां जनसाधारण को स्वधर्म दीक्षा की प्रेरणा प्रदान करते थे वहां स्वयं भी संतोष लाभ करते थे। इस प्रकार इन स्तोत्रों में कवियों का आन्तरिक विश्वास कविता के रूप में मुखरित हो उठा है।

यद्यपि यह स्तोत्र साहित्य एक रूप में वैदिक सूक्त परम्परा में आता है तथापि वैदिक सूक्तों की अपेक्षा इस स्तोत्र काव्य में कुछ मौलिक अन्तर है। वैदिक काव्य की अपेक्षा इसमें देवताओं का परस्पर तादात्म्य विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया है और एकता की विशेष रूप से अभिव्यक्ति हुई है। आध्यात्मिकता के भी इन स्तोत्रों में अधिक दर्शन होते हैं और वैदिक स्तोत्रों की लौकिक सुखभोग-कामना के स्थान पर पारलौकिकता तथा मोक्ष विशेष रूप से याचना का विषय बन गया है। वैदिक स्तोत्रों में याच्य वस्तुओं का पृथक्-पृथक् गिनाया जाता था किन्तु इन स्तोत्रों में लौकिक कामनाओं को पृथक्-पृथक् न गिनाकर केवल देवता में सभी प्रकार के सुख देने की शक्ति का प्रतिपादन कर संतोष किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन स्तोत्रों में एक ओर आध्यात्मिकता बढ़ रही थी दूसरी ओर कवि-कर्म स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो रहा था। इन स्तोत्रों में तन्त्र विद्या के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं। देवों की विभिन्न मुद्राओं तथा चक्रों का वर्णन किया गया है और उन स्थानों तथा परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, जिनमें उन देवों का हमें ध्यान करना चाहिये। कहीं-कहीं तामसिक उपासना के भा दर्शन होते हैं। भगवती दुर्गा

तथा दूसरी देवियों के स्तोत्रों में तन्त्रों की विशेष रूप से छाप दिखाई देती है। विष्णु भक्ति अधिकतर सात्विकता लिये हुए है।

जैसा कि पहले कहा गया है, स्तोत्र काव्य लिखने का अवसर केवल ब्राह्मण धर्म में ही है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार समस्त मानवीय क्रियाकलापों का नियन्त्रण एक विशिष्ट अदृष्ट शक्ति के द्वारा किया जाता है, वह अदृष्ट शक्ति सर्वथा वर्णनातीत है। मानव को लौकिक तथा पारलौकिक सुख-समृद्धि और अन्तिम निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये उस शक्ति को स्वानुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये क्योंकि इस प्रकार की अनुकूलता के अभाव में कोई भी उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। व्यक्तिगत सुख-साधना का भी यही माध्यम है और लोक कल्याण का भी यही साधक है इसी सिद्धांत से प्रेरित होकर स्तोत्र साहित्य को अवतारणा हुई है और देवताओं की उपासना में सौन्दर्य तत्व का सन्निवेश कर मनोरम काव्य की रचना की गई है किन्तु जैन बौद्ध धर्मों में इस प्रकार की आराधना का न तो कोई महत्त्व है और न उनके सिद्धांतों के अनुसार इस प्रकार की उपासना समीचीन ही कही जा सकती है। इन धर्मों में प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है। न कोई अदृष्ट शक्ति उसे नियन्त्रित करती है, और न उसकी समृद्धि कहीं से प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक जीव धर्माचार्यों का शासन स्वीकार करते हुए तथा अपने जीवन को उसी दिशा में प्रेरित करते हुए केवली का पद प्राप्त कर सकता है अथवा निर्वाण का अधिकारी हो सकता है। ऐसी दशा में इन धर्मों में उपासना का अवसर ही नहीं रह जाता और न किसी व्यक्ति से कोई वस्तु मांगी जा सकती है और न प्रदान की जा सकती है। किन्तु यह स्तोत्र-साहित्य ब्राह्मण धर्म के अनुकरण पर लिखा गया था और उन समस्त बातों को लेकर चलता था जो ब्राह्मण धर्म के स्तोत्र-साहित्य में विद्यमान थी। इसी लिये इन स्तोत्रों में भी आराध्यों में बहुत कुछ प्रदान करने की शक्ति बतलाई गई है। “जिन व्यक्तियों के शरीर पैरों से सर तक परिपूर्ण रूप से शृंखलाओं से जकड़े हुए होते हैं, जिनकी टांगें विशाल शृंखलाओं से बुरी तरह पिसी जा रही होती हैं, यदि वे तुम्हारे नाम का स्मरण करते हैं तो वे तत्काल ही बन्दी गृह के कण्ठ से मुक्त हो जाते हैं और उनकी शृंखलायें नष्ट हो जाती हैं।” इसी प्रकार “जो व्यक्ति सांपों के कीलने के लिये अपने हृदय में आपका नाम उच्चारण करता है वह क्रोध में भरे हुए विषधर सर्पों पर नग्न पैरों से खड़ा हो जाता है। आपके कमल-सुन्दर चरणों में जो तीर्थ यात्रा करता है वह शत्रु समूह को अनायास ही जीत लेता है। जो नाविक आपका ध्यान करते हुए यात्रा करता है वह निर्भय होकर महासागर पार कर जाता है।” (भक्तामर स्तोत्र-३४-४०) यह बतालाया ही जा चुका है कि इन स्तोत्रों के चमत्कार से सम्बन्धित किम्बदन्तियां लोक प्रसारित की जा रही थीं। जयतिहुअन स्तोत्र के द्वारा अभयदेव को रोग निर्मुक्ति प्राप्त हुई थी और उसी स्तोत्र के द्वारा पार्श्वनाथ की प्रच्छन्न मूर्ति भी प्रकाश में आई थी। सिद्धसेन दिवाकर के कल्याण

मंदिर स्तोत्र को पढ़ने से शिवलिंग फट गया था और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई थी। भक्तामर स्तोत्र से मेरुग की ४२ लोह शृंखलायें खुल गई थीं। इस प्रकार पौराणिक शैली पर ही इन स्तोत्रों के साथ अनेक अन्धविश्वास जुड़े हुए हैं।

इस काल में सर्वसाधारण में ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रचार था। जैन तथा बौद्ध धर्मों की ओर जन समुदाय का आकर्षण कम था। अतएव पौराणिक स्तोत्रों में जैन बौद्ध धर्म के आराध्यों का उल्लेख नहीं किया गया है मानो ब्राह्मण धर्मानुयायी तीर्थ-ङ्करों के समक्ष देवों को रखने में देवों का अपमान समझते थे। इसके प्रतिकूल जैन बौद्ध स्तोत्रों में अपने आराध्यों का तादात्म्य देवों से सिद्ध किया गया है और तीर्थङ्करों में अनेक देवी देवताओं की सत्ता अंगीकार की गई है। “आप बुद्ध हैं क्योंकि देवता आपके प्रबुद्ध मानस की प्रशंसा करते हैं। आप शंकर हैं क्योंकि आप तीनों लोकों के मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आपने अपने ज्ञान से मोक्ष मार्ग की रचना की है अतएव आप पुरुषोत्तम हैं।” यही नहीं पौराणिक देवों को काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत बतलाया गया है अतएव उनकी उपासना त्यागने को कहा गया है और तीर्थङ्करों को वीतराग होने के कारण उपास्य बतलाया गया है।

अनेक स्थानों पर तीर्थङ्करों के प्रकाश का भी वर्णन किया गया है और उसके लिये सूर्य तथा चन्द्रमा की उपमा प्रायः दी गई है। इस स्तोत्र-साहित्य में भक्तों को कमल तथा तीर्थङ्करों को सूर्य कहने की भी बहुत अधिक परम्परा है।

किन्तु इस स्तोत्र-साहित्य में भावात्मक अभिनिवेश के साथ कलात्मकता विशेष रूप में समुपलब्ध होती है। अलंकारों का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया गया है और कहीं-कहीं श्लेष का बहुत ही सुन्दर प्रयोग बन पड़ा है। अलंकारों में कुछ तो प्रचलित तथा विषयानुकूल हैं और कुछ केवल अलंकारों के मन्तव्य से ही लिखे गये हैं। जैन स्तोत्र-साहित्य में चित्रमयता की ओर प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है। जन स्तोत्रों में हृदय-तत्त्व का कम किन्तु मस्तिष्क का अधिक उपयोग किया गया है। अनेक स्थानों पर पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ से ही श्लेष का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार मध्य काल के महाकाव्यों में और विशेष रूप से किरात तथा माघ काव्यों में चित्र काव्य रचना दिखलाने के लिये एक पृथक् सर्ग रखा गया है उसी प्रकार इन स्तोत्रों में भी द्वि-अक्षर पद्य, सर्वतोभद्र, कमलबन्ध इत्यादि चित्र काव्य के मन्तव्य से रचना की गई है। जन स्तोत्रों के विषय में विण्टरनिट्ज़ ने लिखा है:—

“स्वाभाविक रूप में जिन-देवों की प्रशंसा और प्रार्थना में विषय-वैचित्र्य नहीं आ पाया है। कविगण नये विषयों की उद्भावना के लिए नहीं किन्तु रचना-शैली और स्वरूप के परिवर्तन करने के लिये चेष्टा किया करते थे। यही कारण है कि स्तोत्र-साहित्य में आलंकारिक दरबारी कविता की शैली का सबसे अधिक विकास

हुआ है। इनमें कुछ कवितायें बहुत अधिक अलंकृत हैं।.....छन्दों की विविधता का समावेश करने की चेष्टा भी की गई थी। एक ही स्तोत्र में प्रत्येक पद्य के लिये एक नया छन्द चुनने का कवियों का प्रयास दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विचित्र बात यह है कि कई स्तोत्र एक साथ अनेक भाषाओं में लिखे गये और प्रायः प्रत्येक पद्य के लिये एक नयी ही भाषा चुनी गई। कहीं-कहीं तो एक ही पद्य में दो-दो भाषाओं का प्रयोग किया गया।”

स्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों की छाप पौराणिक साहित्य में अपना नया स्थान रखती है। जैन स्तोत्रों में दार्शनिकता की छाप पड़ी अवश्य है किन्तु ऐसे स्तोत्रों की संख्या अत्यन्त न्यून है। संक्षेप में इस स्तोत्र-साहित्य के द्वारा एक ओर तो धार्मिकता के विकास में सहायता मिली दूसरी ओर मुक्तक काव्य के विकास में तथा अलंकारिक रचना की दिशा में भी पर्याप्त सहायता मिली और यह विशाल काव्य-राशि अग्रिम युग में मुक्तक काव्य के क्षेत्र में धार्मिकता को प्रधानता देने में पर्याप्त साधक सिद्ध हुई, इसमें सन्देह नहीं।

हिन्दी धार्मिक काव्य परम्परा

हिन्दी काव्य-काल में स्तोत्र परम्परा समाप्तप्राय हो गई। दो-चार साहित्यिक स्तोत्र लिखे अवश्य गए किन्तु उनका समावेश या तो प्रबन्ध काव्यों में यथास्थान कर दिया गया या साम्प्रदायिक कीर्तन संग्रहों में उन्हें स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में स्तोत्रों के स्थान पर विनय पदों, गीतों और फुटकर पद्यों के लिखने की प्रवृत्ति रही। इन्हीं के माध्यम से कवि आत्म-निवेदन किया करता था।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है यह काल दार्शनिक विचारधारा के विकास का रहा है। आचार्य शंकर ने जिस ब्रह्मवाद, मायावाद और विवर्तवाद का प्रतिपादन किया था उसका प्रतिरोध अनेक आचार्यों ने किया और इस आधार पर अनेक वाद चलित हुए। भक्ति के विकास के लिए शंकर का सर्व-ब्रह्मवाद उपयुक्त नहीं था, इसीलिए कुछ न कुछ भेद की कल्पना आवश्यक थी, जिसकी पूर्ति बाद के दार्शनिक सम्प्रदायों में हुई किन्तु शंकर के ब्रह्मवाद और मायावाद से सर्वथा पीछा नहीं छूटा और कवियों की वाणी में समय-समय पर इसका प्रस्फुटन होता ही रहा। रामानुज, माध्व और निम्बार्क के सिद्धान्तों का परिचय दिया ही जा चुका है। तत्कालीन धार्मिक साधना में इन आचार्यों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। इनके कार्य को और आगे बढ़ाने का स्तुत्य कार्य तीन अन्य आचार्यों द्वारा सम्पन्न हुआ—वे थे चैतन्य, रामानन्द और वल्लभाचार्य। चैतन्य महाप्रभु ने निम्बार्क के सिद्धान्त का आधार लेकर पूर्व में राधा कृष्ण की भक्ति का पर्याप्त प्रसार किया और माध्यम के रूप में जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदों का प्रयोग किया। ये पद्य संकीर्तन गोष्ठियों में गाते थे, जिससे जनता मुग्ध होकर इनके सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट होती थी। रामानन्द ने विष्णु तथा नारायण के स्थान पर रामावतार तथा राम की भक्ति

पर बज दिया । इन्होंने अपने सिद्धान्तों का हिन्दी में प्रचार किया था । अतएव भक्ति के सिद्धान्त की जड़ जम गई और राम का मर्यादारूप सर्व-साधारण का आकर्षण केन्द्र हो गया । वल्लभाचार्य का आभिर्भाव तेलगू प्रदेश में हुआ था । इन्होंने कृष्ण को ब्रह्म माना और राधा को उनकी पत्नी । गोलोक में स्थित वृन्दावन-धाम में उनकी लीलायें नित्य हुआ करती हैं । परम पद प्राप्त करने के लिए भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना परम आवश्यक है । यह अनुग्रह भगवान् की लीलाओं में आनन्द लेने और उनका कीर्तन करने से ही प्राप्त किया जा सकता है । वल्लभाचार्य ने भगवदनुग्रह प्राप्ति को पुष्टि-मार्ग की संज्ञा प्रदान की । इस प्रकार इन महात्माओं के प्रभाव से सूर्य, अग्नि इत्यादि वैदिक देवता और ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि पौराणिक देवताओं का स्थान राम और कृष्ण ने ले लिया और अब भक्ति भावना की अभिव्यक्ति राम और कृष्ण के प्रति की जाने लगी । यद्यपि कहीं-कहीं पुराने देवताओं के प्रति भक्ति की अभिव्यञ्जना भी दृष्टिगत होती है, किन्तु यह परिमाण में इतनी न्यून है कि इसे हम समय की सामान्य प्रवृत्ति नहीं कह सकते ।

पहले बतलाया जा चुका है कि उपास्य की महत्ता, आत्म-निवेदन और आध्यात्मिकता स्तोत्र-साहित्य के प्रधान तत्त्व थे । हिन्दी काव्य काल की धार्मिक साधना में भी यही तत्त्व प्रधान बने रहे । किन्तु इनके रूप में अन्तर आ गया । अभी तक भगवान् के बाह्य रूप और बाह्य शक्ति का वर्णन किया जाता था अब भगवान् की व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, माया पर ईश्वरता, भक्तत्राणकारिता इत्यादि तत्त्वों का वर्णन होने लगा । इसके साथ ही कवि अपनी हीनता का भी वर्णन करते नहीं थकता था । भगवान् के समस्त गुणों में जिस गुण का उल्लेख हुआ है वह है भक्तों की आर्ति को उन्मूलन करने की शक्ति तथा उनमें अपराधों के क्षमा करने की शक्ति । इसके लिये पुराणों की कथा के आधार पर सैकड़ों पापियों की नामावली गिनायी जाने लगी और भगवान् से उसी निदर्शन पर उद्धार करने की प्रार्थना की जाने लगी । भगवान् उसी का उद्धार करते हैं जो बड़े से बड़ा पापी होता है । इसके लिये अपने पाप की पराकाष्ठा दिखलाई जाने लगी और जिन पापियों का उद्धार भगवान् ने किया था, उनको अपनी तुलना में कम पापी बतलाया जाने लगा । दूसरा तत्त्व था भगवान् से कुछ याचना करना । अभी तक भगवान् से लौकिक सुख-भोग की याचना की जाती थी अब मोक्ष तथा परम-पद की याचना की जाने लगी । कहीं-कहीं मोक्ष को भी नीचा बतलाकर केवल भक्ति की ही प्रार्थना की जाती थी । भक्ति जिसका अन्त न हो, जिसका कोई उद्देश्य न हो और जिसमें कभी विश्राम न हो । इस विषय में सख्य प्रेम का विशेष महत्त्व रहा । कभी-कभी भगवान् के पतितोद्धारक विरुद्ध को चलेन्ज दिया जाता था, कभी-कभी उद्धार करने में विलम्ब के कारण भगवान् के प्रति खीभ प्रकट की गई और भक्ति करने की दृढ़ता प्रकट की गई ।

संसार की असारता और भगवत्तत्त्व की महत्ता बतलाकर कभी-कभी सर्वसाधारण को उपदेश दिया गया और उन्हें विषय-वासनाओं को छोड़कर भगवत्तत्त्व में लीन होने की प्रेरणा भी प्रदान की गई ।

वैदिक काल से ही कविता के द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति चली आ रही थी । ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ तथा नासदीय सूक्त इस प्रवृत्ति के निदर्शन हैं । उपनिषदों में यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ी और अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करने के लिये कविता का आश्रय लिया गया । जैन-बौद्ध साहित्य में भी सिद्धान्त-प्रतिपादनपरक मार्गणा, स्थान इत्यादि का वर्णन मिलता है । यह प्रवृत्ति इस काल में भी बनी रही । गम्भीर तत्त्व विवेचनपरक पद तथा गीत इस काल में भी लिखे गये । इनमें ईश्वर, जीव, माया, प्रकृति इत्यादि का वास्तविक स्वरूप, इनका परस्पर सम्बन्ध इत्यादि का कवित्वमय शैली में प्रतिपादन होता है और उनका पर्यवसान भक्ति में कर दिया जाता है । इस काल की दूसरी सर्वसामान्य विशेषतायें हैं गुरु की महिमा का वर्णन और भेदभाव का निराकरण । बिना गुरु की कृपा के किसी का निस्तार नहीं हो सकता । इस साधन मार्ग पर आने का सभी को अधिकार है चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, चाहे ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज । भगवान् का ध्यान सभी को पवित्र करने वाला है । इस प्रकार इस धर्म साधना के द्वारा एक ओर असहाय हिन्दू-जाति को एक सहारा मिला, दूसरी ओर संगठन का भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो गया ।

जयदेव ने गीत गोविन्द के प्रारम्भ में “जय जगदीश हरे” और “जय-जय देव हरे” इन शीर्षकों से दो स्तोत्र लिखे हैं । प्रथम स्तोत्र में भगवान् के १० अवतारों का वर्णन किया गया है और दूसरे स्तोत्र में भगवान् के सौन्दर्य, सामान्य विभूति और शक्ति का वर्णन अधिगत होता है । कविवर विद्यापति ने अपने रसात्मक मुक्तकों का विषय राधा-कृष्ण को बनाया था और भक्ति का आलम्बन भगवान् शंकर को । इनका अधिक समय शृंगारिक कविता बनाने में बीता था । किन्तु सम्भवतः जीवन के अन्तिम भाग में विरक्त होकर ये शिवाराधनपरक कवितायें करने लगे थे । मिथिला में इनकी बनाई हुई वानियों और नचारियों के गाने की बहुत प्रथा है । नचारियों का एक-एक शब्द आनन्द से भरा हुआ है । इसी को भक्त लोग गा-गाकर आनन्द से पागल हो जाते हैं । वहां स्त्री, पुरुष, कन्या, बालक सभी प्रकार के लोग इन्हें गाते हैं । निस्सन्देह जो पवित्र और मर्यादापूर्ण चित्रण हमें शिव-पार्वती के प्रसंग में प्राप्त होते हैं वे राधा-कृष्ण के प्रसंग में नहीं मिलते । इन प्रार्थनाओं और नचारियों में भगवान् शिव का अधम-उद्धारण विरुद्ध और अपने दोष तथा पापों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है तथा यम के दरवाजे पर जब यम के किकर क्रोध के साथ उठावें और जीवन के कर्मों का उत्तर मांगें उस समय यम के बन्धन से छुड़ा लेने की प्रार्थना की गई है क्योंकि भगवान् शिव ही अशरण-शरण हैं । इसी प्रकार भगवती

दुर्गा की अभूतपूर्व शत्रु-संहारिणी शक्ति का वर्णन किया गया है तथा युद्ध में उनकी सुन्दरता का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार देवी जी की सामान्य सुन्दरता का वर्णन करते हुए उनसे वर देने की प्रार्थना की गई है।

सूरदास ने सूरसागर के प्रथम और द्वितीय स्कन्धों में विनय के पद लिखे हैं तथा अन्यत्र भी इस प्रकार के पद बिखरे हुए हैं। इन पदों में सूर ने स्मरण, भगवद्भजन और कीर्तन पर अधिक बल दिया है। नाम-स्मरण के प्रभाव से जितने भक्त तर गये उनका वर्णन करते हुए सूरदास जी नहीं थकते “जो लोग राम नाम की आड़ लेते हैं उनका भगवान् अवश्य उद्धार करते हैं।” सूर ने सैकड़ों पदों में शरणागति से तरने वालों का वर्णन किया है तथा भगवान् से अपने को तारने की प्रार्थना की है और इस बात पर दुःख प्रकट किया है कि सबको तारने वाले भगवान् इस प्रकार सूर के अवसर पर अपने विरुद्ध को भूल गये। कहीं-कहीं भगवान् के विरुद्ध को लल-कारा भी है और यह भी कहा है कि भगवान् तब तक पतित-पावन नहीं कहे जा सकते हैं जब तक सूर का उद्धार नहीं करते। सूर के लिये कृष्ण-कीर्तन ही जप-तप, ज्ञान, ध्यान, तीर्थाटन इत्यादि सभी कुछ है यद्यपि सूर कृष्ण के अनन्य भक्त हैं तथापि ये राम और कृष्ण को एक ही मानते हैं। प्रायः प्रत्येक प्रार्थना में कृष्ण के साथ राम को भी सम्मिलित किया गया है और रामावतार की विशेषताओं की ओर भी संकेत पाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् के दूसरे अवतारों की ओर भी संकेत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सूर ने कृष्ण का शिव रूप में भी ध्यान किया है। सूर की भक्ति-साधना में भय है, व्याकुलता, पश्चात्ताप, दैन्य, भर्त्सना इत्यादि का बहुत बड़ा महत्त्व है। “हृदय की कबहुन जरनि घटी”, “अबकी राखि लेहु भगवान्”, “कीजै प्रभु अपने विरद की लाज” इत्यादि पदों में सूर ने बड़ी ही दीनता और व्याकुलता प्रदर्शित की है तथा “कहा कमी जाके राम घनी”, “जब जब दीनन कठिन परी” इत्यादि पदों के द्वारा मन को आश्वस्त भी किया है। स्वसाधना के अतिरिक्त सूर ने दूसरों को भक्ति का उपदेश भी पर्याप्त मात्रा में दिया है—“भगति बिनु बल बिराने ह्वै ही”, “रे मन मूरख जनम गवायो” इत्यादि पदों में मानव जीवन की सफलता इसी बात में बतलाई गई है कि जन्म लेकर भगवद्भक्ति करे। जो भगवान् की भक्ति करता है, उससे बड़ा संसार में कोई नहीं। जो भगवान् की भक्ति नहीं करता है उसके सारे गुण व्यर्थ हैं। “रावण गर्व ही गर्व में गल गया और सुदामा भगवान् के समान हो गये, सीता जीवन भर वियोग में ही जलती रही और कुब्जा ने कृष्ण जैसा वर पाया। शंकर से बढ़कर कौन योगी होगा, जिनको कामदेव ने छल लिया और नारद से बढ़कर कौन विरक्त होगा जो घूमते ही फिरते रहे। दूसरी ओर अजामिल से बढ़कर कौन पापी होगा किन्तु भगवद्भक्ति के प्रभाव से वहां यमराज जाते हुए भी डरता था।” भक्ति के उपदेश के अतिरिक्त सूरने दार्शनिक सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला है। वे भगवान् को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में मानते हैं। भगवान् षट-षट व्यापक हैं वे अपूर्व

ज्योति स्वरूप हैं। उनके विराट् रूप का वर्णन चार, पांच और छः मुख से किया जाता है तथा शेषनाग तो सहस्र मुख से उनका गुण-गान करते हैं परन्तु पार नहीं पाते। जब तक सत्य स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता तब तक कस्तूरी मृग के समान भटकना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दर्शनों की पद्धति पर माया, जाव तथा भ्रम से उनके सम्बन्ध के विषय में अनेक पद्य आये हैं। सूर ने माया को भुजंगिनी, नटिनी इत्यादि अनेक गहिर्त नामों से पुकारा है। सूर पुष्टि मार्ग के अनुयायी हैं और उसी आदर्श पर उनकी प्रवृत्ति सगुण लीला गान की ओर है। वे शुद्ध द्वैतवादी होने के कारण जगत्, जीव और ब्रह्म की तात्त्विक एकता के समर्थक हैं, परन्तु जीव और ब्रह्म का भेद भी स्वीकार करते हैं। वे ज्ञानी की भांति निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर बूंद और समुद्र की भांति एकाकार परिणति नहीं चाहते अपितु मुक्त जाव के साथ नित्य लीला में प्रवेश कर ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ परम आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। सूर तुलसी की भांति ज्ञान को भी परमपद का साधक नहीं मानते। सूर के मत में प्रेम-लक्षणा भक्ति ही सब कुछ है। यह प्रेम-लक्षणा भक्ति जगत् से विरक्ति तथा भगवदासक्ति पर आधारित है। वल्लभ से पूर्ववर्ती आचार्य विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप की उपासना पर जोर दिया था, जिसका अनुसरण कर प्रारम्भ में वल्लभ सम्प्रदाय में बालरूपोपासना ही प्रमुख रहा। बाद में सहजिया तथा शाक्त सम्प्रदायों के प्रभाव से गोपाल के साथ राधा-कृष्ण की काम-कला का समावेश हो गया और पुष्टिमार्गीय भक्तों में भगवान् के मधुर रूप की ही उपासना प्रधान हो गई। सूर में हमें दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। सूर साधना के आध्यात्मिक पक्ष में हमें कहीं-कहीं वल्लभेतर सम्प्रदाय की भी झलक दिखाई पड़ती है।

तुलसी की धर्म-साधना में विनय-पत्रिका का प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त कवितावली के उत्तरकाण्ड तथा दूसरे स्थानों पर भी यत्र-तत्र तुलसी की भक्ति साधना दृष्टिगत होती है। विनय-पत्रिका में तुलसी ने विभिन्न देवी-देवताओं से प्रार्थना की है और उनसे राम-भक्ति का वरदान मांगा है। इस ग्रंथ में तुलसी अपनी हीनता और राम की महत्ता कहते नहीं सकते। निस्संदेह तुलसी की धर्म-साधना में इस ग्रंथ का अभूतपूर्व स्थान है। तुलसी की पुस्तकों को देखने से ज्ञात होता है कि इनका दर्शन-शास्त्र का अध्ययन बहुत गम्भीर था। विनय-पत्रिका में स्तुति, आत्मबोध और आत्म-निवेदन के बीच गोस्वामी जी ने अद्वैतवाद के गम्भीर सिद्धान्तों को काव्यमय सबल भाषा में प्रतिपादित किया है। उनका “केशव कहि न जाइ का कहिये” वाला पद इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह एक विवादग्रस्त विषय है कि तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी थे अथवा अद्वैतवादी। निस्संदेह अन्य क्षेत्रों के समान तुलसी इस दिशा में समन्वयवादी हा थे। आचार्य गुल ने इनको रामानुज का अनुयायी माना है क्योंकि उनका निरूपित सिद्धान्त ही भक्तों की भावना के अनुकूल दिखलाई पड़ता है। संक्षेप में तुलसी की धर्म-साधना समन्वयवादी है।

उन्होंने राम का अनन्य भक्त होते हुए भी अन्य देवों की उपेक्षा नहीं की है। किन्तु अन्य देवों से राम-भक्ति का ही वरदान मांगा है। इनकी भक्ति-साधना में वे सब तत्त्व सन्निहित हैं जो सूरदास में दिखलाये गए हैं। संसार की असारता, अपने दोष, भगवान् की महत्ता, अपराधक्षमापन, उद्धार की प्रार्थना, भक्तों के निदर्शन इत्यादि सभी तत्त्व तुलसी में भी पाये जाते हैं। केवल इनमें समन्वय की भावना विशेष है।

जहां सूर ने लीलागान तक ही अपने को सीमित रखा है, विभिन्न दार्शनिक मतवादों का विवेचन कर स्वतन्त्र मत स्थापित करने की चेष्टा सूर के प्रयत्न क्षेत्र से सर्वथा बाह्य है, वहां तुलसी ने चिन्तन के द्वारा अनेकों दार्शनिक मतों की परीक्षा कर अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करने की चेष्टा की है। तुलसी विरति और विवेक से संयुक्त भक्ति के ही समर्थक हैं जो कि श्रुति-सम्मत हो। वे ज्ञान को भी मुक्ति का साधन मानते हैं, किन्तु भक्ति से घट कर। तुलसी के वाक्यों में स्थान-स्थान पर शंकर के मायावाद, भ्रमवाद, सर्व ब्रह्मवाद और अभेदवाद इत्यादि सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर रामानुज के अनुसार द्वैत को स्वीकार कर ब्रह्म के सीता-राम रूप में मान रहना चाहते हैं। राम, नुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ इत्यादि ने मायावाद का खण्डन कर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। इसके प्रतिकूल तुलसी दोनों वादों में सामंजस्य स्थापित करते हुए माया द्वारा जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तथा ज्ञान द्वारा ही उसकी भ्रमरूपता की पहिचान सम्भव मानते हैं। जब जीव जगत् को भ्रम रूप मान लेता है तभी वह जगत् से विरत होकर मायापति के चरणों में अपने को आबद्ध करने के लिये आतुर हो जाता है। यही भक्ति है। अतः तुलसी के मन में ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के विरुद्ध नहीं। दोनों एक लक्ष्य तक पहुंचाने के साधन हैं। किन्तु ज्ञान का मार्ग दुस्तर तथा अनेक विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण है, जबकि भक्ति का मार्ग विघ्न-बाधा रहित अधिक श्रेयस्कर मार्ग है। शंकर के मत में मायोपाधि-परिवेष्टित ब्रह्म ही साकार ईश्वर है। इसके प्रतिकूल तुलसी सच्चिदानन्द भगवान् का मायावेष्टन ही असम्भव मानते हैं। वे माया को भगवान् की शक्ति मानते हैं, जिसके आश्रय से भगवान् स्वतः साकार रूप में प्रकट हैं। राम साक्षात् ब्रह्म हैं और सीता माया है। तुलसी ने विनयपत्रिका में राम को अद्वैत, अव्यक्त, अनघ, निस्सीम, निरुपाधि इत्यादि अनेक विशेषण दिये हैं और जगत् को मिथ्या तथा भ्रममय बतलाया है। यह भ्रम सत्य रूप में भासित होता रहता है जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती 'जद्यपि मृषा सत्य भासे जब लगि नहि कृपा तुम्हारी।' दुःख का कारण द्वैत बुद्धि है :—

जो निज मन परिहरै विकारा ।

तो कत मोह जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ।

इसी प्रकार :—

कहि न जात मृग बारि सत्य भ्रम ते दुख होइ विसेखे ।

मुभग सेज सावत सपने बारिधि बूड़त भय लागे ।

कोटिहुं नांव न पार पाव सा जब लगि आपु न जागे ।

+ + + +

तुलसीदास सब विधि प्रपञ्च जग जवपि भूठ भुति गावे ।

रघुपति भगति संत संगति बिनु को भव त्रास नसावे ॥

तुलसी की भक्ति की आध्यात्मिकता का यही संक्षिप्त परिचय है ।

अष्ट छाप के प्रायः समस्त कवियों ने भगवद्भक्ति की महत्ता तथा वैराग्य की भावना अभिव्यक्त की है । नन्ददास का भ्रमर गीत इस दिशा में अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है । इसके अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में इस प्रकार के पद्य सम्मिलित किये गये हैं ।

कृष्ण-भक्ति शाखा के दूसरे कवियों ने भी भगवान् की खीला के वर्णन के साथ-साथ भगवद्भक्ति, आत्म-निवेदन और आध्यात्मिक तत्त्व पर कुछ पद्य लिखे हैं । इनमें प्रमुख हैं—हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, सूरजदास, मदनमोहन, श्री हरिराम जी व्यास, रसखान, ध्रुवदास इत्यादि । इसी प्रकार राम-भक्ति शाखा वालों ने भी इसी क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया है । स्वामी अग्रदास जी ने ध्यान मंजरी, राम ध्यान मंजरी, कुण्डलियां—इन पुस्तकों में भगवान् के ध्यान पर पद्य लिखे हैं । नाभा दास जी ने केवल भगवद्भक्ति के विषय में ही नहीं, भगवद्भक्तों के विषय में भी भक्तमाल लिखा है । इससे हम भक्तों के विषय में बहुत कुछ ज्ञात कर सकते हैं ।

तात्त्विक विवेचन की दिशा में निर्गुण सम्प्रदाय वालों का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । विनय और प्रार्थना, योगाम्बास, नाम महिमा, माया विषयक सिद्धांत, अद्वैतवाद, गुरु महिमा, सत्संगति का उपदेश इत्यादि विषय निर्गुण धारा वालों में प्रमुख हैं । इस सम्प्रदाय वालों ने बाह्याडम्बर इत्यादि का निर्ममतापूर्वक खण्डन किया है । ये भक्त गण अन्तः साधना को ही प्रमुख मानते थे । कबीर ने अद्वैतवाद और सूफी मत को मिलाकर अपना जो सम्प्रदाय चलाया था उसी का प्रतिफलन उनकी रहस्यात्मक भावना में हुआ है । किन्तु इनका प्रभाव बिहारी पर नहीं के बराबर पड़ा अतएव यहां पर इनका परिचय नहीं दिया जायगा । इसी प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय के दूसरे कवि नानक, दादू, धर्मदास (कबीर के शिष्य), मलूक दास (दादूदयाल के शिष्य) इत्यादि निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों का मुक्तक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है । किन्तु इनका भी प्रभाव बिहारी पर नहीं पड़ा है, अतएव इनका भी विस्तृत परिचय नहीं दिया जायगा ।

धार्मिक साधना के क्षेत्र में कुछ कार्य उन कवियों का भी है, जिन्होंने धार्मिक क्षेत्र से बाहर रहकर रचना की । केशव की विज्ञान गीता प्रसिद्ध ही है । इसके अतिरिक्त अन्य कवि भी साहित्य साधना के बीच में भक्ति काव्य की दिशा में

योगदान देते रहे । उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

(१) धार्मिक काव्य रचना का सूत्रपात वैदिक काल से ही हुआ था ।

(२) यास्क के अनुसार धार्मिक काव्य के तीन रूप थे—आराध्य की महत्ता का वर्णन, किसी वस्तु की याचना और किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन ।

(३) बौद्ध और जैन धर्म के संघर्ष में स्तोत्र साहित्य का पर्याप्त विस्तार हुआ ।

(४) पौराणिक काल में वैदिक देवता छूट गए और उनके स्थान पर ह्मा, विष्णु, महेश की स्थापना हो गई ।

(५) पौराणिक युग के बाद भारतीय राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों के साथ धर्म-साधना के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ । ब्रह्मा, विष्णु, महेश का स्थान राम और कृष्ण ने लिया । इस काल में राम और कृष्ण की भक्ति प्रधान हो गई ।

(६) इस काल के धार्मिक काव्य में निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं :—

(अ) भगवान् की बाह्य शक्ति तथा सौन्दर्य के वर्णन के साथ शरणागत-वत्सलता पर विशेष बल दिया गया है । इस प्रसंग में अनेक पौराणिक कथाओं की ओर संकेत किया गया है, जिनमें भगवान् ने शरणागतों का उद्धार किया है । व्याध, गीध, अजामिल इत्यादि उनमें प्रधान हैं ।

(आ) जिन भक्तों का भगवान् ने उद्धार किया, उनसे अपने पापों की तुलना की गई है और स्वयं को अधिक पापी बतलाया गया है ।

(इ) भगवान् को पापियों का उद्धार करने वाला और अपने को पाप करने वाला कहा गया है और अपने-अपने क्षेत्र में भगवान् से होड़ लगाई गई है ।

(ई) भगवान् से उद्धार की प्रार्थना की गई है और अपने कर्मों को निकृष्ट कोटि का स्वीकार करते हुए उनकी उपेक्षा करने की प्रार्थना की गई है ।

(उ) अपने उद्धार करने पर ही भगवान् के विरुद्ध की सार्थकता बतलाई गई है ।

(ऊ) नाम-स्मरण, कीर्तन और पूजन पर विशेष बल दिया गया है ।

(ए) बाह्याडम्बरों की निन्दा की गई है और सच्ची भगवद्भक्ति से ही परमात्मा की प्रसन्नता का प्रतिपादन किया गया है ।

(ऐ) तीर्थाटन इत्यादि को भक्ति के सामने तुच्छ बतलाया गया है ।

- (श्रो) समस्त धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया गया है और भक्ति के क्षेत्र में सभी को एक सा अधिकारी बतलाया गया है ।
- (श्री) भक्ति के स्तोत्रों में भय, व्याकुलता, पश्चात्ताप, दैन्य, भर्त्सना इत्यादि का बहुत बड़ा महत्त्व है तथा भगवान् की कृपा के बल पर आश्वस्त होने का वर्णन किया गया है ।
- (अं) सर्वसाधारण की भौतिकतामयी प्रवृत्ति पर खेद प्रकट किया गया है और विरक्ति का उपदेश दिया गया है ।
- (अः) धर्म-साधना में दार्शनिकता का भी पर्याप्त पुट दिया गया है । भगवत्स्वरूप, जीव, माया, प्रकृति इत्यादि का स्वरूप और इनके परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है । यही धर्म-साधना का संक्षिप्त परिचय है ।

सूक्ति काव्यः

सूक्ति काव्य का मूल उदय हमें ऋग्वेद में ही अधिगत होता है । ऋग्वेद तथा दूसरे वैदिक सूक्तों में हमें अनेक स्थानों पर सदाचार का प्रतिपादन प्राप्त होता है । लोक का उल्लेख किया गया है और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर अनेक सूक्तियां कही गई हैं । यद्यपि सूक्ति साहित्य में भी शक्ति ही अपेक्षित होती है जो ज्ञान के साहित्य से उसे पृथक् करती है तथापि इसमें रस-चर्वणा अपेक्षित नहीं होती । न तो इसमें विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव का परिपोष होता है, न व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा साधारणीकरण किया जाता है और न वेद्यान्तर स्पर्श शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर आस्वादन के द्वारा मधुमती भूमिका में पहुँचाने की चेष्टा की जाती है । किन्तु सूक्ति काव्य में शक्ति का एक मात्र साधन होता है उक्ति-वैचित्र्य । इसीलिये आनन्दवर्धन ने सूक्ति काव्य में अलंकारों की प्रधानता मानी है । अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप में प्रभाव जमाने के मन्तव्य से होता है । सूक्ति-काव्य में अलंकार वस्तु के ही होते हैं और उसे ही अलंकार कहते हैं ।

सूक्ति-मुक्तक-परम्परा हमें वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों में भी समुपलब्ध होती है । इस प्रकार के ग्रन्थों के लिखने का मुख्य प्रयोजन यज्ञ विधि का प्रतिपादन और वैदिक मन्त्रों का यज्ञों में विनियोग ही था । किन्तु यत्र-तत्र बिखरे हुए उपाख्यानो के बीच कहीं-कहीं इस प्रकार की सूक्तियां संकलित की गई हैं । यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम है तथापि इन से इस बात पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि इस प्रकार की सूक्तियों का अत्यन्ताभाव कभी नहीं हुआ । उन सूक्तियों की भाषा कुछ अधिक प्राचीनता लिये हुए है । किन्तु कुछ अपवादों के साथ यह पाणिनीय संस्कृत ही कही जायगी । यत्र-तत्र अलंकारों का प्रयोग बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है जो वर्ण्य विषय को अधिक प्रभावशाली बना देता है । जहाँ कहीं कथावस्तु के अन्दर इस प्रकार की सूक्तियां जोड़ी गई हैं वहाँ वे बहुत ही उचित प्रतीत होती

हैं और कयावस्तु के कारण प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित को वरुण को प्रदान करने के लिए वचन-बद्ध हैं। किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण उसे वन को भेज देते हैं और इस प्रकार वरुण के कोपभाजन बनते हैं। जब वन में पुत्र पिता की दुर्दशा का वर्णन सुनता है तब वह घर लौटकर पिता को वरुण के कोप से छुड़ाने के निमित्त आत्म-समर्पण कर देने के लिये उद्यत हो जाता है। उस समय इन्द्र उसे उद्यम की प्रशंसा कर रोकने की चेष्टा करते हैं। एक-एक सूक्ति के द्वारा रोहित एक-एक वर्ष के लिए रुक जाता है। उद्यम की प्रशंसा बड़ी ही सबल और सालंकार भाषा में की गई है:—

“हे रोहित, हमने सुना है कि जो व्यक्ति पूर्ण रूप से श्रान्त नहीं होता उसे सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। जो आराम से लेटे रहने वाला व्यक्ति है वह पापी होता है। इन्द्र सर्वदा विचरण करने वाले (उद्यमशील) के ही मित्र होते हैं।” (ऐतरेय ब्राह्मण)

“जो व्यक्ति बैठा रहता है उसको प्रतिष्ठा भी बँठी रहती है। जो उठ खड़ा होता है, उसकी प्रतिष्ठा भी उठ खड़ी होती है, जो सो जाता है उसकी प्रतिष्ठा भी सो जाती है और जो चलता फिरता रहता है उसकी प्रतिष्ठा भी चलती फिरती रहती है।”

“सोने वाले के लिए कलियुग होता है। उठकर बैठने वाले के लिए द्वापर होता है, खड़े होने वाले के लिए त्रेता होता है और विचरण करने वाले के लिए सत्ययुग होता है।”

“विचरण करते हुए व्यक्ति मधु प्राप्त कर लेता है, विचरण करते हुए स्वादिष्ट उदुम्बर प्राप्त करता है, सूर्य के परिश्रम को देखो जो कि विचरण करते हुए कभी तन्द्रा को प्राप्त ही नहीं होता।” (ऐतरेय ब्राह्मण)।

इसी प्रकार माला-दीपक के द्वारा पुत्र की प्रशंसा की गई है:—

“अन्न ही प्राण है, शरण ही निवास स्थल है, रूप ही स्वर्ण है, पशु ही परिग्रह है, स्त्री ही मित्र है, पुत्री ही दयास्पद है और विशाल आकाश में पुत्र ही प्रकाश है।”

ब्राह्मण ग्रन्थ प्रधानतया यज्ञ-विधिपरक हैं और यज्ञों का मन्तव्य लोकैषणा ही होता है। अतएव इन सूक्तियों में सर्वत्र लोकैषणा ही प्रधान है। लौकिक सुख-शान्ति और सफलता के लिए आवश्यक तथा उपयोगी गुणों पर विशेष बल दिया गया है और उनको लौकिक दृष्टिकोण से ही समझाने की चेष्टा की गई है।

वैराग्यपरक सूक्तियों का प्रारम्भ हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। स्पष्ट ही है कि इन ग्रन्थों का प्रणयन एक और तो ब्राह्मण ग्रन्थों की मर्यादातीत लौकिकता और प्रवृत्तिपरता के प्रतिरोध में हुआ था और दूसरी ओर आरण्यकों के ठीक उत्तराधिकारी होने के कारण इनका उपयोग भी वृद्धावस्था के लिए विशेष माना

जाता था। अतएव इनमें वैराग्य का स्वर मुखर हो उठना स्वाभाविक ही है। इन ग्रन्थों में जहां एक ओर अनेक अलंकारों के माध्यम से ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है, उसके समुण, निर्गुण रूपों की व्याख्या की गई है, आत्म-स्वरूप का विवेचन किया गया है और साथ ही सबल भाषा में संसार से विरक्ति का उपदेश दिया गया है तथा प्रेय मार्ग को गर्हित बतलाकर श्रेय मार्ग की प्रशंसा की गई है वहां दूसरी ओर इन अध्यात्मविषयक निबन्धों के बीच लोक-व्यवहारोपयोगी सदाचारपरक सूक्तियां जोड़ दी गई हैं जिससे उपनिषदों की ज्ञानपरता के साथ-साथ व्यवहार पक्ष का भी प्रत्याख्यान नहीं हुआ है और उपनिषद् शब्दावहारिकता के दोष से बच जाते हैं। इन व्यवहारोपयोगी पद्यों को हम मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सूक्ति साहित्य में सन्निविष्ट कर सकते हैं। कहीं-कहीं सदाचार के उपदेश के लिए गद्य की शैली भी अपनाई गई है और इसके लिए छोटे-छोटे कथानक भी दिए गये हैं। इन उपदेशों में दान, दया, आर्जव, सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या, अनवलपितता इत्यादि का बड़ी ही मनोरम शैली में प्रतिपादन किया गया है और आत्मसंयम की पूर्ण शिक्षा दी गई है। कठोपनिषद् में रूपक और उपमा के संकर के द्वारा विवेक की प्रशंसा की गई है। “विद्वान् लोग इन्द्रियों को छोड़ा बतलाते हैं, विषय उनके मार्ग हैं, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता है। जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट घोड़े उसके वश में नहीं रहते उसी प्रकार जिस व्यक्ति में विशेष ज्ञान नहीं होता और जिसका चित्त भी असंयत होता है, उसकी इन्द्रियां भी उसके वश में नहीं रहतीं। इसके प्रतिकूल जो विशेष ज्ञान से युक्त होता है और जिसका चित्त समाहित होता है उसकी इन्द्रियां इसी प्रकार उसके वश में हो जाती हैं, जिस प्रकार विज्ञ सारथि के अच्छे घोड़े उसके वश में बने रहते हैं।” इसी प्रकार देवयान मार्ग की कल्पना की गई है और उससे जाने के लिये सत्य मार्ग की अनिवार्यता घोषित की गई है तथा विजय का साधन भी एकमात्र सत्य को ही बतलाया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य के साथ शम, दम, तितिक्षा इत्यादि का भी महत्त्व बतलाया गया है। तात्तरीयोपनिषद् में गद्य में समस्त आचार-शास्त्र का सारभूत अंश संकलित कर दिया गया है। इन ग्रन्थों में अलंकार अत्यन्त स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। कहीं भी अलंकारों के लिये अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। अलंकारों का उद्देश्य विषय का स्पष्टीकरण ही रहा है और कहीं-कहीं शक्ति के संचार के लिये अलंकारों का उपादान किया गया है। प्रधान रूप से काव्यलिंग, परिकर, दीपक और रूपक का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं माला रूप में भी इन अलंकारों का उपादान हुआ है। निम्नलिखित पद्य विरोधाभास का अच्छा उदाहरण है :—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैवदेवा आ प्नुवन् पूर्वमर्षन् ।

तद्भाबतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपोमा तरिष्वाम दधाति ॥ (ईशावास्य०)

आत्मा एक है, यह चजता नहीं और इसकी गति मन से भी अधिक तेज है। यह पहले ही विद्यमान था और इसको देवता प्राप्त नहीं कर सके। यह स्थित रहता है और दौड़ने वाले सभी पदार्थों से आगे निकल जाता है। इसी प्रकार :—

अपाणिपादो जवन्तो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यचर्कणः ।

तथा अणोरणीयान् महतो महीयान् में भी विरोधाभास ही है ।

संक्षेप में इन सूक्तियों में सदाचार की प्रशंसा की गई है, सत्य, त्याग, उदारता, अहिंसा इत्यादि को अपनाने का उपदेश दिया गया है, कर्मशीलता के गीत गाये गये हैं और परमात्म-तत्त्व तथा पारलौकिकता का महत्त्व स्थापित करते हुए भा लौकिक सफनता की उपेक्षा नहीं की गई है। अलंकारों का चलता हुआ स्वाभाविक प्रयोग किया गया है। निस्सन्देह उानिषदों की ये सूक्तियां परवर्ती सूक्ति-साहित्य का कड़ी को जोड़ने वाली हैं और सूक्तियों की निरन्तरता की परिचायिका हैं।

पुराणों में सभी प्रकार की सूक्तियों का समाहार हुआ है। पुराण भारतीय काव्य-जगत् की समस्त प्रवृत्तियों को आत्मसात् किये हुए हैं और यूरोप के अनेक विद्वानों ने इनको भारतीय काव्य-जगत् की इन्साईक्लोपीडिया कहा है। वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में जो कुछ भी सन्निविष्ट हो सकता है, वह सब पुराणों में और विशेष रूप से महा-भारत में विद्यमान है। नीति सूक्तियों का भी पुराणों में पर्याप्त बाहुल्य है। ये नीति-सूक्तियां पुराणों में दो रूपों में आती हैं, एक तो कथोपकथन के अन्तर्गत किसी वक्ता के वचन के रूप में सन्निविष्ट कर दी गई हैं, दूसरे कहीं-कहीं पर नीति-सूक्तियों के लम्बे-लम्बे प्रकरण ही स्वतन्त्र रूप में इन ग्रन्थों में आ गये हैं। उदाहरण के लिये महाभारत में विदुर-नीति, श्रीमद्भागवत में धर्म का उपदेश और गरुड पुराण में अन्तिम दो-तीन अध्याय। इसी प्रकार प्रायः सभी पुराणों में सूक्ति-काव्य से सम्बद्ध कोई न कोई प्रकरण आ ही गया है। इन प्रकरणों के अतिरिक्त जहां-कहीं सामान्य रूप से कथापकथन के अन्तर्गत नाति-सूक्तियां आई हैं वे भी नीति-सूक्ति के रूप में स्वतन्त्र रचनाएं ही ज्ञात होता हैं। एक सूक्ति का अनेक स्थानों पर आ जाना इस बात का द्योतक है कि इस प्रकार की सूक्तियां सर्व-साधारण में प्रचलित रही होंगी और अनेक कथाकारों ने उनको यथास्थान सन्नि-विष्ट कर दिया होगा, जा बात ब्राह्मणधर्मानुयायी पुराणों के विषय में कही जा सकती है वही जैनानुमत पुराणों तथा बौद्धों के ललित-विस्तर इत्यादि ग्रन्थों के विषय में भी चरितार्थ होती है।

इन पौराणिक सूक्तियों का विषय बहुत व्यापक है। साधारण दिनचर्या की छोटी-छोटी बातों से लेकर राज-धर्म तथा मोक्ष-धर्म पर्यन्त सभी प्रकार के विषय इनमें अन्तर्भुक्त हो गये हैं और सभी वर्गों के व्यक्तियों के लिये इनका उपयोग सम्भव है। कथन अधिकतर साधारण भाषा में हैं। अलंकार भी अत्यन्त साधारण किन्तु प्रभावशाली हैं। किन्तु चमत्कार का प्राधान्य सर्वत्र पाया जाता है। कहीं-

कहीं सौन्दर्यपूर्ण साम्य-विधान ही चमत्कार का कारण बना है। अन्यत्र प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साहचर्य चमत्कार में निमित्त हुआ है और दूसरे स्थानों पर स्वाभाविक कथन चमत्कारकारक हुए हैं। साम्य-विधान के उपमा, रूपक, व्यतिरेक इत्यादि प्रायः सभी रूप इन सूक्तियों में पाये जाते हैं।

इन ग्रन्थों के विषय का यदि सामान्य रूप में विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस समस्त वर्णन में धर्म और अर्थ दोनों को समान महत्त्व प्रदान किया गया है। अधिकतर धार्मिक-सूक्तियों में भी स्वार्थ-लाभ का प्रत्याख्यान नहीं किया गया है और आर्थिक सूक्तियों में भी धार्मिकता का महत्त्व प्रतिष्ठित रखा गया है। धर्म के मार्ग पर चलने से तो कभी अकल्याण होता ही नहीं और धर्म की ओर प्रवृत्ति भी तभी सम्भव है जबकि पारलौकिक श्रेयोविधान के साथ-साथ लौकिक सुख, समृद्धि का भी पूर्ण आश्वासन प्राप्त होता है। किन्तु आर्थिक सुख-साधन के क्षेत्रों में यदि कहीं धर्म व्याघात उपस्थित करता हो तो धर्म को नमस्कार करने का ही उपदेश दिया गया है। वैसे तो अनृत सर्वदा हेय है किन्तु शत्रु से व्यवहार करने में “अपनी बाणी को नवनीत के समान कर ले, चित्त को निर्दय बना ले और शत्रु को ऐसा उपदेश दे, जिससे उसका वंश के सहित नाश हो जाय।” इन सूक्तियों में पण्डित और मूर्ख के लक्षण विस्तार से बतलाये गये हैं। इन लक्षणों का सारांश यह है, जो व्यक्ति अपने सांसारिक स्वार्थ को नष्ट कर लेता है अथवा जो व्यक्ति धर्म के विपरीत चलता है दोनों ही व्यक्ति मूर्ख हैं। इसके विपरीत पण्डित वह है, जो सांसारिकता में और धर्म के क्षेत्र में दोनों स्थानों पर सफलता प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः इन सूक्तियों में धार्मिक सूक्ति तथा आर्थिक सूक्ति इन दोनों का पृथक्-पृथक् विभाजन अत्यन्त कठिन है। सर्वत्र “धर्मार्थसहितं वचः” को ही महत्त्व दिया गया है। यहां तक कि आर्यशील के वर्णन में सांसारिकता का महत्त्व है और राजधर्म में भी धर्म को ही प्रधानता दी गई है। राजा के लिये काम-क्रोध का त्याग, पात्र में दान, शास्त्रज्ञता ये गुण अनिवार्य माने गये हैं। व्यसनों का त्याग उसके लिये परम आवश्यक है। “जो कर्म मिथ्या-उपेत हों और अनुचित उपायों से सिद्ध होने वाले हों उन कर्मों में मन नहीं लगाना चाहिये। इसी प्रकार अच्छे उपाय के द्वारा लोक विहित कर्म यदि सिद्ध न हों तो भी उस विषय में मन में मलीनता नहीं लानी चाहिये।” राजधर्म में सर्वदा शक्ति की उपेक्षा न करते हुए ही कर्म करना चाहिये। “जो ग्रास खाया जा सके, खाने पर जो सफलतापूर्वक पच भी जाए और परिणाम में भी हितकर हो वही ग्रास खाना चाहिए।” समय के अनुसार समझकर कर्म करने की प्रशंसा की गई है—“जो व्यक्ति वनस्पति के न पके हुए फलों को बीन लेता है उसे उनसे रस नहीं मिलता और उनका बीज भी नष्ट हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति पके हुए फलों को समय पर प्राप्त करता है वह फलों से रस प्राप्त करता है और बीज भी सुरक्षित रहता है।” प्रजा से धन लेने में अधिक

विवेक से काम लेना चाहिये। “जिस प्रकार भौरा पुष्पों की रक्षा करते हुए मधु ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार मनुष्यों से धन लेना चाहिये किन्तु उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। जिस प्रकार माली फूल-फूल चुन लेता है किन्तु जड़ नहीं काटता, इसी प्रकार धन ग्रहण करना चाहिये किन्तु प्रजा की रक्षा का ध्यान रखना चाहिये। इसके प्रतिकूल लकड़ी का कोयला बनाने वाले की भांति जड़ नहीं काटनी चाहिए। जिस राजा से प्रजावर्ग ऐसा भयभीत रहता है जैसे व्याघ्र से मृग डरा करते हैं उसको यदि सांगर पर्यन्त भी भूमि प्राप्त हो जाय तो भी शीघ्र ही हाथ से जाती रहती है।” केवल राजधर्म नहीं साधारण जनता के लिए भी सफलता की कुञ्जी बतलाई गई है। इसके लिए गुप्त-मन्त्रणा, विचारशीलता, इन्द्रियदमन, मद का अभाव इन बातों पर विशेष बल दिया गया है और विस्तारपूर्वक इनका विवेचन किया गया है।

धार्मिक क्षेत्र में अन्धविश्वास का निराकरण और बाह्य धर्म के प्रति अनास्था, जो कि हमें कबीर इत्यादि में पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है इन ग्रन्थों में भी विद्यमान है। महाभारत में भी अनेक पद्य इस आशय के पाये जाते हैं, जिनमें तीर्थाटन, देवपूजन, गंगा-स्नान पर आस्था रखने का निराकरण किया गया है और सामान्य धर्म की शिक्षा दी गई है, तथा गृह्य पुराण के अन्तिम अध्यायों में इन बातों का विशेष निराकरण प्राप्त होता है। “जो व्यक्ति प्रमाद तथा आलस्य में पड़ा रहता है और धन के मोह से आक्रान्त रहता है, उसको वेदाध्ययन पाप से नहीं बचा सकता। जिस प्रकार पंख उग आने के बाद पक्षी घोंसले को छोड़कर उड़ जाते हैं उसी प्रकार अन्त समय में वेद भी ऐसे व्यक्ति को छोड़कर भाग जाते हैं।”

संक्षेप में पुराणों की इन सूक्तियों में धर्म का सामान्य रूप, मोक्षोपयोगी ब्रह्मवाद, अन्धविश्वास का निराकरण इत्यादि अनेक बातें पाई जाती हैं, जिनकी सत्ता परवर्ती साहित्य में अधिगत होती है। साथ ही अर्थशास्त्र से सम्बद्ध सूक्तियाँ पाई जाती हैं। किन्तु धर्म और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध सुरक्षित रखा गया है और दोनों एक दूसरे के साधक होकर आये हैं बाधक नहीं। इनका इतना अधिक सामञ्जस्य स्थापित कर दिया गया है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी विशेष उक्ति को धार्मिक माना जाये या आर्थिक। सूक्तियों में अलंकारों का प्राधान्य है। सादृश्यमूलक अलंकारों में साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों प्रकार अपनाये गये हैं। कहीं-कहीं रूपकातिशयोक्ति का भी उपादान हुआ है। किन्तु इस प्रकार की सूक्तियाँ मात्रा में बहुत कम हैं। अधिकतर दीपक का आश्रय लिया गया है और प्रस्तुत और अप्रस्तुत को एक वाक्य में कहने की अधिक चेष्टा की गई है। मुक्तक के क्षेत्र में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विभाजन कठिन होता है इसलिये कहा जा सकता है प्रायः प्रस्तुतों का ही उपादान हुआ है। कहीं-कहीं स्वभावोक्ति भी चमत्करोत्पादक ढंग से प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार सूक्ति-मुक्तक के क्षेत्र में पौराणिक रचनायें पर्याप्त विस्तृत हैं और अपना अलग महत्त्व रखती हैं।

जैन-बौद्ध मुक्तकों में सूक्ति काव्य का अत्यधिक विस्तार है। वस्तुतः जैन-बौद्ध धर्मों के प्रचार में यह सूक्ति-काव्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। जैन आगमों में तथा बौद्धों के त्रिपिटकों में काव्य-शैली पर धर्म का प्रचार किया गया था।

जैनियों के धर्म-ग्रन्थ आगम या सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात हैं। इनकी भाषा प्राकृत है। यह आर्य प्राकृत कहलाती है। इसे हम उस समय की अर्द्धमागधी कह सकते हैं। महावीर स्वामी ने अपना उपदेश इसी भाषा में दिया था। सम्भवतः इसका कारण यह था कि अर्द्धमागधी एक ओर तो मागधी से मेल खा जाती थी और दूसरी ओर शौरसेनी से भी मिल जाती थी। इस प्रकार यह भाषा मगध से मथुरा तक समझी जा सकती थी। इसी प्रदेश में महावीर स्वामी को अपना धर्म प्रचार करना था। अतएव अर्द्धमागधी से बढ़कर दूसरी उपयुक्त भाषा हो ही कौन सकती थी? इन ग्रन्थों में गद्य और कथा साहित्य का बाहुल्य है। किन्तु स्थान-स्थान पर गाथायें (पद्य) भी सम्मिलित हैं, जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। इन पद्यों की भाषा गद्य भाषा से भिन्न तथा अधिक कला-पूर्ण है। ज्ञात होता है कि इन गाथाओं की स्वतन्त्र रचना हुई होगी और संकलन काल में इन्हें मूल ग्रन्थ के साथ जोड़ दिया गया होगा। हम कह सकते हैं कि ये गाथायें मुक्तक-काव्य-परम्परा के अन्दर आती हैं। इनके स्वतन्त्र संकलन की प्रवृत्ति भी दिखलाई देती है। “गाथा-संग्रह”, “महावीर वाणी”, “तत्त्व समुच्चय” इत्यादि अनेक संकलन भी प्रकाशित हो चुके हैं।

जैन साहित्य का परिचय देते हुए विण्टरनिट्ज ने लिखा है कि ये गाथायें धूलिवत् नीरस हैं। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। भारतीय साहित्य में ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ में चरम गुण सौन्दर्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है और उसके लिये प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता, वक्रोक्ति और चमत्कारपूर्ण पद का प्रयोग इत्यादि मान्यतायें स्वीकार की गई हैं। किन्तु इन गाथाओं में सौन्दर्य के मूलभूत तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। न इनमें चमत्कार लाने की चेष्टा की गई है और न वस्तु को सरस तथा सहृदय-जन-मनोऽभिराम बनाने का कोई प्रयत्न ही लक्षित होता है। हम इन कवियों से ऐसी आशा भी नहीं कर सकते। “जिनकी दृष्टि में सभी गीत विलापरूप हों, सब नाट्य बिडम्बना रूप हों, आभूषण भार हों और संसार के सभी काम-भोग दुःखावह हों” उनसे यह आशा किस प्रकार की जा सकती है कि वे हमें गुड-जिह्विकया शृंगार में प्रवृत्त करते हुए वैराग्य की ओर ले जायेंगे। “काव्य का मुख्य प्रयोजन विनेय व्यक्तियों को उपदेश देना ही है। जब तक विनेय व्यक्ति उन्मुख न हो जायें तब तक काव्य-शोभा का आधान ठीक रूप में माना ही नहीं जा सकता। अधिकतर व्यक्तियों का अन्तःकरण शृंगार की भावना से भावित होता है। अतः शृंगार रस के द्वारा वे व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते हुए सरलतापूर्वक विनय के उपदेशों की ओर उन्मुख हो जाते हैं। ऐसी दशा में विनय के उपदेशों को

समझने और स्वीकार करने में उन्हें कठिनता नहीं होती।” इस प्रकार के जाया-सम्मित उपदेश में न तो उन मुनियों का विश्वास था और न ये उस ओर जाना ही चाहते थे। यदि कहीं संयोगवश किसी अलंकार का प्रयोग हो भी गया है तो भी विषय को स्पष्ट करने के लिये ही हुआ है सुन्दरता सम्पादन के लिये नहीं।

प्रस्तुत गाथाओं का दूसरा बड़ा दोष यह है कि इनमें विषय की विभिन्नता है ही नहीं। यदि हम एक वाक्य में इनका परिचय देना चाहें तो कह सकते हैं कि इन गाथाओं में सर्वत्र बैराग्य का ही प्रतिपादन है। शृंगार रस अपने पूर्ण विभावों, अनुभावों और संचारियों के साथ कहीं परिपोष नहीं प्राप्त कर सका है। आचारा-वलियों के वर्णन में गृहस्थों के लिये सांसारिक वासनाओं को धीरे-धीरे कम करने का उपदेश दिया गया है। दूसरों से ब्या व्यवहार होना चाहिये ? विशेष अवसरों पर सदाचार की ब्या व्यवस्था हो सकती है ? सामूहिक जीवन किस प्रकार का होता है ? इत्यादि प्रश्नों पर इन गाथाओं में विचार नहीं किया गया है। समाज के प्रति सर्वसाधारण के कर्तव्यों का भी इन गाथाओं में उल्लेख नहीं है। ये गाथाये व्यक्तिगत साधना क्षेत्र को लेकर ही चलती हैं और उसी से इनका सम्बन्ध है।

इन गाथाओं के विषय को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं—(१) कर्त्तव्योपदेश-परक गाथायें और (२) तत्त्व-भीमांसापरक गाथायें। गृहस्थों और मुनियों के कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं। किन्तु दोनों में त्याग वृत्ति की प्रधानता और वृत्तों की दृढ़ता पर अधिक बल दिया गया है। मुनियों के कर्म गृहस्थों की अपेक्षा अधिक दुरूह और अधिक संयम-साध्य हैं। कर्त्तव्यों के उपदेश में मानस-परिशुद्धि और कर्मशुद्धि दोनों को समान रूप से महत्त्व प्रदान किया गया है और प्रारम्भिक साधना से लेकर मोक्ष पर्यन्त एक सुव्यवस्थित कर्म-परम्परा का प्रतिपादन प्राप्त होता है। जहां तक कर्त्तव्य कर्मों का सम्बन्ध है यह व्यवस्था उपनिषत्काल की व्यवस्था से बहुत दूर नहीं पड़ती। इतना अन्तर अवश्य है कि इसमें क्रम स्वतन्त्र रखा गया है और इसी कारण वह पृथक् सी जान पड़ती है। अस्नान और अदन्त-धावन इत्यादि दो चार विधियाँ अवश्य नयी सी हैं। जैन तत्त्वभीमांसा में एक और अणुव्रत, गुणव्रत, नयवाद, स्याद्वाद इत्यादि अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन है और जीव तथा प्रकृति इत्यादि का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है वहां दूसरी ओर इनमें विरोधी धर्मों का उल्लेख और यथास्थान खण्डन कर दिया गया है। इस प्रकार ये गाथायें जैन-धर्म के जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं और यद्यपि इनमें कलात्मकता और भावात्मकता की कमी है तथापि ये मुक्तक-काव्य परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

ऊपर जिस कलात्मकता और भावात्मकता की कमी की बात कही गई है उसका आशय यह नहीं है कि इन गाथाओं में कवित्व है ही नहीं। यद्यपि विनय, सदाचार इत्यादि का प्रतिपादन सरल, सुबोध और इतिवृत्तात्मक शैली में किया गया

हैं किन्तु फिर भी कहीं-कहीं दृष्टान्त, उपमा इत्यादि का बड़ा ही सरल और स्वाभाविक प्रयोग अनायास ही हो गया है। न तो उनमें बनावट ही ज्ञात होती है और न यही ज्ञात होता है कि अलंकारों के लिये अलंकारों का प्रयोग किया गया है। दो-चार उदाहरण देखिये :—

मलाग्रो खंघपभवो दुमस्य, खंघापच्छा समुवेत्ति साहा ।

साहा पसाहा विरहन्ति पत्ता, तग्रो पसे पुष्पं फलं रसो य ।

एवं धम्मस्स विणग्रो परमो मे मोक्खो । जेण कित्ति सुयं सिग्गं निस्सेसं चाधिगच्छइ॥

“वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध उत्पन्न होता है। स्कन्ध के पश्चात् शाखायें समुद्भूत होती हैं। शाखाओं से प्रशाखायें और पत्ते उत्पन्न होते हैं। उसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विनय धर्म का मूल है, मोक्ष अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही कीर्ति और सुख सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

“पद्मपत्रमिवाम्भसा” वाला दृष्टान्त भारतीय साहित्य में अनेक बार आया है। किन्तु महावीर की वारणी में एक नवीनता आ गई है। देखिये :—

वोच्छिन्नं सिणेहमपणों कुमुमं सारइयं व पाणियं ।

से सब्वसिणेह वज्जिये समयं गोयम मा पमाइये ॥

“जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता। अलग अलप्लुत रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी आसक्तियों दूर कर। हे गौतम ! तू प्रमाद मत कर।”

रूपककातिशयोक्ति का उदाहरण लीजिये :—

तिण्णो सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठासि तीर भागग्रो ।

अभितुर पारं गमिन्तये समयं गोयम मा पमाय ए ।

“गौतम ! तू महासागर को पार कर चुका है। अब किनारे पर क्यों रुक गया है। पार जाने की शीघ्रता कर। क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

माला रूपक का एक उदाहरण लीजिये :—

जरा मरण वेगेण बुज्झमाणण पाणियं ।

धम्मो दीवो य इट्ठाय गई सरणमुत्तमं ॥

“जरा और मरण के वेग वाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिये धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है।”

विश्व-पथ के पथिक के लिये धर्म को पायेय मानना भारतीय साहित्य में बहुत प्रचलित है। निम्नलिखित पद्यों में उसी का सहारा लिया गया है :—

अद्वानं जो महत्तं तु अप्पोहयो प वज्जई ।

गच्छन्तो सो दुही होई छुश तण्हाए पीड़ियो ॥

एवं धम्मं अकाऊण जो गच्छइ परं भवं ।

गच्छन्तो सो दुहीं होई बाही रोगे हि पीड़ियो ॥

“जो पथिक बिना पाथेय लिये बड़े लम्बे मार्ग की यात्रा पर जाता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहां विविध प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी होता है।”

अर्द्धाणं जो महन्तं तु सप्पाहेयो पवज्जई ।

गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा तण्हा विवज्जियो ॥

एवं धम्मं पिकाउणं जो गच्छइ परं भवं ।

गच्छन्तो सो सुखी होइ अप्पकम्मे अबेयणे ॥

“जो पथिक लम्बे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित न होकर अत्यन्त सुखी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य यहां भली-भांति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहां अल्पकर्मों और पीड़ा रहित होकर अत्यन्त सुखी होता है।”

जहां एक ओर सदाचार का निरूपण किया गया है वहां उसके प्रतिद्वन्द्वी प्रमाद स्थानों का भी उल्लेख मिलता है। अनिगृहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्धमान माया और लोभ ये चार कषाय पुनर्जन्म रूपी संसार-वृक्ष की जड़ों को सींचने वाले बतलाये गये हैं। मालोपमा और धर्म-लुप्तोपमा की संसृष्टि भी कितनी सुन्दर और स्वाभाविक है :—

सल्लं कामा विसं कामा आसी विसोपमा ।

कामेय प त्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गतिम् ॥

“काम भोग शल्य है, विष है और विषधर सर्प के समान है। काम-भोग की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।”

जैन साधुओं के लिये गीत और वाद्य सभी मोक्ष मार्ग से विपरीत दिशा में ले जाने वाले हैं :—

“गीत सब विलास रूप हैं, नाट्य सब विडम्बना रूप हैं, आभूषण सब भार रूप हैं। संसार के जितने भी काम भोग हैं सभी दुःखावह हैं।”

अन्य महात्माओं की भांति जैन साधु भी मृग-चर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका इत्यादि बाह्याडम्बरों में विश्वास नहीं करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्म-विकास और आत्मोद्धार के प्रायः समस्त साधनों और उपकरणों का उपादान समीचीन रूप में जैन-धर्म में पाया जाता है।

पंडितों और मूर्खों के लिए अलग-अलग सूक्त लिखे गये हैं जिसमें दोनों का विभेद स्पष्ट हो जावे। अनेक सूक्त मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने वाले साधक की महत्ता प्रकट करते हैं। अपनी ओर से ब्राह्मण की परिभाषायें दी गई हैं और उन गुणों तथा कर्मों का उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।

आर्थिक नीति सूक्तियों में एक ही नाम वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। एक पुस्तक राजनीति समुच्चय, चाणक्य नीति, चाणक्य राजनीति, वृद्ध चाणक्य, लघु चाणक्य, इत्यादि कई नामों से प्रचलित है। इसकी अनेक प्रतियां प्राप्त हो चुकी हैं और दूसरी प्राप्त होती जा रही हैं। संग्राहकों ने उसमें अनेक परिवर्तन कर दिये हैं और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनका मूल रूप क्या था। ये सभी पद्य चाणक्य कृत नहीं हो सकते। पद्यों की संख्या सब पुस्तकों में एक सी नहीं है। किसी-किसी प्रति में १७ अध्यायों में ३४० पद्य हैं, जबकि दूसरी में २ अध्यायों में ५७६ पद्य हैं। इन पद्यों को देखने से यह नहीं कहा जा सकता कि ये केवल राज धर्म के उद्देश्य से लिखे गये हैं यद्यपि ग्रंथारम्भ में ऐसी ही प्रतिज्ञा की गई है। ज्ञात होता है लेखक ने ग्रंथ को चाणक्य कृत सिद्ध करने के मन्तव्य से ऐसी प्रतिज्ञा करा दी है। पद्यों में विषय भेद भी पर्याप्त है, जीवन के व्यावहारिक नियम, चरित्र, सम्पत्ति, विपत्ति, भाग्य, उद्योग तथा अन्य अनेक नैतिक विषयों पर पद्य लिखे हैं। जिस प्रकार अंगुत्तरनिकाय, ठानांग, महाभारत इत्यादि ग्रंथों में संख्या के आधार पर सनुपदेश दिये गये हैं उसकी झलक इसमें भी मिलती है। कहीं-कहीं पर एक ही संख्या को कई बार दोहराया गया है। कहीं-कहीं एक ही शब्द का अनेक बार प्रयोग कर उक्ति को प्रभावशालिनी बनाने की चेष्टा की गई है। कहीं-कहीं पर उपमा और रूपकों का उपादान कृति से किया गया है। इस ग्रंथ में भी राज-धर्मोपदेश के साथ-साथ चरित्र की महत्ता पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। प्राणों को त्याग करके स्वभिमान की रक्षा करने का उपदेश है तथा तपस्या पर अधिक बल दिया गया है। भाग्यवाद का भी इसमें महत्त्व स्वीकार किया गया है। स्त्रियों को सदोष बतलाया गया है। इस पुस्तक का प्रधान छन्द श्लोक ही है, दूसरे छन्दों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है।

ऊपर जिन सूक्ति मुक्तकों का उल्लेख किया गया है वे वस्तुतः पुरानी शैली में आते हैं। इस शैली में अधिकतर इतिवृत्तात्मकता और वस्तु की ही प्रधानता है कला की कम। कवि कथन के उद्देश्य से कोई कथन नहीं करता अपनी सूक्ति में सुन्दरता का संचार और अलंकार का उपादान केवल सूक्ति को प्रभावशालिनी बनाने के लिये ही किया गया है। कवि की चेष्टा रहती है कि किसी एक विषय में सभी वास्तविकतायें पाठक के सामने आ जावें जिससे वह अपने जीवन को त्याग-तपस्यामय, सत्य-जीवन के रूप में परिवर्तित कर सके और यदि कभी आवश्यकता आ पड़े तो किसी विषम परिस्थिति में अपना स्वार्थ साधन कर सके, साथ-ही-साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की रहस्यमयी वास्तविकताओं से भी परिचित हो सके। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए कवियों ने सूक्तियों का सृजन करने की चेष्टा की है। किन्तु बाद में धीरे-धीरे कवि-कर्म सूक्ष्मता की ओर बढ़ता जाता है, उसमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कला की प्रधानता होती जाती है। कवि जीवन-मुधार के मन्तव्य से

नहीं अपितु कला प्रदर्शन के मन्तव्य से कविता करना अधिक पसंद करता है। यह भारतीय साहित्य की विशेषता रही है कि कवि-कर्म स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता गया है। कवि गण प्राचीनों के फैले हुए विषय का समाहार करने की विशेष चेष्टा करते हैं और एक पद्य में ही बहुत कुछ कह डालने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगती है। इन कवियों की सूक्तयां स्फुट विचारों के ही रूप में विद्यमान हैं। किसी विशेष विषय में पाठकों को सभी कुछ बतला देने की प्रवृत्ति इनमें नहीं है।

सूक्ति-काव्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध कविवर भर्तृहरि की शतत्रयी है। इसमें इन्होंने धार्मिक सवित, आर्थिक सूक्ति, और काम सम्बन्धी सूक्तियों के लिये पृथक्-पृथक् वैराग्य-शतक, नीति-शतक और शृंगार-शतक की रचना की है। भर्तृहरि के विषय में अन्तः साक्ष्य सर्वथा शून्य है। केवल इतना अवगत होता है कि कवि शैव है और वैराग्य की भावना से पूर्ण रूप से प्रभावित है। शृंगार-शतक का भी पर्यवसान वैराग्य में ही होता है। कवि को लोक का भी पर्याप्त ज्ञान प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कवि के विषय में इन शतकों से हम कुछ नहीं जान सकते। इत्सिंग ने अपनी यात्रा के विवरण में बौद्ध भर्तृहरि का उल्लेख किया है जो सात बार गृहस्थ से संन्यासी और संन्यासी से गृहस्थ हुए थे और जिनका देहान्त इत्सिंग के भारत आने के केवल १४ वर्ष पहले हो गया था। यह भर्तृहरि, व्याकरण थे। इत्सिंग ने इनकी त्रिशती का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इतना अवश्य लिखा है कि इन भर्तृहरि ने जीवन की व्याख्या की थी। साथ ही इत्सिंग ने इनका एक पद्य भी उद्धृत किया है, जिसमें इन्होंने गृहस्थ और संन्यास के बीच में निर्णय न कर सकने के कारण आत्म-गर्हणा की है। सम्भवतः ये शतक इत्सिंग के देखने में नहीं आये थे अथवा इनका संग्रह बाद में किया गया होगा। संभव है भर्तृहरि पहले शैव रहे हों और बाद में बौद्ध हो गये हों। शैव रहने की अवस्था में जिन शतकों की रचना की गई, उन्हें जानते हुए भी इत्सिंग ने बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात के कारण इस वास्तविकता को प्रकाशित करना उचित न समझा हो। जीवन की व्याख्या के सम्बन्ध में जो बात इत्सिंग ने लिखी है वह इन शतकों से बहुत कुछ गतार्थ हो जाती है।

पौराणिक शैली की जीवन-हीनता और अशक्ति इनमें नहीं पाई जाती। नीति, वैराग्य या शृंगार किसी विषय का क्यों न हो, प्रत्येक पद्य स्वतःपूर्ण है, और प्रसाद गुण पूर्ण शैली में लिखा गया है। यह रचना विश्लेषणात्मक न होकर कलात्मक विशेष है और भावना से ओत-प्रोत होने के कारण हृदय पर प्रभाव अधिक छोड़ता है। जहां भी सादृश्यमूलक अलंकारों का उपादान किया गया है वहां सादृश्य पूर्णरूप से चौकस बैठ जाता है और बिम्ब ग्रहण के रूप में विषय को अधिक प्रभावशाली बना देता है। जहां दीपक या उल्लेख के रूप में अनेक प्रस्तुतों का एक में उपादान किया गया है वहां प्रायः बड़े छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु कहीं पर छन्द-पूर्ति के लिये थोप-थाप की हुई नहीं जान पड़ती। कीथ ने लिखा है कि “यदि हम

इनके एक-एक पद्य को लें तो वे अपने छोटे से कलेवर में उन समस्त तथ्यों को अन्तर्निहित कर लेते हैं जो कि सम्पूर्ण ग्रीक पद्य संग्रह में पाये जाते हैं। वे हमारे सामने ग्रीक पद्य संग्रह की ही भांति अनेक उच्च कोटि की कवितायें प्रस्तुत करते हैं जिनमें कुछ भी परिवर्धन असम्भव सा प्रतीत होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि संस्कृत के बड़े पद्य का प्रयोग संस्कृत के कवि को इतना अवसर प्रदान करता है कि वह एक ही पद्य में अंग्रेजी की पूरी सानेट को अन्तर्भुक्त कर ले।”

(History of Sanskrit Literature by Kieth)

इन्होंने बड़ी ही सफल भाषा में वैराग्य शतक में तृष्णा के दोषों का तथा सांसारिक दुर्दशा का वर्णन किया है कि किस प्रकार विषयों की आराधना में ही उनका सारा समय व्यतीत होता जा रहा है। वे लोग धन्य हैं जो पर्वत-कन्दराओं में निवास करते हुए परम-ज्योति का ध्यान करते हुए अपनी आयु व्यतीत करते हैं। सांसारिक लोगों की याञ्छा दीनता इत्यदि की बड़े ही मार्मिक शब्दों में गहराई की गई है और अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सांसारिक व्यक्तियों को वन में जाकर रहने के लिये आह्वान किया गया है। “कितना आश्चर्य है कि वृद्धावस्था व्याघ्री के समान आतंकित कर रही है, शत्रुओं के समान रोग शरीर पर प्रहार कर रहे हैं, फूटे हुए घड़े से जल के समान आयु टपकती चली जा रही है फिर भी लोक अपना अकल्याण करने में आनन्द लेता है। इससे बड़ी आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है।” साथ ही काल किस प्रकार परिवर्तन उपस्थित करता है और सुख किस वस्तु में है इसका भी पर्याप्त विस्तार है। यति और नृपति के संवाद में वैराग्य और राजसेवा-प्रत्याख्यान का समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त नित्यानित्य वस्तु का विचार किया गया है और अन्त में अवधूतचर्या दिखलाते हुए शिवार्चन का ही प्रतिपादन किया गया है तथा लक्ष्मी का प्रत्याख्यान कड़े से कड़े शब्दों में प्राप्त होता है। कहीं-कहीं नाटकीय शैली भी बड़ी ही मनोरम बन पड़ी है और लक्ष्मी को सम्बोधित करके भी अनेक सूक्तियां उसकी अनित्यता के प्रतिपादन में कही गई हैं। कवि की कामना क्या ही महत्वपूर्ण है। “न जाने मेरे वे शुभ दिन कब आवेगे जब गंगा के तीर पर हिमालय की कन्दराओं में मैं पद्मासन लगाये बैठा होऊंगा और ब्रह्म का ध्यान करते हुए योग निद्रा को प्राप्त होऊंगा। उस समय पर वृद्ध हिरण अपना अंग मेरे अंगों में खुजलावेगे और उसका मुझे पता भी न चल सकेगा।”

जिस प्रकार वैराग्यसंबन्धी सभी तत्वों पर प्रकाश डाला गया है उसी प्रकार नीति की सूक्तियां भी अपने में पूर्ण हैं। मूर्खों और विद्वानों, सज्जनों तथा दुर्जनों में प्रत्येक का १०-१० पद्यों में वर्णन किया गया है तथा इस प्रसंग में जीवन के लिये अपेक्षित तथा अनपेक्षित दोनों प्रकार के तत्वों का समावेश कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त धन की पद्धति, धैर्य, मान, शौर्य, परोपकार इत्यदि का भी वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है और दैव तथा कर्म दोनों के लिये पृथक्-पृथक् दस-दस

पद्य रखे गये हैं। इस प्रकार नीति शास्त्र सम्बन्धी अनेक विषयों का नीति-शतक में समावेश हो गया है और प्रसाद गुण पूर्ण शैली के कारण यह शतक विद्वानों तथा अल्प-शिक्षितों में सर्वत्र प्रतिष्ठा और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। कवि की पूर्ण जीवन की परिभाषा देखिये :—

“विपत्ति में धैर्य धारण, अमृतस्थान में वाक्पटुता, युद्ध में पराक्रम, यश में अभिरुचि और शास्त्र में व्यसन, ये महात्माओं के स्वभावसिद्ध गुण हैं।” सफल जीवन के लिये जिन गुणों की अपेक्षा होती है, उन्हें एक ही श्लोक में बड़ी ही सफलता के साथ गिना दिया गया है। “स्वजनों के प्रति दाक्षिण्य, परिजनों के प्रति दया, दुष्टों के प्रति शठता, साधुओं के प्रति प्रेम, राजपुरुषों के प्रति नीति, विद्वज्जनों के प्रति सरलता, शत्रु-जनों के प्रति शूरता, गुरु-जनों के प्रति सहनशीलता और कामिनियों के प्रति प्रगल्भता, इस प्रकार जो व्यक्ति कलाओं में निपुण है उन्हीं के बल पर संसार टिका है।” इसी प्रकार—“तुम्हारे अन्दर सहनशीलता है तो तुम्हें कवच की क्या आवश्यकता ? यदि तुम्हारे अन्दर क्रोध है तो तुम्हें शत्रुओं की क्या आवश्यकता ? यदि तुम्हारे पास दायद विद्यमान है तो तुम आग का लेकर क्या करोगे (वही तुम्हें जला देने को पर्याप्त है) ? यदि तुम्हारे मित्र विद्यमान हैं तो तुम्हें दिव्य औषधियों की क्या आवश्यकता पड़ेगी ? यदि दुष्ट लोग तुम्हारे साथ रहते हैं तो तुम्हें सर्पा की क्या आवश्यकता ? धनों की क्या आवश्यकता यदि अनिन्दनीय विद्या हो ? लज्जा के होते हुए भूषणों की क्या आवश्यकता ? और यदि अच्छी कविता हो तो राज्य का लेकर क्या करना ?” कवि किन लोगों का साथ करना चाहता है जरा इसे और देख लीजिये—“उस चांदी के पहाड़ की क्या आवश्यकता या उस सोने के पहाड़ की भी क्या आवश्यकता जिस पर उगे हुए वृक्ष अपने स्वरूप में ही विद्यमान रहते हैं। हम तो उस मलय पर्वत को ही आदर देते हैं, जिस पर उगे हुए जम्बार, नींव और कुटज के वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।”

विद्वानों द्वारा वैराग्य और नीति इन दोनों शतकों की अपेक्षा भर्तृहरि के शृंगार शतक की कविता अधिक प्रौढ़ बतलाई जाती है। इसका क्रम भी उक्त दोनों शतकों की अपेक्षा अधिक अच्छा है और इसमें सुसम्बद्धता भी विशेष है। सर्वप्रथम स्त्रियों की प्रशंसा की गई है—“मुस्कहाट के द्वारा, भाव के द्वारा, लज्जा के द्वारा, भय के द्वारा पराङ्मुख होकर, अर्ध-कटाक्ष से चितवन के द्वारा, वचनों द्वारा, ईर्ष्या-कलह के द्वारा और लीला-विलासों द्वारा समस्त भावों से स्त्री बन्धन ही होती है।” स्त्री के नव-यौवन का उपभोग करने के लिये पुण्य करने की आवश्यकता होती है—“यदि उसके स्तन घने हैं, यदि जंघायें आकर्षक हैं, यदि मुख मनोहर है तो हे मन ! तुम व्याकुल क्यों हो रहे हो ? यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो पुण्य करो, क्योंकि बिना पुण्य समीहित अर्थ कभी सिद्ध नहीं होता।” इसी प्रकार—“जो अपनी छाती पर पड़ी हुई हों, रति के आवेश में जिनके केश-पाश शिथिल हो गये हों,

रति सुख से अथवा लज्जा के कारण जिनके नेत्र बन्द हो रहे हों तथा उत्कण्ठा से थोड़े खुले हुए भी हों और सुरत के उपरान्त उत्पन्न हुए खेद तथा शान्ति से, जिनके कपोल पसीज रहे हों इस प्रकार के रमणियों के अधर-पान का सीभाग्य विरले ही भाग्य वाले को प्राप्त होता है।" इस प्रसंग में यौवन की अनर्थमूलकता और स्त्रियों की अपरिहार्यता का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है और शृंगार तथा वैराग्य को साथ-साथ रखकर तुलना की गई है तथा अन्त में—“हे मानव गण ! मैं यह सत्य कह रहा हूँ, पक्षपातपूर्वक नहीं। यह बात सातों भुवनों में सत्य है कि स्त्रियों से भिन्न अन्य कोई भी वस्तु इतनी मनोरम नहीं है और दुःख का हेतु भी कुछ और नहीं है।" यह निष्कर्ष निकाला गया है। इसके बाद स्त्री जाति की मोहकता और परित्याज्यता का वर्णन किया गया है—“जा स्मरण करने से संताप देती है, देखने से उन्माद उत्पन्न करती है, स्पर्श से मोह को जगाती है वह प्रिया किस प्रकार हो सकती है ?” स्त्रियों की वञ्चकता और दुःशीलता का भी वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है और उनके त्याग का उपदेश दिया गया है। जो लोग उनका परित्याग कर सकते हैं उनकी प्रशंसा की गई है। ऋतुओं के अनुसार प्रेम का परिवर्तन भी दिखलाया है। इस प्रकार स्त्री-प्रशंसा से प्रारम्भ कर शृंगार का पर्यवसान वैराग्य में कर दिया गया है, वस्तुतः भर्तृहरि विरागी ही थे। अतः शृंगार शतक में भी वैराग्य की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। नौतिशतक में भी कोई उपदेश ऐसा नहीं है, जिसमें धर्म का अतिक्रम किया गया हो। संक्षेप में सभी प्रकार की सूक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का समावेश इन शतकों में पाया जाता है और हम कह सकते हैं सूक्ति-साहित्य में इन शतकों का वही स्थान है जो कि ललित मुक्तकों में हाल की गाय-सप्तशती का है। ये शतक सूक्ति-काव्य में आदर्श कहे जा सकते हैं।

श्री शंकराचार्य जी की चर्पटमञ्जरी और प्रश्नोत्तरी भी धार्मिक सूक्ति-साहित्य में अत्यन्त प्रचलित है। चर्पटमञ्जरी में छन्द की विलक्षणता के द्वारा वैराग्य का उपदेश दिया गया है और प्रश्नोत्तरी में एक ही पंक्ति में प्रश्न और उत्तर दोनों लिखे गये हैं। ये प्रश्नोत्तर अधिकतर वैराग्य-परक ही हैं किन्तु यत्र-तत्र कुछ प्रश्न ऐसे भी आ जाते हैं जो लोक-धर्म का उपदेश देते हैं। इन्हीं की प्रश्नोत्तरी के समान श्री विमल कवि की प्रश्नोत्तरी भी प्रसिद्ध है। एक उदाहरण ‘नरक क्या है ? परवशता। सौख्य क्या है ? सर्वसंग विराग। सत्य क्या है ? प्राणियों का हित। प्रिय क्या है ? प्राण।’ इसी प्रकार ‘हे गुरुदेव ? कृपा कर बतलाइये कि अपार संसार सागर में डूबते हुए मेरे लिये शरण क्या है ? (उत्तर) विश्वेश्वर के चरण कमलों की नाव’ ‘सोता कौन है ? जो कि समाधि को धारण करता है। जागता कौन है ? जो सत् असत् का ज्ञान रखता है।’ ‘शत्रु कौन है ? अपनी इन्द्रियां। मित्र कौन है ? वही इन्द्रियां जिन पर विजय प्राप्त कर ली गई हो।’ सूक्ति मुक्तकों के क्षेत्र में जैन कवियों ने भी पर्याप्त योग-दान दिया है। ये सूक्तियां अधिकतर

सामान्य-धर्म से सम्बद्ध हैं। धर्म, त्याग, उदारता, सत्य, अहिंसा इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है और वैराग्य इत्यादि विषयों पर ही ये सूक्तियां लिखी गई हैं, जो कि सामान्यतया किसी भी धर्म से सम्बद्ध हो सकती हैं। कहीं-कहीं जैन धर्म की छाप लक्षित होती है जहां जैन-धर्म की विशेषरूप से प्रशंसा की गई है या तीर्थंकरों के विषय में कुछ कहा गया है। जैन धर्म के मुख्य सूक्ति-मुक्तक निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रश्नोत्तर रत्न-माला—यह एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक है। इसमें सर्व-साधारण के लिये प्रश्नोत्तर रूप में उपदेशों का संग्रह किया गया है। इसकी शैली शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी की शैली ही है। इसके प्रश्नोत्तर भी केवल जैन-धर्म तक ही सीमित नहीं हैं। यही कारण है कि ब्राह्मणधर्मावलम्बी और बौद्धधर्मानुयायी दोनों ही इसे अपनी पुस्तक कहते हैं। श्वेताम्बरो के अनुसार इस पुस्तक के रचयिता “विमल” या विमलचन्द्र हैं। कुछ लोग ६वीं शताब्दी के एक शासक अमोघवर्ष को इसका रचयिता मानते हैं और दूसरे लोग कहते हैं कि यह ग्रन्थ दिगम्बर जिनसेन का लिखा हुआ है।

(२) उद्ययेस माला—इसमें लगभग ५५० प्राकृत पद्यों का संग्रह है। यह धर्मदास की लिखी हुई पुस्तक है और इसमें साधारण गृहस्थों तथा संन्यासियों के लिये पृथक्-पृथक् आचारावलि या दी गई हैं। परम्परा के अनुसार धर्मदास महावीर के सम-सामयिक थे। किन्तु स्वयं इसकी भाषा ही इस कथन की असत्यता प्रमाणित करती है। इसके ऊपर अनेक टीकाओं का होना इस बात का प्रमाण है कि अतीत में इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा रही है।

(३) सीलोवयेस माला—यह धर्म-कीर्ति का लिखा हुआ ११६ प्राकृत गद्यांशों का उपदेश संग्रह है।

(४) इष्टोपदेश और

(५) समाविशतक ये दो मुक्तक-संग्रह प्रसिद्ध पूज्यपाद के लिखे हुए हैं।

(६) गुणभद्र ने २७० पद्यों का आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ की रचना इतनी ललित-शैली में हुई है कि जैन-साहित्य में अपना उपमान नहीं रखती। कल्पनाओं की उड़ान के साथ-साथ भावुकता भी इसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उपदेश अधिकतर सर्वसाधारण के लिये हैं और जो जैन धर्मानुयायी नहीं भी हैं उनके लिये भी इसमें पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

दिगम्बर अमितगति के मुक्तक ग्रन्थ

(१) सुभाषित रत्न सन्दीप—यह सम्भवतः अमितगति की प्रथम रचना है। इस ग्रन्थ में ३२ सर्गों में जैन-धर्म से सम्बन्धित अनेक विषयों की चर्चा की गई है और ब्राह्मण-धर्म का खण्डन किया गया है। प्रत्येक सर्ग में एक ही पद्य है और एक ही विषय की चर्चा है। अनेक पापों का भी उल्लेख किया गया है। भाषा अलंकारपूर्ण है और इस ग्रन्थ में कला के दर्शन हाते हैं। जैनधर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन भी इस ग्रन्थ के द्वारा किया जा सकता है।

(२) धर्म परीक्षा—यह ग्रन्थ सुभाषित रत्न सन्दोह के २० वर्ष बाद लिखा गया। इसमें उदाहरण के रूप में अनेक कहानियों का संग्रह है। इसे हम कथा-साहित्य में भी सन्निविष्ट कर सकते हैं। किन्तु कथायें उदाहरण के रूप में ही लिखी गई हैं। धानता मुक्तक पद्यों की ही है। अतएव यह मुक्तक काव्य ग्रन्थ ही कहा जायगा। इसे हम जैन-धर्म का रुढ़िवादी साहित्य कह सकते हैं। इसमें ब्राह्मण धर्म का विशेष रूप से खण्डन किया गया है और पौराणिक कथाओं को तोड़-मरोड़ कर बुरे-से-बुरे रूप में रखने की चेष्टा की गई है।

(३) योग सार—अमृतगति की यह तीसरी पुस्तक है। इसमें ६ अध्याय हैं जिनमें साधारण श्लोकों में धर्म के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु प्रधानता नैतिक शिक्षा की ही है।

(४) द्वात्रिंशिका—यह भी अमृत गति की एक पुस्तक है। इसमें नैतिकता के सम्बन्ध में ३२ पद्य हैं। और कुछ जिन-देवों की प्रशंसा तथा स्तुतिपरक पद्य भी हैं।
हेमचन्द्र तथा उनके समय के कवि

(१) कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित करने के मन्तव्य से यह पुस्तक लिखी गई थी। साधारण पद्यों पर कवि की लिखी हुई वृत्ति विद्यमान है। पुस्तक आलंकारिक भाषा में लिखी गई है। योग से साधारण कर्तव्य का अर्थ लिया गया है और पुस्तक के अधिक भाग में गृहस्थ धर्म तथा राजकीय कर्तव्यों का उपदेश ही मिलता है। मोक्षोपयोगी वास्तविक योग का संक्षिप्त वर्णन अन्त में कर दिया गया है। पुस्तक सुभाषित रत्न सन्दोह के आदर्श पर लिखी गई है। किन्तु इसमें मौलिकता की कमी नहीं है। ब्राह्मण धर्म का स्थान-स्थान पर खण्डन किया गया है और मनुस्मृति के दोष दिखलाये गये हैं। अनेक उपमा और रूपक भारतीय साहित्य की प्रचलित परम्परा से मेल खाते हैं और कहीं-कहीं पर ये सूक्तियां हमें भर्तृहरि की याद दिलाती हैं।

(२) उपदेश रसायन रास—यह पुस्तक हेमचन्द्र के समकालीन जिनभद्र सूरि की लिखी हुई है। इसमें ८० पद्य हैं। इसमें राधा और कृष्ण की रास-लीला का अनुकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त इनकी लिखी हुई दूसरी पुस्तकें,

(३) “काल स्वरूप कुलकम्” और

(४) “चच्चरी” (चर्चरी) हैं। प्रथम में अपभ्रंश की गीतिकायें हैं और दूसरी में गुरु जिनवल्लभ सूरि की प्रशंसा है।

सोमप्रभ सूरि

यह हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के सम-सामयिक हैं। इनका लिखा हुआ

(१) कुमारपाल प्रतिबोध अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें मुक्तक-पद्य हैं, कथा-साहित्य, पद्य, गद्य, सब कुछ है। पुस्तक का अधिक भाग प्राकृत में लिखा गया है, किन्तु कुछ अंश संस्कृत और अपभ्रंश का भी है। इसमें हेमचन्द्र वक्ता के रूप में

चित्रित किए गए हैं और कुमारपाल के प्रतिबोध का वर्णन किया गया है। इसमें ५ उल्लास हैं, जिनमें धार्मिक गुण-दोषों का वर्णन किया गया है और उदाहरण के रूप में जैन धर्म की प्रसिद्ध कथाएँ लिखी गयी हैं। इन्होंने अपभ्रंश भाषा का एक पार्श्वनाथ स्तोत्र भी लिखा है और

(२) शतार्थ-काव्य नामक एक पुस्तक भी लिखी है, जिसमें एक पद्य के सौ अर्थ किए गए हैं। इनकी लिखी हुई एक पुस्तक

(३) सिन्दूर प्रकर अथवा सूक्ति मुक्तावली भी है जो जैनियों में बहुत प्रसिद्ध है। इनकी रचनाशैली से ज्ञात होता है कि ये अलंकार शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे।

(४) सिन्दूर प्रकर अथवा सूक्ति मुक्तावली—यह १३वीं शताब्दी के एक दूसरे सोमप्रभ की लिखी हुई पुस्तक है, इसमें कामशास्त्र की समस्त कलाओं के प्रतिरोध का उपदेश दिया गया है।

संग्रह ग्रन्थ

१२वीं शताब्दी के प्रथम चरण में मुनि चन्द्रमूरि का लिखा हुआ गाथा-कोष प्राकृत गाथाओं का एक अच्छा संग्रह है। इसी प्रकार १७ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में समयसुन्दर ने भी गाथा-साहस्री की रचना की थी। इसमें संस्कृत और प्राकृत की एक हजार गाथाओं का संग्रह है, जिसमें विद्वत् की दीनता, नश्वरता इत्यादि विषयों के पद्यों का संग्रह है।

फुटकर मुक्तकों पर एक दृष्टि

जैन-धर्म सम्बन्धी फुटकर मुक्तकों का प्रवृत्ति-निमित्त जैनधर्म के प्रति सर्व-साधारण में श्रद्धा और विश्वास की भावना जागृत करना ही था और साधकों ने इन गाथाओं और पद्यों में ऐसे ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों से ही सम्बद्ध न होकर सर्वसाधारण धर्म की पीठिका का रूप धारण कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में कहीं-कहीं जैन धर्म के प्रति आस्था जागरूक करने के लिये महावीर तथा दूसरे तीर्थङ्करों की त्यागवृत्ति की प्रशंसा की गई है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र जैनियों के विशेष धर्म से अभिसम्बद्ध पद्य भी पाये जाते हैं। यदि हम इन कतिपय स्थलों का परित्याग कर दें तो हमें इन पुस्तकों में जैन-धर्म की एकदेशीयता का कोई लक्षण ही दृष्टिगत नहीं होता। यद्यपि जैनधर्म का प्रचार ही इन ग्रन्थों का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त था तथापि कवित्व-कौशल का प्रदर्शन भी इन धार्मिक कवियों का उद्देश्य था। अनेक स्थलों पर उच्चकोटि की कला के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं अलंकारों का मनोरम और स्वाभाविक सन्निवेश प्राप्त होता है जो भावना को उच्चतर बनाने में कारण हुआ है। धर्म से किस प्रकार अतर्कित लाभ होता है इसको एक कवि के शब्दों में देखिये:—

संकल्पं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।

असंकल्पमसञ्चिन्त्यं फलं धर्मादिवाप्यते ॥ (आत्मानुशासन)

किसी वस्तु को प्राप्त करने के किये कल्पवृक्ष के सामने भी संकल्प करना पड़ता है, चिन्तामणि के सामने भी चिन्ता करनी पड़ती है तभी उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। यह धर्म की ही विशेषता है कि उससे बिना ही संकल्प किये हुए तथा बिना ही चिन्ता किये हुए स्वभावतः फल प्राप्त हो जाता है।

स्त्रियों की भीषणता पर भी दृष्टिपात कीजिये—

“सर्प क्रोध में भरकर ही प्राण हरने वाले होते हैं और कभी-कभी दृष्टिपात से ही प्राण ले लेते हैं। उनकी बहुत सी औषधियाँ भी होती हैं जो एक दम विष को नष्ट कर देती हैं। किन्तु स्त्री रूपी सर्पों की दशा ही कुछ विचित्र है। ये सामने होने पर भी और पीछे भी प्राणों को ले लेती हैं। क्रोध में मार डालने वाली होती हैं और प्रसन्नता में भी मार डालती हैं। योगीन्द्रों (सपेरो) पर सर्पों का वश नहीं चलता। किन्तु स्त्री-सर्प योगीन्द्रों (योगिराजों) को भी मार डालते हैं। यह देखकर भी प्राण ले लेती हैं और काट करके भा। इनकी कोई औषधि नहीं होती।”

इसी प्रकार :—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम् ।

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥

“जिन सांसारिक विषय भोगों में मूढ मनुष्य आश्वस्त रहता है, उससे बढ़कर भय का स्थान दूसरा नहीं और जिस आत्म-ज्ञान से भयभीत रहता है, उससे बढ़कर और कोई अभय का स्थान नहीं।”

धार्मिक सूक्तियों की दिशा में बौद्धों का भी कार्य स्तुत्य रहा है। किन्तु भारत में बौद्ध-धर्म के उन्मूलन के साथ-साथ उनके साहित्य को भी बहुत बड़ा आघात पहुंचा। बौद्ध धर्म को साम्प्रदायिक आधार प्राप्त न हो सका, जिसने अन्य धर्मों की सूक्तियों को सुरक्षित रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कुछ विद्वानों ने तिब्बत, चीन, लंका, ब्रह्मा इत्यादि देशों में बिखरे हुए साहित्य को संकलित करने की चेष्टा की है। किन्तु इस समय हमें इस साहित्य का बहुत ही थोड़ा अंश प्राप्त हो सका है। कुछ तो प्राचीन त्रिपिटक के सारांश के रूप में ही लिखे गये हैं और कुछ स्वतन्त्र ग्रंथ हैं। त्रिपिटक के सारांश के रूप में लिखी गई पुस्तकों में घम्म-सिरी की लिखी हुई खुद्-सिक्खा और महासामि की लिखी हुई मूल सिक्खा अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना ४४० ई० की बतलाई जाती है, किन्तु भाषा के देखने से ज्ञात होता है कि ये पुस्तकें अधिक बाद की हैं। इनके अतिरिक्त द्वैमातिका (भिक्षू और भिक्षुनी प्रति भाँक्ख) तथा कंखा-वितरणी ये पुस्तकें उन लोगों के लिये पर्याप्त मानी जाती हैं जो लोग पूरे विनय को नहीं पढ़ सकते। इसी प्रकार बुद्ध के शिष्य सिद्धत्थ का लिखा हुआ सार-संग्रह और धम्मकिंति का लिखा हुआ घम्म-संग्रह भी प्रसिद्ध हैं। ये सम्भवतः १२वीं तथा १४वीं शताब्दी की रचनायें हैं। इनमें सिद्धान्तों का निरूपण है। अभिघम्म का प्रधान रूप से बर्मा में अध्ययन

किया गया। संभवतः १२वीं शताब्दी में वहां पर अनरुद्ध नामक संन्यासी ने अभि-
धम्म-संग्रह लिखी जो कि बौद्ध मनोविज्ञान तथा सदाचार की दृष्टि से सबसे अधिक
महत्वपूर्ण रचना है। यह पुस्तक बर्मा के समान सीलोन में भी अत्यन्त आदर के साथ
देखी जाती है।

बौद्ध धर्म में कई एक विद्वत्तापूर्ण कवितायें लिखी गईं जिनमें कुछ ये हैं :—

(१) पारमी-महाशतक—धम्मकित्ति ने चौदहवीं शताब्दी में दस पार-
मिताओं के विषय में यह पुस्तक लिखी थी।

(२) सद्धम्मोपायन—में ६२६ पद्य हैं, जिनमें सामान्यतः बौद्ध-धर्म और
विशेषतः सदाचार की शिक्षा दी गई है।

(३) पञ्जा मधु १०४ उच्चकोटि के पद्यों की एक छोटी-सी पुस्तक है जो
तेरहवीं शताब्दी में बुद्धपिय के द्वारा लिखी गई थी। इसमें बुद्ध की प्रशंसा की गई
है और भाषा अधिकतर संस्कृत-गर्भित है।

(४) तेलकटाह गाथा—बौद्ध-धर्म की अच्छाईओं के विषय में है। कहा
जाता है कि इसका लेखक एक संन्यासी था। कल्याणी के राजा टिस्सा ने अपनी धर्म-
पत्नी के साथ अनुचित सम्बन्धों के कारण कवि को तेल-कटाह में भोंक देने का
आदेश दिया। कवि कटाह में भोंक दिया गया और उठकर सौ पद्य सुनाये। अपने
मरने के पहले उसने कहा कि मैं पूर्व जन्म का एक ग्वाला था और मैंने उबलते दूध में
एक पतंग डाल दिया था। अब इस शतक में केवल ६८ पद्य मिलते हैं जिनसे उक्त
घटना पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कल्याणी के टिस्सा का समय ई० पू० तीसरी
शताब्दी है किन्तु पुस्तक देखने से यह १२वीं शताब्दी से पहले की नहीं जान पड़ती।

काश्मीरी कवि सिल्हण की कविता कम मौलिक है। ज्ञात होता है कि इन्होंने
कुछ समय बंगाल में भी कार्य किया होगा। यह प्रकट है कि ये भर्तृहरि के प्रशंसक
थे। इन्होंने भर्तृहरि से बहुत से भाव लिये हैं और जहाँ पर ये अपने वैष्णव मत से
शैवमत की संगति नहीं भिड़ा सके हैं वहाँ पर इन्होंने परिवर्तन कर लिया है। एक
पद्य हर्ष के नागानन्द से भी लिया गया है। सिल्हण अपने संग्रह के द्वारा प्राचीन
रचनाओं को आदर देना चाहते थे और उसमें अपनी रचना भी सम्मिलित कर दी।
इसमें संन्यास की प्रशंसा की गई है और बहुत कुछ ऐसा तत्त्व सम्मिलित हो
गया है, जो हिन्दू बौद्ध और जैन तीनों धर्मों में एक समान है। इनके संग्रह में एक
पद्य विल्हण का भी मिल जाता है। इससे पिशेल को इनके विल्हण होने का भ्रम
हुआ है। किन्तु यह बात प्रमाण-प्रतिपन्न नहीं है। विल्हण शृंगारी कवि थे और इस
बात पर कम विश्वास होता है कि उन्होंने वैराग्यपरक सूक्तियाँ भी लिखी हों।
संभव हो सकता है विल्हण अपनी वृद्धावस्था में संन्यासी हो गये हों। नीति के
श्लोकों में वररुचि के नाम से भी कुछ पद्य प्रख्यात हैं। कुछ घटकर्पर तथा वेताल
के नाम से भी पद्य प्रसिद्ध हैं, जिनमें नीति-रत्न, नीति-सार और नीति-प्रदीप की

शैली अपनाई गई है। इसके कतिपय पद्य बहुत उच्चकोटि के हैं किन्तु उनके समय का पता नहीं। काश्मीर के भल्लट भी एक प्रसिद्ध कवि हो गये। ये शंकर वर्मा (८८३-९०२) के अवधान में कविता करते थे। इनका शतक प्रयत्नपूर्वक सुन्दर बनाया गया है और अनेक छन्दों में लिखा गया है किन्तु इतना निश्चित है कि इनके शतक में मौलिकता कम है। इनके शतक में दो पद्य आनन्दवर्धन के भी मिल जाते हैं जिनका पूर्ववर्ती होना असंदिग्ध है। इनकी शैली सरल और सीधी है। इनकी कुछ और रचनाओं का भी संग्रह-ग्रंथों से पता चलता है।

क्षेमेन्द्र संस्कृत साहित्य में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित कवि हुए हैं। इनका दूसरा नाम व्यासदास भी था। इनकी प्रसादगुण-परिपूर्णता और रचना-शक्ति संस्कृत-काव्य-जगत् में अपना उपमान नहीं रखती। साथ ही इनका कविता का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। इन्होंने छोटी-बड़ी २८ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें विषय-वैचित्र्य बहुत अधिक पाया जाता है। ये काश्मीर के अनन्तराज के राज्य काल के ज्ञात होते हैं क्योंकि इन्होंने अपने ग्रंथों में प्रायः अनन्तराज का उल्लेख किया है। अनन्तराज का राज्य-काल ईसा की ११वीं शताब्दी है। इससे ये भोजराज के सम-सामयिक सिद्ध होते हैं। अनन्तराज और भोजराज की दानशीलता की प्रशंसा राजतरंगिणी में भी की गई है तथा दोनों को समान बतलाया गया है। क्षेमेन्द्र की पुस्तकों में कतिपय रचनायें सूक्ति-मुक्तकों के रूप में भी हैं, जिनमें प्रधान रूप से चारुचर्या, कला-विलास, समय-मातृका, सेव्यसेवकोपदेश और चतुर्वर्ग संग्रह प्रसिद्ध हैं। चारुचर्या में अच्छे गुणों का उपदेश ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा दिया गया है। प्रथम पंक्ति में कर्तव्य का निर्देश किया गया है और दूसरी पंक्ति में उसके प्रमाण के रूप में ऐतिहासिक कथा की ओर संकेत कर दिया गया है। इसी का अनुकरण बाद में श्री गुमाना कवि ने अपने उपदेश-शतक में किया। अन्तर केवल यह है कि जहाँ क्षेमेन्द्र ने दृष्टान्त का आश्रय लिया है वहाँ गुमाना कवि ने अर्थान्तरन्यास के आश्रय से उपदेश देने की चेष्टा की है।

१७वीं शताब्दी में श्री अप्पय दीक्षित का वैराग्य-शतक भी एक प्रसिद्ध रचना है। इनका समय नीलकण्ठ चम्पू के आधार पर ईसा की १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है अप्पय-दीक्षित दीक्षित-वंश के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् थे तथा दर्शन के क्षेत्र में इनका बहुत अधिक महत्त्व है। इनकी लिखी हुई बहुत-सी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। वैराग्य शतक में प्रसाद गुण पूर्ण शैली में विषयों से अप्रतिरूपित, सांसारिकभय, संसार की दशा, इत्यादि का वर्णन किया गया है। एक दूसरा शतक भी पद्मानन्द का लिखा हुआ है। इस कवि का देश-काल ज्ञात नहीं है। इस पुस्तक में १०३ पद्य हैं। इस संसार की नश्वरता, स्त्रियों से वैराग्य, मृत्यु की अनिवार्यता इत्यादि का वर्णन किया गया है और विषयों का परित्याग कर वैराग्य धारण करने का उपदेश दिया गया है तथा ज्ञान की प्रशंसा की गई है।

अप्पय दीक्षित अथवा उनके सगे भाई के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित का समय ईसा की १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनके दो शतक प्रसिद्ध हैं—(१) अन्यापदेश शतक और (२) सभारंजन शतक। कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध वैराग्य-शतक भी इन्हीं का लिखा हुआ है नीलकण्ठ के नाम पर कई एक और पुस्तकें भी प्रसिद्ध हैं। किन्तु नीलकण्ठ अनेक हुए हैं। इनकी शैली प्रसाद गुण पूर्ण है और दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास का अधिक प्रयोग किया गया है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथकार पण्डितराज जगन्नाथ के भामिनी-विलास में भी कुछ पद्य सूक्तिपरक पाये जाते हैं तथा इनकी कुछ अन्योक्तियां भी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार कविवर शम्भु की लिखी हुई अन्योक्तिमुक्तालता भी मुक्तक काव्य-जगत् में एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। इनके समय का कुछ पता नहीं चलता और न इनके जीवन के विषय में ही कुछ ज्ञात है। इनकी अन्योक्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें गुणवान् व्यक्ति का किसी अनुपयुक्त प्रदेश में रहना, किसी रसिक का स्वच्छन्द विहार, दोषों में भी एक गुण के द्वारा ही प्रतिष्ठा प्राप्त करना इत्यादि विषयों पर अन्योक्तियां की गई हैं।

ऊपर जिन ग्रंथों का परिचय दिया गया है वे शुद्ध रूप में स्फुट मुक्तक-सूक्तियों के ग्रंथ हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं जिनमें कथा-सूक्तियों का संकलन किया गया है। इस प्रकार की पुस्तकों में सर्वप्राचीन पुस्तक शान्ति देव की बोधिचर्यावतार है। इसमें दर्शन और नैतिक उपदेशों का सम्मिश्रण पाया जाता है। शंकर के नाम पर प्रसिद्ध कुछ पुस्तकें भी इसकी सीमा में सन्निविष्ट की जा सकती हैं। रम्भा-शुक संवाद भी इसी प्रकार का है जिसमें रम्भा ने शृंगार का प्रतिपादन किया है और शुक ने उसका निराकरण कर वैराग्य की स्थापना की है।

काश्मीर के जयापीड (७७२-२१३) के मन्त्री दामोदर गुप्त का कुट्टनी मत एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। कल्हण ने दामोदर गुप्त को कवि माना है और मम्मट तथा रूपक ने इसके उद्धरण दिये हैं। संग्रह-ग्रन्थों में इनका नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि इन्हे अच्छी ख्याति प्राप्त हो गई थी। इस पुस्तक में आलंकारिक भाषा में एक वृद्ध वेश्या के द्वारा मालती को धन कमाने का ढंग सिखाया गया है। बीच-बीच में हास्य का पुट भी पाया जाता है। दामोदर गुप्त के नाम पर जो सामग्री हमें समुपलब्ध होती है उससे ज्ञात होता है कि इन्हें काम-शास्त्र तथा साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

क्षेमेन्द्र ने भी दामोदर गुप्त के अनुकरण पर समयमातृका लिखी जिसमें एक नारी ने एक वेश्या को एक वृद्ध वेश्या के पास शिक्षा के लिये भेजा है। वह बुढ़ी तथा कुरूप थी। किन्तु कला के प्रभाव से उसने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। वह शिक्षा देने में निपुण है और किसी युवक तथा उसके पिता को धोखा देकर किस प्रकार धन कमाया जा सकता है इस बात की शिक्षा देती है। क्षेमेन्द्र की दूसरी

पुस्तक कला-विकास है। इसमें दस अध्यायों में मानव के विभिन्न पेशे तथा दुर्बलतायें बतलाई गई हैं। इसका नायक मूलदेव है जो कि समस्त छलों का मानवीकृत रूप है। चन्द्रगुप्त को उसका पिता मूलदेव के पास शिक्षा के लिये लाता है और मूलदेव उसे शिक्षा देता है। इसमें बतलाया गया है कि दम्भ ने मृत्युलोक में आकर अनेक स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया है। यहां तक कि पशुओं और वृक्षों तक इस दम्भ का अधिकार पहुंच गया है। क्षेमेन्द्र की शैली में आधुनिकता की छाप है। इसमें वैद्य और ज्योतिषियों की काफी हंसी उड़ाई गई है। एक ज्योतिषी सब कुछ बतलाने का दावा करता है किन्तु यह नहीं जानता कि उसकी पत्नी पदों के पीछे क्या कर रही है। इसी प्रकार एक वैद्य जिसका सर पीतल की बटलोई के समान गञ्जा है किन्तु गञ्जेपन की पेटेण्ट दवा बेचता है और उसे खरीदार भी मिल जाते हैं। क्षेमेन्द्र के चतुर्वर्ग संग्रह में जीवन के चार उद्देश्यों पर सौ पद्य लिखे गये हैं, जिनमें पहले धार्मिक सूक्तियां हैं और फिर पौराणिक कथाओं से उनकी पुष्टि की गई है। इस पुस्तक का बहुत बड़ा प्रभाव दयाद्विवेद (१४६४) की नीति-मञ्जरी पर भी पड़ा, जिसमें सायण के ऋग्वेद भाष्य का सहारा लेकर २०० पद्य लिखे गये। सम्भवतः क्षेमेन्द्र का ही प्रभाव जल्हण के मुग्धोपदेश पर भी पड़ा, जिसमें ६६ पद्यों में वेश्यागमन के दोषों को समझाया गया है। क्षेमेन्द्र की शैली सुन्दर, प्रसाद गुण पूर्ण और सरस है। इसमें चरित्र से सम्बद्ध रचनायें उच्चकोटि की हैं और चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व शृंगार-रस के वर्णनों में भी अन्तर्निहित हैं। इन्होंने सर्वत्र एक चारित्रिक सन्देश दिया है। क्षेमेन्द्र के लगभग अर्द्ध शताब्दी के उपरान्त अमितगति का सुभाषित-रत्न-सन्दोह लिखा गया। इसमें जैन-नीति का उपदेश है और ब्राह्मण-धर्म वालों पर आक्षेप किया गया है। स्त्रियों की पूरी निन्दा है और वेश्या के विषय में तो पूरा एक अध्याय है। हेमचन्द्र का योग-शास्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें साधारण श्लोक और उन पर साधारण गद्य में व्याख्या लिखी गई है। प्रथम चार अध्यायों में जैन-दर्शन का और बाद में आठ अध्यायों में जैनाचार का विशद वर्णन किया गया है। यद्यपि हेमचन्द्र एक उच्चकोटि के कवि हैं किन्तु इस पुस्तक को किसी प्रकार भी उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से सोमप्रभ की लिखी हुई शृंगार-वैराग्य-तरंगिणी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के सूक्ति मुक्तक

संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की मुक्तक सूक्तियों के साथ-साथ देशी भाषाओं में निरन्तर ही धार्मिक और नैतिक सूक्तियों की रचना होती रही। इन्हीं देशी भाषाओं को बाद में अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया गया है। अपभ्रंश भाषाओं में सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ही कई एक सन्त कवि हुए, जिन्होंने कुछ तो धर्म प्रचार के उद्देश्य से और कुछ सदाचार की भावना भरने के लिये देशी भाषाओं में रचनायें कीं। इन रचनाओं का एक संग्रह महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने

बंगला भक्षरों में प्रकाशित कराया, जिसमें अनेक कवियों की रचनाओं का परिचय दिया गया है। इन सन्तों की संख्या ८४ है। यद्यपि इनकी रचनायें पूर्ण रूप से काव्य की सीमा में सग्नविष्ट नहीं होतीं क्योंकि इनमें कलात्मक सौन्दर्य की आर ध्यान न देकर वस्तु तत्त्व को सीधी-साधी भाषा में कहने की प्रवृत्ति लक्षित होती है, तथापि ये परवर्ती महत्त्वपूर्ण मुक्तक काव्य की पूर्व पीठिका तैयार करने में कारण हुई हैं और पूर्व तथा परकाव्य की शृंखला को जोड़ने में अन्तर्वर्तिनी कड़ी का काम देती हैं अतएव इनका महत्त्व कम नहीं है। इन सन्तों ने बाह्य साधना से विरत कर अन्तःसाधना की ओर विशेष ध्यान दिया है और दक्षिण मार्ग को छोड़कर वाम-मार्ग को अपनाने की शिक्षा दी है। ये सन्त और बौद्ध-धर्म के ध्वंसावशेष वज्रयान शाखा के अनुयायी थे। वज्रयानियों की योग तन्त्र साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों के सेवन का विशेष महत्त्व था तथा रजकी इत्यादि निम्न वर्ण की स्त्रियों के सेवन को प्रमुखता प्रदान की गई थी। ये ही समस्त तत्त्व वज्रयान-सम्प्रदाय के सन्तों की वाणी में परिलक्षित होते हैं।

उपर्युक्त सन्तों के अतिरिक्त कतिपय जैन तथा बौद्ध कवियों ने भी अपभ्रंश भाषा में मुक्तक सूक्तियां लिखी हैं। इन कविताओं में जोइन्दु (१०वीं शताब्दी) का परमात्म प्रकाश और योग सार तथा रामसिंह का (११०० ई० के आसपास) का पाहुणदोहा विशेष महत्त्व रखते हैं। जोइन्दु तथा रामसिंह दोनों ही जैनकवि थे। इसी प्रकार सरहपा अथवा सरोजवज्र (८वीं शती) और काव्हा या कृष्ण-पाद (१०वीं शती) इन दो बौद्ध महात्माओं के “दोहा-कोष” विशेष प्रसिद्ध हैं।

धार्मिक संघर्ष के कारण जनता ऊब चुकी थी और अब उसे और अधिक इस बात पर विचार करने की रुचि नहीं रह गई थी कि कौन धर्म अच्छा है कौन नहीं। धार्मिक विचार-धारा के मन्द पड़ जाने के कारण सामाजिक सदाचार का स्तर भी नीचा पड़ता जा रहा था। समाज में धर्म के नाम पर बड़ा ही दुराचार फैला हुआ था। कहीं श्री सम्प्रदाय, कहीं भैरवी-चक्र, कहीं महामुद्रा इत्यादि के नाम पर समाज में बड़ा ही बीभत्स दृश्य उपस्थित हो रहा था। ऐसी दशा में इन जैन तथा बौद्ध मुनियों ने अपनी वाणी के प्रभाव से इन दोषों के निराकरण की असफल चेष्टा की। परमात्म-प्रकाश में जैन-धर्म के दृष्टिकोण की रक्षा करते हुए सामान्य तथा विशेष अनेक विषयों की व्याख्या की गई है। किन्तु यह रचना अधिक विलष्ट है। इन्हीं विषयों को लेकर योगाचार में सरल और सुबोध शैली में लिखे हुए मुक्तक पद्यों का संकलन किया गया है। महामहोपाध्याय श्री हीरालाल शास्त्री के अनुसार पाहुण शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के अर्थ में किया गया है। कहीं-कहीं पाहुण का अर्थ अधिकार भी है। किसी-किसी में पाहुण शब्द प्राभूत शब्द का अपभ्रंश भी माना गया है, जिसका अर्थ है उपहार। इस प्रकार “पाहुण-दोहा” का अर्थ होता है “दोहा का उपहार”। इस पुस्तक में सांकेतिक भाषा में योग सम्बन्धी तथा तान्त्रिक विषयों पर अनेक पद्य लिखे गये हैं।

जैनधर्म सम्बन्धी उपर्युक्त ग्रन्थों का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें ये कविजन समाज को मानवता की ऐसी सामान्य भूमिका पर लाने की चेष्टा कर रहे हैं, जहां पर विभिन्न धर्म अपना विरोध छोड़कर एक हो जाते हैं। इन्होंने सभी मतों को आदर दिया है और सभी मतों को मोक्ष मार्ग तक ले जाने वाला कहा है। मानव-मिलन की सामान्य भूमिका तैयार करने के लिये यह आवश्यक था कि भेदभाव तथा उसके कारण का भली-भांति निराकरण किया जाता। इसी लिये इन ग्रन्थों में श्रुत-ज्ञान और अक्षर-ज्ञान की निन्दा की गई है। क्योंकि इनसे भेदभाव बढ़ता है और साम्प्रदायिकता के विकास तथा प्रसार में सहायता मिलती है। रूढ़िवाद का इन ग्रन्थों में पूर्ण बहिष्कार किया गया है। इन महात्माओं ने स्वसंवेद्य आत्म-ज्ञान को ही प्रधान माना है। आत्मज्ञान के लिये देहेन्द्रिय समवाय परम अभीष्ट है। अतएव इन मुनियों ने देह को देव मन्दिर की उपमा दी है, जहां परमात्मा निवास करता है। अतएव तीर्थाटन इत्यादि व्यर्थ हैं। आत्म-सुधार तथा देह और मन की निर्मलता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता वही समभाव रखने वाला प्राणी है, वही परम पद का अधिकारी है। इन्द्रियवश्यता की इन ग्रन्थों में निन्दा की गई है और मन को वश में करने का उपदेश दिया गया है। ये महात्मा कवि बाह्याडम्बरों से सर्वथा घृणा करते हैं। यदि सर मुंडाने से कोई संन्यासी हो जाय तो गन्जे लोग तो संन्यासी ही उत्पन्न होते हैं और उन्हें तो परमात्मा मिल ही जाता होगा। वास्तविकता यह है कि विषयों को छोड़ने वाला ही संन्यासी होता है (जोइन्दु)। अध्ययन ऐसा करना चाहिए जिससे शिवपुरी पढ़ने में सहायता मिले, ऐसा अध्ययन करने से क्या लाभ, जिसका प्रयोजन तालु सूखना ही हो। वस्तुतः सभी धर्म एक ही हैं और अनेक नामों से एक तत्त्व की ही उपासना की जाती है। “वही शिव है, वही शंकर है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म है, वही अनन्त है और वही सिद्ध है।”

सरहपा और कण्हपा के दोहा कोषों में भी इसी सामान्य धर्म भूमि का उपदेश दिया गया है। इनमें तीर्थाटन, देव पूजा, मन्त्र, मन्दिर इत्यादि के खण्डन का स्वर अधिक मुखर हो उठा है। इन सिद्धों ने भी शास्त्र ज्ञान का बहिष्कार कर स्वसंवेद्य आत्म-ज्ञान को ही महत्त्व दिया है। समरसता और सहज भाव से चित्त की स्थिरता को इन्होंने भी निर्वाण के लिए अनिवार्य कहा है। जैनमुनियों ने सर्वथा संन्यास का प्रतिपादन किया था और गृहस्थ से विरत होने का उपदेश दिया था। इन महात्माओं ने घर और वन के बीच का मार्ग अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझा।”

“घरहिय थक्कुम जाहि वणेजहि तहिमण परिआण।”

इतना ही नहीं, ये राग को वैराग्य का एक आवश्यक उपकरण मानते हैं और इनका दृष्टिकोण जीवन के प्रति स्वीकारात्मक ही है नकारात्मक नहीं। इनकी भाषा

स्पष्ट है और रहस्यवाद की उसमें छाया नहीं है। केवल एक-आध स्थानों पर ऐसे वाक्य पाए जाते हैं—“जहां मन और पवन भी संवार नहीं करते, रवि और शशी का भी प्रवेश नहीं है। हे मूढ चित्त वहीं विश्राम करा यही सरह का उपदेश है।” “आगम, वेद और पुराण को ही सर्वस्व मान कर पण्डित जन उन्हें वहन करते हैं, जिस प्रकार पके श्रीफल के बाहर ही भीरे घूमते हुए रह जाते हैं।”

धार्मिक सूक्ति-मुक्तकों के समकक्ष ही नीति-सूक्ति भी प्राप्त होती हैं। ये नीति-सूक्तियां हेमचन्द्र के द्वारा संकलित उदाहरणों में तथा सेन (११वीं शताब्दी) के सावय धम्म दोहा और सोमप्रभ (१२वीं शती) के कुमारपाल प्रतिबोध में विशेष रूप से पाई जाती हैं। ये नीति-सूक्तियां दोनों रूपों में मिलती हैं—अनुभवपूर्ण दोहों के रूप में भी और अन्योक्तियों के रूप में भी। अनुभवपूर्ण दोहों में स्वाभिमान, सत्य, त्याग, उदारता इत्यादि की प्रशंसा की गई है, जीवन की सुख शान्ति के लिये आवश्यक उपदेश दिये गये हैं और व्यवहारपटुता सम्पादित करने योग्य बातें बतलाई गई हैं। इसके लिये सूक्ति परम्परा की सामान्य विशेषता अप्रस्तुत विधान का इस प्रकार की रचनाओं में भी प्राधान्य रहा है। प्रधानतया दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास अपनाये गए हैं। शास्त्रज्ञानमात्र ही मन को ठीक करने में कारण नहीं होता इसके लिए अनुकूल मन अपेक्षित होता है, इस आशय की सूक्ति देखिये—“सैंकड़ों शास्त्रों के जान लेने पर भी विपरीत ज्ञान वाले के मन पर धर्म नहीं चढ़ता। यदि सौ दिन-कर भी उग आयें तो भी उलूक को अन्धेरा ही रहे।” स्वाभिमान के विषय में कुमारपाल प्रतिबोध में लिखा है—“मान नष्ट होने पर यदि शरीर नहीं, तो देश तो अवश्य छोड़ दीजिये। दुर्जन के कर-पल्लवों से दिखलाये जाते हुए मत घूमिए।” जीवन में सम्पत्ति ही सम्मान का कारण है इस विषय में लिखा है—“ऋद्धि-विहीन मनुष्यों का कोई सम्मान नहीं करता, पक्षियों द्वारा छोड़ा हुआ तरुवर इसका प्रमाण है।” इसी प्रकार वीरों के लिए उपदेश, गुणों से सम्मान प्राप्ति इत्यादि अनेक विषयों पर अनुभवों का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वृक्षों और पशु-पक्षियों पर अन्योक्तियों के द्वारा भी अनेक अच्छे उपदेश दिए गए हैं। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में इस प्रकार की अनेक अन्योक्तियां पाई जाती हैं। स्वार्थी व्यक्ति स्वार्थ को ही प्रधान मानकर ग्रहण या परित्याग करते हैं, किन्तु महान् लोग सभी को आश्रय देते हैं—यह बात निम्नलिखित वृक्ष की अन्योक्ति में कितने सुन्दर ढंग से कही गई है:—

वच्छहे गृहहइ फलइ जणु कडु पल्लव वज्जेइ ।

तो वि महब्दुम सुअणु जिवं ते उच्छं गि धरेइ ॥

“लोग वृक्ष से फलों को ग्रहण करते हैं और कटु पल्लवों को छोड़ देते हैं तो भी महान् द्रुम सज्जन की भांति उन्हें हृदय में धारण किये रहता है।” इसी प्रकार “तृणों की तीसरी दशा नहीं है वे तट में बसते हैं। या तो लोग उनसे लेकर पार

उतरते हैं या वे उनके साथ स्वयं डब जाते हैं।” इसका आशय यही है कि सज्जन सर्वदा परोपकार में निरत रहते हैं। या तो वे परोपकार करने में दूसरों का कार्य बना ही देते हैं या उनके साथ स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार कुछ शृंगारी अन्योक्तियां भी पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए भ्रमर की अन्योक्ति करते हुए कोई कवि कहता है—“हे भ्रमर ! अरण्य में रुनभुन मत कर और उस ओर देखकर मत रो। वह मालती देशान्तरित हो गई, जिसके वियोग में तू मर रहा है।” यह ऐसे स्थान पर कहा जा सकता है, जहां पर कोई व्यक्ति किसी नायिका पर अनुरक्त हो और वह नायिका देशान्तरित हो जावे और उसके मिलने की कोई सम्भावना न रहे। तब दूसरा व्यक्ति किसी प्रेमी को उसके प्रति उदासीन हो जाने का उपदेश देवे। इसी प्रकार:—“तिलों का तिलत्व तभी तक है जब तक स्नेह नहीं निकल जाता। स्नेह के नष्ट हो जाने पर वे ही तिल-तिल से फटकर खल हो जाते हैं।” इसका आशय यही है कि मनुष्य को स्नेह का परित्याग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ये अन्योक्तियां बहुमुखी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

हिन्दी-सूक्ति काव्य

सूक्ति-काव्य की यह परम्परा निरन्तर चलती रही। गुरु गोरखनाथ ने अपनी जनवाणी में जहां कुण्डलिनी जागरण, षट् चक्रभेद, अजपा जाप, अनाहत नाद, शून्य, शिव शक्ति इत्यादि अपने सम्प्रदाय के विभिन्न तत्त्वों का परिचय दिया है वहां गुरु-महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि पर सूक्तियां लिखी गई हैं। “गम्भीर गुरु करना चाहिये, बिना गुरु के नहीं रहना चाहिये। हे भाई बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं होता। दूध के धोने से कोयला उजला नहीं होता और कौये के कण्ठ में पुष्प-माला डाल देने से वह हंस नहीं हो जाता।” इनके सम्प्रदाय में ६ आचार्य हुए हैं। इनमें से अधिकतर आचार्यों ने सूक्तियां लिखी हैं। सभी में गुरु-माहात्म्य, बाह्या-ढम्बर का परित्याग, संसार से विरक्ति इत्यादि विषय ही हुआ करते थे निर्गुण धारा के कवियों ने भी पर्याप्त मात्रा में सूक्तियां लिखी हैं। कबीर की साखियां इस विषय में प्रसिद्ध ही हैं। इन साखियों में गुरु का महत्त्व, स्मरण का महत्त्व, मन की शक्ति, प्रेम, चेतावनी इत्यादि विषयों पर सूक्तियां कही गई हैं। बाह्याढम्बर का परित्याग कर परमात्मा से प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। हिन्दू-मुसलमान दोनों के बाह्या-ढम्बरों का निर्भयतापूर्वक खंडन कर दोनों के लिए एक मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। सूक्तियों में वैचित्र्य तथा चमत्कार का सर्वत्र प्राधान्य है। अलंकारों का सर्वत्र प्रयोग किया गया है। बहुत से पद्य तथा साखी नीति-सूक्ति से संबन्ध रखती हैं और कहीं-कहीं पर स्त्री-निन्दा भी की गई है। इस प्रकार सूक्ति काव्य की दृष्टि से कवि की रचना सर्वांग पूर्ण है। निर्गुण पन्थ के दूसरे आचार्य हैं नानक। इन्होंने नाम, जप और गुरु-महिमा इत्यादि धार्मिक साधना के बीच में कुछ सूक्तियां भी लिखी हैं जिनमें तन-मन-धन से दूसरों की सेवा करने का उपदेश दिया गया है और सज्जनों

एवं असज्जनों के लक्षण भी लिखे हैं। धर्माधर्म का विचार रखना और चित्तवृत्ति को बुरी वासनाओं से बचाना ही इनके उपदेश का सार है। मलूकदास की सूक्तियां सर्वसाधारण में बहुत अधिक प्रचलित हो गई हैं। भगवद्-विश्वास के विषय में निम्नलिखित सूक्ति प्रायः लोगों की जिह्वा पर रहती है :—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।

वास मलूका कहि गये सबके दाता राम ॥

दादू ने लगभग ५००० पद्य लिखे हैं। इन्होंने धर्म के प्रायः सभी अंगों पर प्रकाश डाला है तथा आचार सम्बन्धी सूक्तियां भी लिखी हैं। इन्होंने गुरु-माहात्म्य तथा अन्तः साधना पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार दूसरे भी निर्गुण धारा के कवियों ने उन्हीं सामान्य विषयों पर सूक्तियां लिखी हैं।

अन्य क्षेत्रों की भांति सूक्ति के क्षेत्र में भी तुलसी का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इस दिशा में उनका प्रमुख ग्रंथ है दोहावली। इसमें नीति, भक्ति, नाम-माहात्म्य, तत्काल की परिस्थितियां इत्यादि के विषय में सूक्तियों का संकलन है। चातक के आदर्श प्रेम पर इसमें कई एक महत्वपूर्ण दोहे हैं। यह संग्रह-ग्रंथ है। इसमें तुलसी के कई ग्रंथों से दोहे उद्धृत किये गये हैं। दोहावली के अतिरिक्त राम सतसई और वैराग्य सन्दीपिनी भी सूक्तियों का संग्रह ही हैं। तुलसी ने अन्योक्ति और प्रत्यक्षोक्ति दोनों प्रकार की सूक्तियां लिखी हैं।

रहीम सूक्तियों के सम्राट् है। इन्होंने जीवन के उत्थान-पतन देखे थे। इन्हें जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव था और उसी को इन्होंने सीधी-सादी भाषा में व्यक्त किया है। इन सूक्तियों के पीछे इनका हृदयभांक रहा है। यही कारण है कि इनकी सूक्तियां सर्वजन-सम्बद्ध हैं और सर्वसाधारण में इनका अत्यधिक प्रचार है। भाषा पर इनका तुलसी जैसा अधिकार है। इनकी सूक्तियां इतनी महत्वपूर्ण हैं कि परवर्ती बड़े-बड़े कवियों ने भी भावों के लिये इनकी ओर हाथ पसारा है। इनकी दोहावली या सतसई सूक्ति-साहित्य का सिरमौर है।

अकबर के दूसरे दरबारी कवियों ने भी सूक्ति काव्य के क्षेत्र में अपना योगदान दिया है। राजा टोडरमल ने अपने अनुभव के कुछ छन्द लिखे थे [। दो-एक उदाहरण :—

जार को विचार कहा गणिका को लाज कहा,
गवहा को पान कहा अंधरे को आरसी।
निर्गुणी को गुण कहा दान कहा दरिद्र को,
सेवा कहा सूम को अरंड की सी डार सी ॥
मछपी को सुधि कहा सांघु कहा लंपटी को,
नीच को बचन कहा स्यार की पुकार सी।
दोडर] सुकवि ऐसे हठीले न टार्यो टरे,
भावे कहो सूधी बात भावे कहो फारसी ॥१॥

राजा वही जाको राज सराहिये काज उही जो उछाह सों कीजै ।
 धारा वही जो सदा रहे चंचल जोरा उही जो सुगन्धि सो भोजै ॥
 बात वही जो सदा निवहै कवि टोडर मानि यही सिख लीजै ।
 फौज उही जो रहे तैयार औ मौज उहीं सो मंगाय के दीजै ॥२॥

नरहरि ब्रह्म भट्ट ने भी बहुत से नीति के पद्य लिखे हैं, जिनमें अकबर बाद-शाह को सम्बोधित किया गया है। इनके दो मुक्तक संग्रह कहे जाते हैं—छप्पय नीति और कवित्तसंग्रह। इनके नीति के पद्य अनुभवजन्य हैं और उनसे अच्छे समाज के निर्माण की इनकी कामना अभिव्यक्त होती है। इनके कई पद्यों में ज्ञानी, धनी, पण्डित, वृद्ध इत्यादि को ठीक मार्ग पर लाने की चेष्टा की गई है।

ब्रह्म कवि या राजा वीरबल की भी नीति सूक्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने अनुभवों को सरल और सुबोध भाषा में व्यक्त किया है। कर्म की रेखा, संसार की गति, वैराग्य इत्यादि विषयों में इनकी सूक्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं। वैराग्य भाव के दो एक पद्य देखिये :—

पेट में पौढ़ि के पौढ़ि मही पर पालन पौढ़ि के बाल कहाये ।
 आई जब तरुनाई तिया संग सेज पै पौढ़ि के रंग मचाये ॥
 क्षीर समुद्र के पौढ़नहार को ब्रह्म कबों मन में नहीं ध्याये ।
 पौढ़त पौढ़त पौढ़त ही सु चित्ता पर पौढ़त के दिन आये ॥

चढ़ने का भी महत्त्व देखिये :—

गर्भ चढ़े पुनि सूप चढ़े पलना पै चढ़े चढ़े गोदघना के ।
 हाथी चढ़े पुनि अश्व चढ़े चढ़े जोग धना के ॥
 वैरी औ मित्र के चित्त चढ़े कवि ब्रह्म भने दिन बोले पना के ।
 इस कृपालु को जान्यो नहीं अब कांछें चले चढ़ि चारि जना के ॥

शृंगार रस के प्रसिद्ध कवि गंग की नीति-सूक्तियां भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने अपनी सूक्तियों में सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निन्दा, स्त्री प्रेम इत्यादि विषय रखे हैं। सारा काम स्वार्थवश ही किया जाता है इस बात को कवि ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है :—

गर्जहि अर्जुन हीज भये अरु गर्जहि गोविन्द धेनु चरावै ।
 गर्जहि द्रोपदी दासि भई अरु गर्जहि भीम रसोई पकावै ॥
 गर्ज बड़ी सब लोगनु में अरु गर्ज बिना कोई आवै न जावै ।
 गंग कहे सुनु साह अकब्बर गर्ज से बीबी गुलाम रिभावै ॥

इसी प्रकार “गंग कहै सुनु साह अकब्बर नारी की प्रीति अंगार ते भारी” तथा “चंचल नारि के नैन छिपे नहि प्रीति छिपे नहि पीठि दिखाये।” इत्यादि पद्य भी बहुत अधिक प्रचलित हैं।

अकबरी दरबार के कवियों में मनोहर कवि का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इनके नीति के दोहे प्रसिद्ध हैं। इनका कविता काल १७वीं शती का मध्य भाग है और जहांगीर ने इनकी प्रशंसा की है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) सुभाषित मुक्तक लिखने की परम्परा वैदिककाल से ही प्रारम्भ हो गई थी और साहित्य जगत् में निरन्तर प्रतिष्ठित रही।

(२) इस क्षेत्र में कविता स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलती रही। प्रारम्भ में कविता के द्वारा स्थूल रूप में इतिवृत्तात्मक उपदेश दिये जाते थे। बाद में इस क्षेत्र में आलंकारिकता और कलात्मकता बढ़ती गई। इस क्षेत्र में लाक्षणिकता और व्यञ्जनात्मकता का महत्व कम रहा है। अधिकतर अभिधावृत्ति ही अपनाई गई है।

(३) सामान्यतः सादृश्यमूलक अलंकारों में दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास अपनाये गये। वर्णन शैली को अधिक कलात्मकता प्रदान करने के उद्देश्य से कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक का भी समावेश दृष्टिगत होता है। दूसरे प्रकार के अलंकारों में दीपक, उल्लेख इत्यादि का भी समावेश पाया जाता है।

(४) लोकवृत्त का उपदेश देने के लिए एक नवीन शैली अपनाई गई थी। यह अन्योक्ति की शैली कहलाती है, जिस में वृक्ष, पशु-पक्षी इत्यादि प्राकृतिक तत्त्वों को लेकर उन्ही के विषय में कुछ ऐसी सूक्तियां कही जाती थीं कि उनसे किसी लौकिक वृत्त का स्वतः बोध हो जाता है और उनसे एक उपदेश भी प्राप्त हो जाता है।

(५) सूक्ति-काव्य के समस्त विषय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) धार्मिक सूक्ति, (२) आर्थिक सूक्ति और (३) कामसम्बन्धी सूक्ति।

(६) धार्मिक सूक्तियों में दो प्रकार की सूक्तियां सम्मिलित की जा सकती हैं एक तो वे सूक्तियां हैं, जो साम्प्रदायिक विचार-धारा के प्रचार के लिए लिखी गई थी और दूसरी वे सूक्तियां हैं जो सामान्य सदाचार का उपदेश देती हैं।

(७) धार्मिक सूक्तियों में वैराग्य भावना सर्वत्र प्रधान रही है और इनमें अधिकतर लोक के परित्याग का ही उपदेश दिया गया है। सामान्य रूप से हम इन सूक्तियों को वैराग्यपरक सूक्तियां भी कह सकते हैं। इसीलिए कई एक सूक्तिकारों ने अपनी सूक्तियों को वैराग्य की सूक्ति कहा है। सामान्यतः उपनिषत्काल से ही हिन्दू समाज में वैराग्य की भावना घर कर गई थी। यह भावना प्रायः समस्त धार्मिक सूक्ति-काव्यों में पाई जाती है चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय में क्यों न हों।

(८) वैराग्य भावना के अतिरिक्त दूसरी प्रकार की विचार धाराओं में सत्य, त्याग, अहिंसा, उदारता, इत्यादि धर्म के विभिन्न अंगों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु इनका महत्व लौकिक सफलता के प्रलोभन के द्वारा स्थापित किया गया है।

(६) इस युग के अन्तिम चरण में विशेष कर अपभ्रंश मुक्तकों में तीर्थटन, तीर्थव्रत इत्यादि बाह्याचारों का खण्डन प्रारम्भ हो गया था और एक ऐसी भूमिका प्रस्तुत की जाने की चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी जो अबाध रूप में सभी धर्म वालों को स्वीकार्य हो। सामान्य भूमिका के साथ-साथ यौगिकता तथा तान्त्रिकता का समावेश भी हो चला था और धर्म में रहस्य भावना घर करती जा रही थी। अक्षर-ज्ञान तथा शास्त्र-ज्ञान का खण्डन किया जा रहा था और समरसता तथा आत्मभाव-चिन्तन पर जोर दिया जाने लगा था।

(१०) आर्थिक सूक्तियों में लोक-वृत्त को अधिक महत्त्व दिया जाता था और ऐसे गुणों का विवेचन किया जाता था, जिससे लौकिक सफलता प्राप्त हो सके।

(११) कवियों ने आर्थिक सूक्तियों के लिखने में यथासम्भव धार्मिकता की उपेक्षा नहीं की है और सदाचार के द्वारा ही लौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है। किन्तु जहाँ पर धार्मिकता से निस्तार होता हुआ नहीं देखा गया वहाँ पर धर्म की उपेक्षा का भी उपदेश दिया गया है। आर्थिक क्षेत्र में व्यवहार की दशा में स्वार्थ साधन को ही महत्त्व दिया गया और “जैसे को तैसा” का सिद्धान्त अपनाया गया।

(१२) अनुभव का अभिधान और अन्योक्ति पद्धति ये दोनों ही पद्धतियाँ इस दिशा में समान रूप से अपनाई जाती रही हैं। किन्तु कलात्मक सौन्दर्य अन्योक्ति-पद्धति में विशेष रूप से लक्षित होता है।

(१३) काम-शास्त्रीय सूक्तियों में स्त्री-पुरुष के स्वभाव और प्रभाव का निरूपण किया गया है। इस विषय में स्त्रियों की प्रशंसा और निन्दा दोनों बातें पाई जाती हैं। वैराग्यपरक सूक्तियों में संसार की नश्वरता इत्यादि को लेकर विरक्ति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई और कामसम्बन्धी सूक्तियों में स्त्रियों के स्वभाव और उनके प्रेम की अस्थिरता इत्यादि को लेकर एक ओर उनके परित्याग का उपदेश दिया गया और दूसरी ओर उनकी प्रशंसा तथा सौन्दर्य वर्णन के द्वारा उनके उपभोग की ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा की गई।

सामान्यतया सूक्ति-मुक्तकों में यही विशेषतायें पाई जाती हैं।

प्रशस्ति-मुक्तक

भारतीय काव्य-कला और विशेष रूप से मुक्तक काव्य-कला का विकास राजाश्रय में हुआ है। कवि राजघरानों में रहते थे और अपनी रचनाओं द्वारा राजाओं तथा राजसभासदों का मनोरंजन किया करते थे। ये राजा लोग अधिकतर कला-प्रेमी होते थे और कवियों और कलाकारों को मुक्तहस्त से दान करना अपना कर्तव्य समझते थे। कभी-कभी बड़े-बड़े आयोजन किये जाते थे, जिनमें दूर-दूर से कविगण उपस्थित होकर अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत किया करते थे और उनके लिये पुष्कल पुरस्कार प्राप्त करते थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में राजा लोगों को कर्त्तव्य

का उपदेश देते हुए लिखा कि “राजा लोगों को कवि-सभाओं का आयोजन करना चाहिये क्योंकि यदि राजा कवि या कवित्व प्रेमी होता है तो सारा लोक कवि हो जाता है राजा को चाहिये कि दान और मान में वासुदेव, शातवाहन, शूद्रक, साहसांक इत्यादि नृपतियों का अनुकरण करें। क्योंकि पुरुष-रत्नों का राजा एक मात्र महासागर के समान भाजन होता है।” सम्भवतः राजा लोगों के आश्रय में रहने वाले और राजा लोगों से वृत्ति पाने वाले राजाओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा को ही अपनी रचना का विषय बनाया करते थे। इन रचनाओं के द्वारा उच्चकोटि की कल्पना-शक्ति और आलंकारिकता का प्रस्फुटन होता है। सर्वत्र अत्युक्ति का साम्राज्य और चमत्कार ही इनमें प्रधान रूप से उपास्य है। कुछ रचनायें भाव-ध्वनि का अनूठा उदाहरण हैं किन्तु अधिकतर कविताएं कौशल-प्रदर्शन के लोभ से ही लिखी गई हैं। इन कविताओं में न तो हृदय तत्व सन्निहित है और न कवि की अन्तरात्मा के ही। इनमें दर्शन होते हैं। झूठी खुशामद से भरी हुई होने के कारण इन रचनाओं में न तो स्थायित्व है और न लोकोपकार की क्षमता है। यही कारण है कि पूर्ण परम्परा के प्रतिष्ठित होते हुए भी ये रचनायें अधिकतर काल-कवलित हो गई और प्रायः नाम-शेष भी नहीं रहीं। यदि कुछ रचनायें शेष रह सकी हैं तो या तो अपनी कल्पना-सम्पत्ति के बल पर या चामत्कारिकता के कारण। इस प्रकार का साहित्य हमें स्वल्पतम मात्रा में अधिगत होता है किन्तु फिर भी कहीं-कहीं उच्चकोटि के पद्य प्राप्त हो जाते हैं और जन-समाज में उनकी पर्याप्त प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार की रचनाओं को वर्णनीय विषय की दृष्टि से सुविधापूर्वक तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, (१) दानशीलता का वर्णन, (२) सौन्दर्य-वर्णन और (३) युद्धवीरता का वर्णन। दानशीलता के वर्णन में कवियों की तथा दूसरे पात्रों की दरिद्रता का वर्णन भी सन्निविष्ट है। इसी प्रकार सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में अंगनाओं के आकर्षण का भी वर्णन किया गया है। युद्धवीरता के वर्णन में क्षिप्रकारिता, शत्रुओं से वंषम्य, शत्रुओं की शरणागति, शत्रुओं का भय, शत्रुओं की स्त्रियों की दुर्दशा इत्यादि का वर्णन भी सम्मिलित है। कहीं-कहीं दयावीरता और धर्मवीरता के वर्णन की छाप भी पाई जाती है। किन्तु इन विषयों का वर्णन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है और उन वर्णनों में भी या तो दानशीलता की प्रधानता हो गई है या युद्धवीरता की, अतः इन दोनों को पृथक् स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता। प्रशस्ति काव्य की सत्ता हमें प्राचीनतम भारतीय साहित्य में अधिगत होती है। स्वयं ऋग्वेद में अनेक दानशील राजाओं का वर्णन है।

इस प्रकार के अनेक सूक्त ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इन सूक्तों में परवर्ती राजघराने के कवियों के समान ही यजमानों का अतिरंजित वर्णन किया गया है। कक्षोवान् ऋषि का सिन्धु प्रदेश के शासक भाव्य के दान की प्रशंसा का सूक्त इसी बात को प्रकट करता है। राजा के सहस्र सोम यागों में पुरोहित बनाने की सो मुद्रा,

सो अश्व, सो गायें इत्यादि देने की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार इसी सूक्त में स्वनय के द्वारा इयाम अश्व और वधुओं (सम्भवतः दासियों) सहित १० रथ और ६० हजार गायों के देने की बात कही गई है। अष्टम मंडल में कुरंगक राजा की दानशीलता की प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार के और भी अनेक दानों का वर्णन किया गया है। ये मन्त्र साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं कहे जा सकते। किन्तु दान स्तुतियों में भिक्षु नामक अंगिरस ऋषि का बनाया हुआ सामान्य दान की प्रशंसा परक सूक्त निस्सन्देह उच्चकोटि का है। देवताओं ने भूख को मनुष्य के मारने के लिये नहीं बनाया क्योंकि परिपूर्ण भोजन किये हुए व्यक्ति को प्रायः मृत्यु प्राप्त हो जाती है। दाता का धन सर्वदा समाप्त ही नहीं हो जाता किन्तु कृपण को कभी कोई सुखदायक नहीं मिलता। सूक्त के अग्रिम भाग में भी इसी बात पर बल दिया गया है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उदार बनना चाहिये। इसी प्रसंग में धन की अस्थिरता भी बतलाई गई है और जो एकाकी भोग करता है उसको पापी तथा मूर्ख कहा गया है। इस प्रकार दान सूक्तों में एक ओर दानियों की प्रशंसा और दूसरी ओर दान की महिमा इन दोनों बातों का समावेश प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के इस प्रशस्ति-काव्य में हमें राजा लोगों की दानशीलता के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वर्णन प्राप्त नहीं होते। न तो इनमें राजा लोगों की युद्ध-वीरता का ही वर्णन किया गया है और न सौन्दर्य का ही। यद्यपि ऋग्वेद में युद्धवीर की प्रधानता है तथापि शौर्य और वीरता का अतिरञ्जित वर्णन देवताओं के सम्बन्ध में किया गया है मानव के सम्बन्ध में नहीं। जहाँ कहीं मानव विजय का वर्णन भी है वहाँ भी उसका श्रेय मानव को नहीं अपितु देवता को ही प्रदान किया गया है। उदाहरण के लिये सप्तम मंडल में सुदास की १० संगठित राजाओं पर विजय का श्रेय वरुण को प्रदान किया गया है। इसका एक बहुत बड़ा परिणाम यह होता है कि राजा लोग अवलेप में पड़ने से बच जाते हैं और वे अपनी विजय को देवता का प्रसादमात्र मानकर उसका उपभोग करते हैं तथा पशुवल और भौतिक साधन-सम्पत्ति पर ज्ञान और पांडित्य को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है, क्षत्रिय जाति का प्राधान्य न होकर याजक ब्राह्मणों को ही महत्ता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार ऋषियों ने सौन्दर्य का आश्रय प्रकृति को चुना है और प्रकृति के प्रसंग में ही सौन्दर्य का उच्चकोटि का वर्णन किया गया है। इससे भी अवलेप तथा सौन्दर्याभिमान से उत्पन्न होने वाले दूसरे दोषों का निराकरण हो जाता है।

राजा लोगों की दानशीलता का वर्णन प्रायः ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध और जैन साहित्य में सर्वत्र प्राप्त होता है। किन्तु यह सब वर्णन कल्पना और अलंकार से रहित इतिवृत्तात्मक ही है जो कि काव्य पदवी पर आरूढ़ नहीं हो सकता। कालिदास इत्यादि महाकवियों के काव्य में राजा लोगों की दानशीलता, वीरता और सौन्दर्य

का वर्णन मिलता है और सुकोमल तथा सुमधुर काव्य तत्व से परिपूर्ण भी है रघुवंश में स्वयंबर के प्रसंग में तत्कालीन अनेक राजाओं का वर्णन किया गया है । तथापि प्रबन्धान्तःपाती होने के कारण हम उसे मुक्तक काव्य की सीमा में सन्निविष्ट नहीं कर सकते । इसी प्रकार कहीं-कहीं किसी पुस्तक के उपक्रम या उपसंहार में किसी राजा के वर्णन में एकाध पद्य व्यय कर दिया गया है वह भी प्रशस्ति-मुक्तक की सीमा में नहीं आता ।

प्रशस्ति-मुक्तक का अत्यन्त उच्चकोटि का संग्रह हर्षे भोज प्रबन्ध में अधिगत होता है । इसमें भोज की दानशीलता का वर्णन है ही, प्रताप-शौर्य इत्यादि दूसरे गुणों का भी वर्णन किया गया है । प्रत्येक पद्य के साथ एक कथा जोड़ दी गई है जिसमें भोज का काव्यानुराग व्यक्त किया गया है । सर्वत्र अत्युक्ति का ही साम्राज्य है । यदि कहीं उत्प्रेक्षा इत्यादि दूसरे अलंकारों का उपादान भी किया गया है तो वह भी अत्युक्तिमूलक ही है । “अपने हाथियों को भी दान करते हुए राजा-भोज को देखकर श्री पार्वती जी हाथी के समान मुख वाले अपने पुत्र की बार-बार रक्षा करती हैं कि कहीं हाथी समझ कर मेरा पुत्र भी दान न कर दिया जावे ।” इसी प्रकार— “भोज के प्रताप का निर्माण कर ब्रह्मा के द्वारा फेंके हुए शेष परमाणुओं से इन्द्र के हाथ में वज्र, आकाश में सूर्य और महा सागर के मध्य में वडवाग्नि बन गई ।” इसी प्रकार की दूसरी कल्पनाओं की इन पद्यों में भरमार है । ये पद्य अपने काव्य-सौंदर्य के कारण विद्वन्मंडली का कण्ठहार हो गये हैं ।

प्रशस्ति-मुक्तक की दूसरी पुस्तक “राजेन्द्र कर्णपूर” है । इस पुस्तक के १२वें श्लोक में हर्षदेव का और २२वें में काश्मीर का नाम आता है । इससे ज्ञात होता है कि यह पुस्तक काश्मीर के कवि श्री शम्भु के द्वारा काश्मीराधिपति महाराज हर्षदेव के समय में लिखी गई है । श्री हर्षदेव का समय १०८२ मे ११०० ई० तक का है । श्री-कंठ चरित में शम्भु महाकवि का नाम आया है और सुभाषितावली में राजेन्द्र कर्ण-पूर के अनेक पद्य पाये जाते हैं । इस पुस्तक में काश्मीराधिपति हर्षदेव के यश का अत्युक्तिमय कलापूर्ण वर्णन किया गया है । ‘जिस के श्वेत प्रकाश से समस्त पर्वत कैलाश हो जाते हैं, सभी सर्प शेष नाग हो जाते हैं, सभी समुद्र क्षीर सागर हो जाते हैं, सभी हाथी ऐरावत बन जाते हैं और सभी कोकिलायें हंस बन जाती हैं । कान्ति में, काव्य रति में, मति में, शत्रुनाश में, कीर्ति में न कोई इन महाराज के समान हुआ है और न होगा ।’ ब्रह्मा जी ने इन महाराज का निर्माण ही कुछ विशेषरूप में किया है— “अभिमनियों के अभिमान को शान्त करने के लिये, संसार को जीतने के लिये, याचकों को सम्पत्ति प्रदान करने के लिये, सज्जनों के संमान के लिये, महान् लोगों के उपकार के लिये और राजाओं को संताप देने के लिये उल्लास के साथ, कीर्तु-हल के साथ, ध्यान को शान्त करके, स्वाध्याय को दूर कर और सब तपस्याओं को समाप्त कर ब्रह्मा जी ने तुम्हारी रचना का ।”

राजा के सौन्दर्य का वर्णन भी बड़े विस्तार के साथ किया गया है, जिसके स्फुरण मात्र से ही ललनाओं की मति, स्मृति, धृति, शान्ति सभी कुछ जाता रहता है। केवल सौंदर्य ही नहीं पराक्रम के सामने भी सभी शत्रु भागने लगते हैं। जिस प्रकार स्त्रियों का मानभंग और आकर्षण दिखलाया गया है उसी प्रकार प्रति-पक्षियों का पलायन भी दिखलाया गया है। श्लोकों में चमत्कार और कल्पना की प्रधानता है, कोई पद्य चमत्कारशून्य नहीं है। इस विषय की दूसरी पुस्तक न्याय वाचस्पति श्री रुद्र कवि-कृत भाव विलास है। इसमें १३६ पद्य हैं। ग्रंथ से स्पष्ट है कि यह जयपुर के महाराज भावसिंह के दरबारी कवि थे। भावसिंह का समय ईसा की १७वीं शती का प्रारम्भ है क्योंकि भावसिंह के पिता महाराज मानसिंह जलालुद्दीन अकबर बादशाह के समय में हुए थे। ग्रंथ के प्रारम्भ में मानसिंह के पिता भगवानदास का एक श्लोक में वर्णन है। इसके बाद दो पद्यों में मानसिंह के प्रताप का वर्णन आता है। फिर पद्य ४ से १७ तक भावसिंह की वीरता, उदारता, सुन्दरता, दानशीलता इत्यादि गुणों का वर्णन किया गया है। फिर कुछ नीति-सूक्तियाँ और अन्योक्तियाँ आती हैं। ग्रंथकार ने लिखा है कि यह ग्रंथ भावसिंह की आज्ञा से बनाया गया था। महाराज भावसिंह के यश के विषय में कवि कहता है—

“महाराज भावसिंह के गन्ध-गजों की मद-धारा से संग्राम-भूमि पंकपूर्ण होकर उर्वरा हो गई। उसमें शत्रुओं के हाथियों के मस्तकों से गजमुक्ता निकाल कर महाराज भावसिंह ने बो दिये। उसा से जो यश रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ उसी की नक्षत्रों के रूप में ये कलियाँ दृष्टिगत होती हैं। वे कलियाँ पूर्ण चन्द्र के रूप में एक-एक कर खिला करती हैं।”

इसी प्रकार दान की प्रशंसा देखिए—

“बहुत बड़े दानी महाराजा भावसिंह के दान करने की इच्छा करने पर दान कर दिए जाने के भय से रत्न तो समुद्र में जा छुपे, सुमेरु पर्वत देवताओं की शरण में चला गया, भगवती कमला देवी को अपनी गोद में लेकर भगवान् विष्णु समुद्र में जाकर सो गए और ब्रह्मा जी ने भी अपने हाथ से लिखा हुई मनुष्यों के भाग्य की दुर्लिपि का परिमार्जन करने के लिए लज्जित होकर अपने हाथ में कमण्डलु धारण कर लिया।”

पंडितराज जगन्नाथ के भी प्रशस्ति-मुक्तकपरक कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें प्राणाभरण और आसफ-विलास ये दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त दारा शिकोह के विषय में भी कतिपय पद्य पाए जाते हैं। प्राणाभरण में कामरूपेश्वर प्राण नारायण का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ पंडितराज की प्रतिभा के अनुकूल ही है। इन ग्रन्थों में प्रशस्ति काव्य की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। यही संस्कृत के प्रशस्ति-मुक्तकों का संक्षिप्त परिचय है।

हिन्दी - प्रशस्ति मुक्तक

संस्कृत के समान हिन्दी में भी प्रशस्तियों के लिखने की परम्परा विद्यमान रही। किन्तु हिन्दी काव्य का विकास महात्माओं और धर्म-साधकों के द्वारा हुआ। ये महात्मा आत्माराम, स्वच्छन्दचारी व्यक्ति थे। भगवद्भक्ति ही इनकी प्रधान साधना थी। न ये राजाओं को जानते थे और न बादशाहों को। अतएव इन महात्माओं के काव्यों में प्रशस्ति की आशा करना दुराशामात्र है। दूसरी बात यह है कि प्रशस्तियों में हृदयतत्त्व विद्यमान नहीं रहता। केवल उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार का महत्व होता है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास पतन-युग का इतिहास है। जो राजा लोग परमुखापेक्षी थे, जिनके देखते-देखते हिन्दू जाति का गौरव और मान-मर्यादा धूलिसात् हो गई थी उनकी अतिरञ्जित प्रशंसा केवल निन्दा की ही अभिव्यञ्जक होती। अतएव इस प्रकार का काव्य या तो लिखा ही बहुत कम गया या असत्यता का प्रतिभास होने के कारण काल-कबलित हो गया। इस प्रकार का जो साहित्य हमें समुपलब्ध हुआ, वह परिमाण में बहुत कम है।

संस्कृत के समान अपभ्रंश भाषा में भी कुछ प्रशस्तियां लिखी जाती रहीं और उनकी परम्परा डिंगल साहित्य में भी बनी रही। किन्तु ये प्रशस्तियां प्रबन्धात्मक हैं, इन्हें हम मुक्तक की कोटि में सन्निविष्ट नहीं कर सकते। जैनाचार्य मेरुतुंग की लिखी हुई प्रबन्ध चिन्तामणि भोज प्रबन्ध के ढंग का ग्रंथ है। इसमें कई पुराने राजाओं का वर्णन किया गया है। आख्यानों के बीच में अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के पद्य भी रखे गये हैं। इसमें वीर रस के साथ शृंगार रस के भी सुन्दर चित्र विद्यमान हैं। विद्याधर नाम के किसी कवि की कविता के कुछ नमूने प्राकृत पिंगल-सूत्र में मिलते हैं। इनमें कन्नौज के किसी राठौर सामन्त की वीरता का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य शार्ङ्गधर लिखित शार्ङ्गधर-पद्धति में सुभाषित संग्रहों के साथ कुछ प्रशंसात्मक मुक्तक भी दिये हुए हैं। इनका लिखा हुआ हम्मीर रासो भी प्रसिद्ध है। उसके कुछ पद्य प्राकृत पिंगल-सूत्र में मिलते हैं।

वीर गाथा काल में अधिकतर प्रशस्तियां ही लिखी गईं। किन्तु ये प्रशस्तियां प्रबन्धात्मक हैं। बीसलदेव रासो यद्यपि गीति-काव्य है तथापि इसमें प्रबन्धात्मकता आ गई है। अतएव ये ग्रंथ प्रस्तुत निबन्ध के विषय से बाह्य हैं।

करणेश बन्दीजन के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—करणाभरण, श्रुतिभूषण और भूप-भूषण। ये ग्रंथ मिलते नहीं हैं। नाम से प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों में अलंकार का विवेचन किया गया होगा और उदाहरण के लिये किसी राजा की प्रशंसा में पद्य लिखे गये होंगे। दुरसाजी ने एक बार गुदौच तक की यात्रा में अकबर का मार्ग प्रबन्ध किया था जिससे ये अकबर के सम्पर्क में आ गये। इन्होंने विरुद-छहत्तरी में अकबर के लिये मीठी चुटकियां ली हैं कि :—

अकबर समद अयाह तिहं डूबा हिन्दू तुरक।

मेवाड़ो तिहं मांह पोयण फूल प्रताप सो॥

(अकबर अथाह समुद्र है जिसमें हिन्दू तुर्क सब डूब गये । मेवाड़ उसमें कमल समान और प्रतापसिंह कमल के फूल के समान हैं जो कि अकबर-रूपी समुद्र के ऊपर ही बने रहे)

होलराय ब्रह्मभट्ट हरिवंश राय के आश्रय में थे । किन्तु अकबर के यहां आते-जाते थे । इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता केवल कुछ फुटकर पद्य ही इतिहास ग्रंथ में उद्धृत किये गये हैं । निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य इन्हीं का कहा जाता है :—

दिल्ली ते न तख्त ह्वै बहत न मुगल कंसो ह्वै न नगर बढ़ि आगरा नगर तें ।
गंग ते न गुनी तानसेन ते न तानवाज मान ते राजा औ न दाता बीरबर तें ॥
खानखाना ते न नर नरहरि ते न ह्वै न दीवान कोऊ नेडर दुडर तें ।
नवौ खंड सात द्वीप सात हू समुद्र पार ह्वै न जलालुद्दीन साह अकबर तें ॥

कहा जाता है कि व्यास कवि नित्य अकबर को आशीर्वाद देते थे और प्रशस्ति के पद्य सुनाया करते थे । पर इनका कोई पद्य प्रसिद्ध नहीं है । राजा पृथ्वी-राज अकबर के दरबारी थे । इनमें स्वदेशाभिमान अत्यधिक मात्रा में था । इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं । इनके कई पद्य महाराणा प्रताप की प्रशस्ति के विषय में प्रसिद्ध हैं । गंग कवि अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवियों में हैं । अनेक विषयों के साथ इनकी प्रशस्तियां भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । इन्होंने खानखाना की वीरता का वर्णन किया है जिसकी शब्दावली और भाव दोनों से वीर रस टपकता सा है । एक-दो उदाहरण लीजिए :—

प्रबल प्रताप बली बैरम के खानखाना तेरी धाक दीपति दिसान दहबहकी ।
कहै कवि गंग तहां भारी सुरवीरन के उमड़ी अखण्ड बल प्रलयपौन लहकी ॥
मच्यो घमासान तहां तोष तीर बान चक्रेमंडि बलवान किरवान कोपि गहकी ।
तुण्ड काटि मुण्ड काटि जोतन जिरह काटि नीमा जामा जीन काटि जमी आनि ठहकी ॥
इसी प्रकार:—

धमक निसान सुनि घमक तुरान चित्त चमक तुरान मुलतान थहराना जू ।
मारु मरदान कामरूप के कश्वान आदि मेवार के दान हिन्दवान आन माना जू ।
पूरव भगान पछमाव परलान उतराध गुजरात अरु दच्छिन दबाना जू ।
औरवान हवसान हेदलान सम साम खैल भैल खुरासान चढ़े खानखाना जू ॥
खानखाना की सुन्दरता का वर्णन:—

गंगागौछ मौछे जमुन अधरन सरसुति रागु ।

प्रगट खानखानान के कामद बदन प्रयागु ॥

प्रसिद्ध आचार्य केशव ने भी जहांगीर के विषय में कुछ प्रशंसात्मक पद्य लिखे हैं । उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:—

१—राज दरबारों में कविता को आश्रय मिलने के कारण प्रशस्ति-काव्य की परम्परा निरन्तर बनी रही ।

२—प्रशस्तियों में हृदयतत्त्व का अभाव होता है। इसमें झूठी खुशामद की ही प्रधानता होती है। अतएव परिमाण में अधिक होते हुए भी ये सुरक्षित न रह सकीं।

३—प्रशस्तियों में तीन तत्त्व प्रधान होते हैं—वीरता का वर्णन, दान-शीलता का वर्णन और सुन्दरता का वर्णन।

४—प्रशस्तियों में अत्युक्ति की ही प्रधानता होती है।

५—प्रशस्ति काव्य का महत्त्व उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार में है। इसमें अलंकारों का प्रयोग-सौन्दर्य ही काव्य का प्रवृत्ति-निमित्त होता है।

६—प्रशस्ति काव्य मध्यम काव्य की ही कोटि में आते हैं। इनमें वर्णित भाव सर्वदा कविगत राजविषयक रति का अंग होकर गौण रूप धारण कर लेते हैं।

मुक्तक काव्य परम्परा का यही संक्षिप्त परिचय है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक में काव्याभिव्यक्ति विशेष मात्रा में होता है और महान् कवि भी सर्वप्रथम रचना का प्रारम्भ मुक्तक से ही करते हैं। अतः मुक्तक काव्य-जगत् का अपरिसीमित विस्तार है और कविगण निरन्तर ही मुक्तक की अनेक दिशाओं में योगदान देते रहे हैं। इन मुक्तकों में संकलन की ओर भी विद्वानों की अभिरुचि रही है और समय-समय पर इस प्रकार के संकलन प्रकाशित होते रहे हैं। अनेक कवि इन संकलनों में ही जीवित रह सके हैं और अनेक कवियों को ये संकलन भी जीवित न रख सके, केवल उनकी कवितायें ही काव्य परिशीलकों को अधिगत हो सकती हैं।

सर्वप्राचीन मुक्तक संकलन ऋग्वेद है इसमें अनेक कवियों (ऋषियों) की रचनायें सुरक्षित हैं। ऋग्वेद के काव्यात्मक अंशों के समस्त विषय को सुविधापूर्वक ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है—रसात्मक-मुक्तक, धार्मिक-मुक्तक, सूक्ति-मुक्तक, प्रशस्ति-मुक्तक और चित्र-मुक्तक चित्र-मुक्तक परवर्ती आचार्यों द्वारा कला के क्षेत्र से बाह्य कर दिये गये। शेष चार प्रकार के मुक्तक काव्य-जगत् में सर्वदा अपना अक्षुण्ण अधिकार बनाये रहे। रसात्मक-मुक्तक-परम्परा को सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर तीन कालों में विभाजित किया गया है—प्रकृति-काल, प्राकृत-काल और भक्ति-काल। यदि समस्त रसात्मक मुक्तक-काव्य-राशि पर विचार किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि बिहारी को रसात्मक मुक्तक की दिशा में चार प्रकार की रचनायें अधिगत हुई थी—(१) जयदेव इत्यादि कवियों द्वारा प्रचालित कृष्ण का सामान्य-नायक-परक चित्रण। (२) सूर इत्यादि कवियों की जयदेव इत्यादि का अनुसरण करते हुए भी कृष्ण की विशिष्ट लीला-गान की पद्धति। (३) हाल इत्यादि कवियों की सामान्य नायक-नायिका चित्रणपरक कवितायें, जिनमें काल्पनिक नायक-नायिकाओं के किसी खण्ड-चित्र का उपादान होता था और जिनकी योजना हम कहीं भी लोक-वृत्त में कर सकते हैं। (४) वैदिक-काल की प्रकृति-चित्रण-पद्धति, जिसके

बिहारी के समय तक आते-आते अनेक रूप हो गये थे। इसी प्रकार धार्मिक काव्य की यास्क-प्रतिपादित त्रिरूपता निरन्तर अपना अधिकार स्थापित किये रही। इसके अनुसार धार्मिक काव्यों में आराध्यों की महत्ता, उनसे कुछ अभीष्ट लिप्सा और सिद्धान्त-ख्यापन ये तीन तत्त्व धार्मिक कविता में प्रतिष्ठित रहे और समस्त धार्मिक-मुक्तक-काव्य को इन्हीं तीन उपभेदों में विभाजित किया जा सकता है। तीसरे प्रकार की मुक्तक प्रवृत्ति सूक्ति काव्यात्मक कही जा सकती है। इसमें तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जिनके आधार पर इन सूक्तियों को तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है—धार्मिक-सूक्ति, आर्थिक-सूक्ति और काम-संबन्धी सूक्ति। चौथे प्रकार की मुक्तक-प्रवृत्ति प्रशस्ति-संबन्धिनी होती है। इसमें हृदय-तत्त्व सन्निहित न होने के कारण भावना की प्रगाढता नहीं होती केवल कलात्मक सौन्दर्य ही यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार की रचनायें परिमाण में अत्यल्प मात्रा में सुरक्षित रह सकी हैं। इनको भी हम तीन विधाओं में विभाजित कर सकते हैं—शौर्य-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन और दानशीलता का प्रख्यापन। वस्तु की दृष्टि से मुक्तक-काव्य परम्परा को हम इन्हीं विधाओं में विभक्त कर सकते हैं। आगे चलकर (द्वितीय-भाग के ५वें अध्याय में) हम बिहारी में इसी वर्गीकरण के आधार पर मुक्तक-प्रवृत्ति का प्रतिफलन देखने की चेष्टा करेंगे।

